* श्रीः *

(२) यज्ञविज्ञान विभागे—(३) यज्ञविज्ञान पद्धतौ—

यज्ञसरस्वती

विद्यावाचस्पतिः श्रीमान् महार्घ्य मधुसूदनः ।
अग्निग्रन्थं व्यधत्तेन प्रीयतां यज्ञपूरुषः ॥

समीक्षाचक्रवर्त्ती, विद्यावाचस्पति, महामहोपदेशक,
विद्वद्वर स्व० पण्डित श्रीमधुसूदनशर्म मैथिल विरचिता।
तत् सूनुना पं० श्रीप्रद्युम्नशर्म्मणा संपादिता ।

सेयं
श्रीमान धर्मरक्षक, न्यायपरायण, वीराग्रगण्य, रघुकुलभूषण, नरुवंशावतंस,
राजराजेश्वर, अलवरेन्द्र-महाराजाधिराज लेफिनेन्ट कर्नल सर
सवाई श्री १०८ श्री तेजसिंहजी बहादुर
के. सी. एस्. आई.
साहाय्येन
मुद्रापयित्वा प्रकाशिता

प्रथमावृत्तिः ५०० | वि० सम्वत् २००३ | मूल्यम् ६



श्रीमान अलवरेन्द्र महाराज लैफ्टिनेन्ट कर्नल

श्री १०८ श्री सर सवाई तेजसिंहजी बहादुर

के० सी० एस० आई०

॥ श्रीः ॥

भूमिका



यह यज्ञविज्ञान विभाग की यज्ञविज्ञान पद्धति का प्रथम **यज्ञसरस्वती** नामक ग्रन्थ पूज्य पिताजी ने बड़े परिश्रम से याज्ञिक विषयों पर लिखा है।

इस सन्दर्भ के दो भाग हैं—प्रथम **सोमकाण्ड** इष्टि से लेकर राजसूययज्ञ तक के यज्ञों की पद्धति सरल रीति से बताई गई है और कर्मों मे आये हुए मन्त्रों की व्याख्या भी दी गई है।

शुक्ल यजुःसंहिता मे मन्त्रों का वही क्रम है जिस क्रमसे कि उनका यज्ञों में प्रयोग होता है। अतः इस ग्रन्थ को एक प्रकार से शुक्ल यजुःसंहिता का भाष्य कहा जा सकता है।

द्वितीय **अग्निचयन काण्ड** में चयन विद्या और उसकी पद्धति एवं चितियों का निर्माण सादा तथा रङ्गीन नकशों सहित बड़ी सुन्दरता से बताया गया है।

बहुतसे कर्मकाण्ड के उच्चकोटि के विद्वानों का ऐसा कुछ विश्वास था कि पूज्य पिताजी वेद के कुछ मन्त्रों से इधर उधर के विज्ञान ही निकाला करते थे, वेद के मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ में उनका वैसा प्रखर पाण्डित्य नहीं था सो आशा है कि उन महानुभावों को यह ग्रन्थ देखकर विचार अवश्य बदलने होंगे क्योंकि यह ग्रन्थ कर्मकाण्ड के अन्तरङ्ग विषयों का विस्तारसे प्रतिपादक है। आशा है याज्ञिक विषयों में रुचि रखनेवाला विद्वत् समाज इससे पूर्ण लाभान्वित होगा।

ऊपर कहे हुए दो काण्डों के अतिरिक्त तृतीय **खिलकाण्ड** और चतुर्थ **ऊपरिकाण्ड** लिखने का पूज्य पिताजी का विचार था जिससे कि यजुर्वेद संहिता का पूरा भाष्य होजाता परन्तु अत्यन्त खेदका विषय है कि दैवदुर्योग से इन दोनों काण्डों के प्रारम्भ करने से पूर्व ही वे इस असार संसार को छोड़ गये। केवल उन दोनों काण्डों की संक्षिप्त सूची उनने लिख दी थी जिसको विषय सूची के साथ मुद्रित करदी गई है।

यद्यपि वेद संहिताओं के मन्त्र स्वर सहित लिखने का ही शिष्ट संप्रदाय है किन्तु यहां के यन्त्रालयों में स्वर लगाने की सुविधा न होने से विवश बिना स्वर के ही मन्त्र छपाने पड़े हैं। प्रकृतग्रन्थ कर्मकाण्डोपयोगी है और यज्ञोंमें स्वर का उपयोग प्रायः नहीं होता इसलिये बिना स्वर के छपने में भी कोई विशेष त्रुटि नहीं समझी जायगी।

इस पुस्तक के शोधन में यथा शक्ति प्रयास किया गया है और एक शुद्धिपत्र ग्रन्थके अन्त में लगा दिया गया है फिर भी प्रेसके कर्मचारी इधर ऐसे पटु नहीं मिलते इसलिये मुद्रण शुद्धि बहुत कुछ रह जाना सम्भव है। आशा है अभिज्ञ विद्वान् स्वयं शोधन करलेने की उदारता करेंगे।

इस ग्रन्थके प्रकाशन का सर्वश्रेय श्रीमान् अलवरेन्द्र महाराज को ही है। उनही की कृपापूर्ण सहायता का फल है कि यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर तैयार होकर विद्वत् समाज के सम्मुख रक्खा गया है।

श्रीमान् अलवरेन्द्र महाराज श्री १०८ श्री सवाई तेजसिंहजीबहादुर– पक्के सनातनधर्मावलम्बी साथ ही बहुत विशेष विद्यानुरागी भी हैं। श्रीमान् प्रायः नित्य ही कुछ समय देवाराधन तथा शास्त्रीय गूढ़ तत्त्वावधान में लगाते हैं। श्रीमान मे अलौकक गुण तो यह है कि इस युग में इस युवावस्था और इतने बड़े ऐश्वर्य एवं प्रभुत्व होते हुए भी किसी प्रकार का व्यसन नहीं है। खास कर जिस प्रकार क्षत्रियों में मद्य तथा धूम्रपान थोड़ा या बहुत एक सामान्य और स्वाभाविक हुआ करता है उससे भी आपको एक प्रकार घृणासी है, यहां तक कि आपकी यह कड़ी आज्ञा है कि अपने परिकर (Personal staff) में कोई भी मद्यपी नहीं रक्खा जाय। श्रीमान् का एक नारी ब्रह्मचारी का दृढ़ सकल्प भी सराहनीय है। महाराज का रहन सहन आदि सब कुछ बहुत सादगी का है, मिलनसारी तो इतनी बढ़ी हुई है कि आप तक पहुँचने के लिए गरीब प्रजा को भी किसी प्रकार की हील हुज्जत में नहीं जाना पड़ता है। सबसे बड़े प्रेम से मिलते हैं और यथा योग्य समुचित वर्ताव करते हैं। आपका हृदय सर्वदा दयार्द्र रहता है।

यह अवश्य स्मरण रहै कि जैसा प्रायः श्रीमानों के लिये प्रशंसा के रूपमें ऐसी बातें कही या जाया करती हैं वह बात यहां नहीं है, जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य हैं अतः यथार्थ सब अलौकिक गुणोंसे विभूषित श्रीमान् इस युग के एक आदर्शनृपति हैं और यह आदि से दत्त श्रीमान् में स्वाभाविक अद्भुत विलक्षणता है। इत्यादि आपके सद्गुणों का यदि पूर्णरीत्या लिखा जाय तो वह भी एक अलग ग्रन्थ तैयार हो सकता है। यह तो संक्षेप में कुछ दिग्दर्शन करादिया गया है।

श्रीमान् की पूज्य पिताजी पर पूर्ण भक्ति और श्रद्धा थी। आपने यज्ञोपवीत में उनसे ही गुरु दीक्षा ली थी। राज्याधिकार प्राप्ति के अनन्तर ही आपने स सम्मान उन्हें अलवर बुलाकर राजगुरु पदोचित प्रतिष्ठा सादर अर्पण की। उनके ग्रन्थों के विषय से भी आप पूर्ण परिचित हैं और इन ग्रन्थों का शीघ्र प्रकाशन हो इसके लिये पूर्ण उत्साह रखते हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन तो श्रीमान् की सहायता से हो ही चुका है आगे भी आपसे बहुत कुछ भरोसा है।

इन पंक्तियों के लेखक पर तो श्रीमान् की बड़ी सहानुभूति रहती है, सतत अपने स्मरण में रखने की अनुकम्पा किया करते हैं श्रीमान् की जैसी असीम कृपा है उसके लिये यह जन इतना कृतज्ञ है कि उस कृतज्ञता के प्रकाशन के लिये शब्द नहीं है।

जगन्नियन्ता जगदीश्वर से यही हार्दिक प्रार्थना है कि ऐसे सनातनधर्म प्रतिपालक आदर्शनृपति को सकुटुम्ब चिरायु करें इनका प्रताप, ऐश्वर्य और यश दिन दिन बढ़कर दिगन्त व्यापी हो ॥ शुभम् ॥

जयपुर सिटी
१–९–४६

प्रद्युम्नशर्म्मा ओझा।



वेदविद्यासमुद्धारकस्वर्गीयपण्डितमधुसूदनशर्म्ममैथिलाः

❀ श्रीः ❀

यज्ञसरस्वती ग्रन्थस्य विषयतालिका प्रदर्श्यते

विषय पृष्ठ

सोमकाण्डम् (प्रथमकाण्डम्) (हविर्यज्ञे)

प्रथममण्डलम्

विषय	पृष्ठ

द्वितीयमण्डलम् (महायज्ञे)

विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

[अथ संहितायां षोडऽशोध्यायः १६]


— शुभमिति —

अत्रज्ञान सौकर्य्यार्थं कर्म्मणां तालिका प्रदर्श्यते ।

१–प्राक् सौमिकः ।

१-हौत्राधान मण्डलम्   हविर्यज्ञमण्डलम् ।

१ आधानाधिकारः	हविर्यज्ञः		
२ अग्निहोत्राधिकारः	,,	दैनिक पर्वद्वय यागः	५३
३ दर्शपूर्णमासाधिकारः	,,	मासिक पर्वद्वय यागः	५६
४ पिण्डपितृयज्ञाधिकारः	,,	सांवत्सरिक पर्वत्रय यागः	
५ चातुर्मास्याधिकारः	,,	सांवत्सरिक पर्वत्रय यागः	२१
			१३३
६ आग्रयणाधिकारः	,,	सांवत्सरिक पर्वत्रय यागः	
७ पशुबन्धाधिकारः	,,	सांवत्सरिक पर्वद्वय यागः	

२–सोमयागः ।

ज्यौतिष्टोमिक मण्डलम् (३।४ काण्डम्)

२-स्तोमायन मण्डलम् महायज्ञमण्डलम् ।

१ अग्निष्टोमाधिकारः	महायज्ञः	एकाह प्रकृति यागः	१६७
२ षोडशिस्तोमाधिकारः	,,	एकाह विकृति यागः	५
३ द्वादशाहधिकारः	,,	अहीन प्रकृति यागः	३
४ गवामयन सत्राधिकारः	,,	सत्र प्रकृति यागः	१३
५ प्रायश्चित्ताधिकारः	,,	विलिष्ट शुद्धि यागः	१०
			१९८

वाजराज मण्डलम् (५ काण्डम्)

वाजराज मण्डलम् अतियज्ञ मण्डलम् ।

१ वाजपेयाधिकारः	अतियज्ञः	३४
२ राजसूयाधिकारः	,,	३६
३ चरक सौत्रामणीयागाधिकारः	,,	४
		७४

इति पञ्चदशाधिकारः सोमकाण्डः प्रथमः तत्र संहितादशाध्यायी समाम्नाता पञ्चत्रिंशानि चत्वारिशतानि (४३५) यजुर्मन्त्राः ।

३—अग्निः—चयन मण्डलम् ।

४-चितिस्तंचिति मण्डलम् अग्निमण्डलम् ।

१ अग्निचित्याधिकारः	(गार्हपत्य-नैऋत्य आहवनीयेति प्रकर्ण त्रयोपेतः)	३५४
२ शतरुद्रियायागाधिकारः		६६
३ संचितियागाधिकारः		१७६
		५९६

इति त्र्यधिकारोऽग्निकाण्डो द्वितीयः । तत्र संहिताष्टाध्यायी सामाम्नाताः षण्णवत्यधिकानि पञ्चशतानि (५९६) यजुर्मन्त्राः ।

४—खिल यागः ।

५—सुरामेधमण्डलम् खिलमण्डलम् ।

१ सौत्रामणीयागाधिकारः	१९—२१ = त्रयोध्यायाः	२४६

२ अश्वमेधाधिकारः	२२-२५ = चत्वारोऽध्यायाः	१८६
		४३२

इति द्व्यधिकारः खिलकाण्डस्तृतीयः तत्र संहितासप्ताध्यायी समाम्नाता। द्वात्रिंशदधिकानि चत्वारिशतानि (४३२) यजुर्मन्त्राः।

५—परिशिष्ट यागः।

६—परिशिष्ट मेध मण्डलम्।

१ खिल्याधिकारः	३६
२ चयन परिशिष्टाधिकारः	४५
३ सौत्रामणी परिशिष्टाधिकारः	४६
इति त्रीणि परिशिष्ट प्रकरणानि।	१२७
४ अश्वमेधाधिकारः	६०
५ पुरुषमेधाधिकारः	४४
६ सर्व मेधाधिकारः	११३
७ ब्रह्मयज्ञाधिकारः	५८
८ पितृमेधाधिकारः	२२
इति पञ्चमेध प्रकरणानि।	२९७
९ शान्ति करणाधिकारः	२४
१० महावीरोपासनाधिकारः	४९
११ प्रायश्चित्ताधिकारः	१३
१२ औपनिषदाधिकारः	१७
इति चत्वारि प्रकीर्णक प्रकरणानि।	१०३

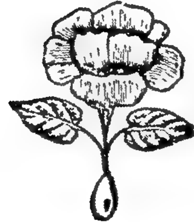
इति द्वादशाधिकार उपरिकाण्ड श्चतुर्थः। तत्र संहिता पञ्चदशाध्यायी सामाम्नाता। सप्तदशाधिकानि पञ्चशतानि (५१७) यजुर्मन्त्राः। तदित्थं काण्ड चतुष्टये अशीत्यधिकानि ऊनविंशतिशतानि

(१६८०) (१६७६) यजुर्मन्त्राणां संनिविशन्ते । तदित्थं यजुर्वेदसंहितायां मन्त्राणां चत्वारिंशद् अध्यायाः संभवन्ति । तत्रादितो दशाध्यायाः सोमकाण्डः प्रथमः ॥ १ ॥ ततोऽष्टाध्यायाअग्निकाण्डो द्वितीयः ॥ २ ॥ ततः सप्ताध्यायाः खिलकाण्डस्तृतीयः ॥ ३ ॥ ततः पञ्चदशाध्याया उपरिकाण्डश्चतुर्थः । (१०-१८-२५-४० = ४०)

६—उपनिषत् ।

औपनिषदं ज्ञानतन्त्रं षष्ठम् ॥ ६ ॥ प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इत्यादेशः ॥

❀ इति यज्ञ सरस्वती विषयतालिका सम्पूर्णा: ❀





अथ यज्ञसरस्वती

: प्रारभ्यते :



यो यज्ञैर्विविधैर्विश्वं सृष्ट्वा जीवयते चिरम् ।
तं यज्ञपुरुषं विद्याश्रद्धाभ्यामाश्रये श्रिये ॥१॥
धर्म्मे सदसती नित्ये सत्यमेकात्मता तयोः ।
सत्या देवा देवतानां यज्ञः संगमनं मिथः ॥२॥
यज्ञस्यारम्भणं सत्यं ब्रह्मा सत्यभृदक्षरः ।
विष्णोर्यज्ञभृतो जज्ञे भूतं तद् भूतभृच्छिवः ॥३॥
यस्त्रिमूर्तिः प्रभुर्विश्वं सृजत्यवति हन्ति च ।
तं यज्ञपुरुषं विद्याकर्म्मभ्यामीश्वरं श्रयेत् ॥४॥
अग्नौ सोमाहुतिः सोमयज्ञोऽग्नावग्निताश्रितिः ।
इत्थं सत्यद्वयारब्धो द्विविधो यज्ञ इष्यते ॥५॥
हविर्ग्रहो वाज--राज--पशवश्चेति पञ्चधा ।
सोमोऽस्त्यतः सोमयज्ञः पाङ्क्तो विष्णुः स देवभृत् ॥६॥
त्रयो लोका द्वौ च सन्धी इति पञ्चाग्नयाश्रिताः ।
पाङ्क्तोऽग्नियज्ञः स शिवो भूतभृत् पशुभृच्च सः ॥७॥

मनोवाक्प्राणतन्त्रायी ब्रह्मा सत्यः प्रजापतिः ।
मनसा वचसा प्राणैः सृष्टिं सृजति यज्ञतः ॥८॥
"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥"

—भगवद्गीता

देवानां संगतिकरणं यज्ञः । "अग्निः सोमः सर्वा देवताः" । लोकत्रयभेदेनाग्नेस्त्रैविध्यमस्तीत्यग्नित्रयसंबद्धास्त्रयो वेदाः । भूलोके तावदग्निमय ऋग्वेदः । अन्तरिक्षे वायुमयो यजुर्वेदः । दिव्यादित्यमयः सामवेदः । "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः", तेनाप्सु सोममयोऽथर्ववेदश्चतुर्थः । ते चामी चत्वारो वेदा अग्नेः प्रोत्क्रमणस्वाभाव्यात् सहस्रधा विभक्ता भवन्ति । तथा हि—अबग्निवाय्वादित्यमयवेदचतुष्टयलक्षणानामथर्वप्रथमानां वाङ्मयप्राणानामेषामेकैके दशधा विभक्ताः सन्तः पुनरेकैके दशधा विभक्ताः शतं भवन्ति । पुनरेकैके दशधा विभक्ताः सहस्रधा भवन्ति । तथा चैते चातुर्विध्यलक्षणा वाङ्मयप्राणा इमे सहस्रमंशवः सूर्य्यस्योपपद्यन्ते । ते चैषां प्राजापत्यानां चतुर्णां वेदानां सहस्रधा विभागाः शाखाशब्देनाख्यायन्ते । देवतानां त्वेते महिमानो भवन्ति । अत एवाह—

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्" ॥इति॥

(ऋ० १०, १०, ११४, ८)

सूर्य्यज्योतिर्लक्षणपरब्रह्मविधवाक्प्रपञ्चे तावदित्थं शाखाविभाग आख्यातः । तमेतमर्थं तथा प्रत्याययितुं शास्त्रग्रन्थलक्षणशब्दविधवाक्प्रपञ्चेऽपि तथैव शाखाविभागं कल्पयन्ति । नवधाऽथर्वणोवेदः । एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् । एकशतमध्वर्य्यु शाखाः । सहस्रवर्त्मा सामवेद इति । तथा च—तत्र यजुर्वेदस्यैकशतशाखासु पञ्चाशीतिः कृष्णाः, षोडश तु शुक्ला इष्यन्ते । तत्र शुक्लासु पञ्चदशी शाखा माध्यन्दिनीया भवति । तस्याः संहितायां चत्वारिंशदध्यायाः, तेषु चतुर्विंशत्यूने द्वे सहस्रे (१९७६) मन्त्रा व्यवतिष्ठन्ते । मन्त्राणां स्वरूपविभागे मतवैषम्यादिह संख्या क्वचिदन्यथापीष्यते । मन्त्रांशाः पुनरन्यथा विविच्यन्ते—इति विज्ञेयम् ।

अथैतेषु चत्वारिंशदध्यायेषु दशाध्यायाः (१–१०) सोमयज्ञविभागः । तेषु हविर्यज्ञानां महायज्ञानामतियज्ञानाञ्च संहत्य त्रिंशं शतचतुष्टयं च (४३०) मन्त्राः प्रदर्श्यन्ते । ततोऽष्टावध्याया अग्निचयनविभागः । तत्र चतुरूनानि षट्शतानि मन्त्राः (५९६) । ततः (११–१८) ऊर्ध्वं

सप्ताध्यायाः (१९–२५) खिलविभागः। तत्र त्रयस्त्रिंशं शतचतुष्टयं च ४३३ मन्त्राः। ततश्चतुर्दशाध्यायाः (२६–३९) परिशिष्टविभागः। तत्र पञ्च शतानि मन्त्राः (५००)। अनारभ्याधीतं खिलम्। आरभ्याधीतं परिशिष्टम्। एतानि कर्म्मप्रकरणानि। अथैकः पुनरन्त्योऽध्यायः (४०) उपनिषद्विभागः। तदिदं ज्ञानप्रकरणं, तत्र सप्तदश मन्त्राः। तदित्थं कर्म्मप्रकरणज्ञानप्रकरणाभ्यामीश्वरस्य यजनं विज्ञानं चोपदिशत्येष यजुर्वेदः॥

ज्ञानं कर्म्म च विश्वस्य रूपं विश्वेश्वरस्य च॥
"सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते।"
—भगवद्गीता

॥ अथ दर्शपौर्णमासाधिकारः॥

दर्शपूर्णमासे प्रथमं दर्शेष्टिर्विधीयते। तत्र त्रीणि हवींषि—आग्नेयोऽष्टाकपालः, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पयः—इति॥ तथा चेदं दधि प्रतिपदि होतुममायां रात्रौ गावो दोग्धव्याः। तत्र च वत्साः स्वमातृभ्यः पलाशदण्डेनापाक्रियन्ते। तदर्थं पलाशशाखां मन्त्रेणाच्छिनत्ति, तत्राच्छेद्यां शाखामामन्त्रयति–हे शाखे!

इषे त्वा। ऊर्जे त्वा (अ०।१।मं०।१।)

छिनद्मीति शेषाध्याहारेणैकं विनियोगमाह बौधायनः। आपस्तम्बस्तु मन्त्रभेदेन "इषे त्वा" इत्याछिनत्ति। "ऊर्जे त्वा" इति संनमयत्यनुमार्ष्टि वा इत्याह। संनमनमृजूकरणम्। संलग्नधूल्यादीनामानुलोम्येनापनयनमनुमार्जनम्।

फलसंपत्तिमपेक्षमाणः साधनसंपत्तिमपेक्षते लोकः। साधनं प्रयुज्यमानमव्यभिचारेण फलाय संपद्यते। ते हीमे साधनफले इडूर्क्शब्दाभ्यां लक्ष्येते। इडन्नरसः। यस्तु भुक्तादन्नाद् बलहेतू रसः परिणमते स ऊर्ग् रसः। "इषे त्वेति वृष्ट्यै तदाह। ऊर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग् रसो जायते तस्मै तदाह।" (श० १।४।२)। एवं सर्वत्र भाव्यम्। तेन देवान्नदध्यर्थं तस्य देवस्य बलप्रदरसार्थं च त्वामाच्छिनद्मीति छिद्यमानां पलाशशाखां प्रार्थयते। यजमानस्य च यज्ञसंपत्तिद्वारा तदिषे तदूर्जे च त्वां छिनद्मीत्याह। "इषमेवोर्जं यजमाने दधाति"। (तै० ब्रा० ३।२।१) "यं कामयेत—अपशुः स्यादिति, अपर्णां तस्मै शुष्काग्रामाहरेत्। अपशुरेव भवति। यं कामयेत पशुमान् स्यादिति, बहुपर्णां तस्मै बहुशाखामाहरेत्।

पशुमन्तमेवैनं करोति । यत् प्राचीमाहरेत्—देवलोकमभिजयेत् । यदुदीचीं—मनुष्यलोकम् । प्राचीमुदीचीमाहरति—उभयोर्लोकयोरभिजित्यै ।" (तै० ब्रा० ३ । २ । १) ॥ "तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णमच्छिद्यत । तत् पर्णोऽभवत्" ॥ "गायत्रो वै पर्णः । गायत्राः पशवः । तस्मात् त्रीणि त्रीणि पर्णस्य पलाशानि । त्रिपदा गायत्री । यत् पर्णशाखया गाः प्रार्पयति स्वयैवैना देवतया प्रार्पयति—" (तै० ब्रा० ३ कां २ प्र० १ अ०) इति हि ब्राह्मणश्रुतिः । पलाशस्य गायत्रीत्वमुक्त्वा गायत्रीरूपाया गोस्ताडनकर्मणि विनियोगमुपपादयति । न हि स्वा देवता स्वं हिनस्ति—इति । अपि च श्रूयते—"यत्र वै गायत्री सोममच्छा पतत् । तदस्या आहरन्त्या अपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद—गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञः । तत् पतित्वा पर्णोऽभवत् । तस्मात् पर्णो नाम । तद् यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्यसदिति—तस्मात् पर्णशाखया वत्सानपाकरोति ।" श० १ । ७ । १ ।) इति ।

मातृभिर्वत्सान् समवार्जन्ति । स वत्सं शाखयोपस्पृशति । हे वत्साः ! यूयम्—

वायवःस्थ । १ । १ ।

मातृभ्योऽन्यत्र गन्तारो भवत । "अयं वै वायुर्योऽयं पवते । एष वा इदं सर्वं प्राप्याययति यदिदं किञ्च वर्षति । एष वा एतासां प्राप्याययिता ।" (शत० १ । ७ । १ ।) इति वाजिश्रुतिः । "वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । प्रवा एनानेतदाकरोति । वायव एवैनान् परिददाति ।" (तै० ब्रा० ३ । २ । १ ।) इति च तित्तिरिश्रुतिः । अपि च ब्रूमः । पुरुषसूक्तोक्तविज्ञानानुसाराद् वैश्वानरपुरुषैकपादाद् विराट्पुरुषोऽभवत् । ततोऽधिवैराजः पुरुषः । स एष सर्वहुद् यज्ञः । ततः संभृतात् पृषदाज्यात् पुरुषाश्वगवाव्यजाः पञ्च पशवोऽजायन्त । तत्र "पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये" इति श्रुतेस्तेभ्यो दिव्यपशुभ्य एवैते लोके ग्राम्यारण्याः पशवोऽजायन्त । ते च वायव्या वायुप्राणाः । यादसां जलेनेवैतेषां स्थलचराणां वायुनैव निश्वासप्रश्वासाभ्यां जीवनाधानात् । तथा चान्यानां गवां वाय्वात्मकत्वादाह—वायवः स्थेति ।

अथ गवामेकां वत्सेन व्याकृत्य शाखयोपस्पृशति । हे गावः !

"देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय
कर्म्मणे, आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय
भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्माः ॥

मा वस्तेन ईशत, माघशंसो
ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः ॥१॥ १।१।

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म" (१।७।१।५।) इति श्रुतेः यज्ञसिद्धये सर्वकर्म्मप्रवर्तकः सविता नाम देवो युष्मान् प्रवर्तयतु । हे अघ्न्या गावः! यूयम्—इन्द्राय भागमाप्यायध्व-मिति—इन्द्रमुद्दिश्य संपादयिष्यमाणं सांनाय्यदधिहेतुक्षीरं प्रवर्धयध्वम् । यूयं खलु—बह्वपत्याः कृमिजनितसर्वरोगरहिताश्च स्थ ॥ युष्मानपहर्त्तुं चौरो वा घातकजन्तुर्व्याघ्रादिरपि वा समर्थो मा भूत् । अपितु गवां पत्यावस्मिन् यजमाने नित्यं वर्तमाना बहुविधाः यूयं भवत—इत्ये-वं गा अभिमन्त्रयेत् । तथा सति गोसम्बन्धि दधिरूपं हविरैन्द्रं माहेन्द्रं वा भवतीति विद्यात् ॥

अथाग्न्यागारस्यान्यतरस्य पुरस्ताच्छाखामुपगूहति । हे पलाशशाखे! त्वम्

"यजमानस्य पशून् पाहि" ।१।१।

उन्नतप्रदेशे स्थित्वा प्रतीक्षमाणा सती यजमानस्य पशूनरण्ये संचरतः चोरव्याघ्रादि भयाद्रक्ष—इत्याशंसति । (५) ॥ १ ॥

ततोऽस्यां पर्णशाखायां द्वौ कुशौ कुशत्रयं वा बध्नीयात् ॥ हे *त्रिकुश ?

वसोः पवित्रमसि १।२।

'यज्ञो वै वसुः (१-७-१-६) यज्ञस्य पवित्रमसि । अत्र यज्ञीयहविर्द्रव्यरूपं क्षीरं लक्ष्यते । वसोः क्षीरस्य शोधकं त्वमसि—इत्याह ॥

ततः सांनाय्यतपनीं पयोधारणार्थामुखां नाम स्थालीमाददानोऽभिमन्त्रयते । हे उखे स्थालि ?

द्यौरसि पृथिव्यसि ॥२॥ १।२।

मातरिश्वनो घर्मोऽसि ॥३॥ १।२।

×विश्वधा असि ॥४॥ १।२।

जघनेन गार्हपत्यमुपविश्य उपवेषेण गार्हपत्यादुदीचोऽङ्गारान्निरुह्य तेषूखामधिश्रयज्जपति—

"द्यौरसि पृथिव्यसी" ति मन्त्रेण लोकद्वयरूपत्वमुखाया उक्तम् । मातरिश्वनो घर्मोऽसीत्यन्तरिक्षलोकरूपत्वमुच्यते । तदेवं त्रयाणां लोकानां धारणात्त्वम् ।

आतश्च हे उखे ? त्वम्—

परमेण धाम्ना दृंहस्व, माह्वाः, मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥५॥ १।२।

---

* कुशत्रयेण प्राणापानौ व्यानश्च पवना अपेद्यन्ते । × विश्वधाया—इति तित्तिरिपाठः ।

उत्तमेन स्थानेन त्वं दृढो भव, यतः पयो नावपतेत्। कौटिल्येन भङ्गो लच्यते, भग्ना मा भव। यजमानो हि यथा भग्नाशो न स्याद् इत्याशंसति ॥२॥ (२)

अथोखायां पातयिष्यमाणे चीरे तृणपर्णाद्यपद्रव्यपतनप्रतिबन्धाय तावदुखायां प्रागग्रमुदगग्रं वा कुशास्तरणं कृत्वा तदन्तर्हितां चीरधारामत्र पातयेत्। तत्रैते स्थाल्यामास्तीर्णा कुशास्तावद् अभिमन्त्रयितव्याः। हे उखापवित्र! त्वम्—

वसोः पवित्रमसि शतधारं।

वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ॥ १ ॥ १। ३।

चीरेण सह स्थाल्यां पततां तृणपर्णाद्यपद्रव्याणां त्वया व्यवधानेन प्रतिबध्यमानत्वात् त्वं वसोः पयसः शोधकमसि। पवित्रोपरि बह्व्यो धाराः पतन्तीति पवित्रं शतधारं तावदुच्यते। अथैतस्मात् पवित्रात् पुनरधः सूक्ष्मैः पवित्रच्छिद्रैः स्थाल्यां पूर्वापेक्षयाप्याधिक्येन धाराः पतन्तीति सहस्रधारं कृत्वा पवित्रं स्तूयते। अभ्यासे हि भूयांसमर्थं मन्यन्ते—इति 'वसोः पवित्र' मिति द्विरुक्तिः।

अथासिच्यमाने पयसि जपति। हे स्थाल्यां सिच्यमान चीर!—

"देवस्त्वा सविता पुनातु।

वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा "१। ३।

कर्मप्रेरयिता सविता देवः सम्यक्शोधकेन शतधारेण वसोः पवित्रेणानेन त्वां शोधयतु।

एवमेकस्यां गवि दुग्धायां दोग्धारं प्रत्यध्वर्युः पृच्छेत्। हे दोग्धः! विद्यमानानामासां गवां मध्ये त्वम्—

कामधुक्षः? ॥१॥ १। ३।

अथैवं पृष्टेन दोग्ध्रा अमूं गामित्युत्तरिते पुनरध्वर्युर्दोग्धारं प्रतिब्रूयात्—

सा विश्वायुः ॥ २ ॥ १। ४।

इयं प्रथमा गौर्विश्वायुर्नाम दिव्या गौरस्तीत्यभेदेन भाव्यताम्—इति।

एवमेव द्वितीयस्या गोर्दोहे कामधुक्षः? इत्यध्वर्युः पृष्ट्वा दोग्ध्रा चामूमित्युत्तरिते—

सा विश्वकर्म्मा ॥ ३ ॥ १। ४।

इति निर्दिशेत्। एवमेव तृतीयस्याम् ॥

सा विश्वधायः । १ । ४ ।

इति ब्रूयात् ॥

एता एव तिस्रो गावो देवार्थं पयो दुहन्ति । 'इन्द्रः सर्वा देवता' स्ताभ्यो दोग्ध्री दिविष्ठा गौः । सा विश्वेष्वायुः प्रवर्तयति । तस्मात् सा विश्वायुः । अथ—'वायुः सर्वा देवताः' ताभ्यो दोग्ध्री गौरन्तरिक्षस्था । सा विश्वेषु अङ्गप्रत्यङ्गचेष्टां प्रवर्तयति । तस्मात् सा विश्वकर्म्मा । अथ—अग्निः सर्वा देवताः । ताभ्यो दोग्ध्री गौः पृथिवीस्था । सा विश्वेषु धारणशक्तिं प्रतिष्ठां प्रवर्तयति—तस्मात्सा विश्वधायाः । आयुश्चेष्टा प्रतिष्ठा एवैतासां पयांसि । अमूषां त्रिलोकी-धेनूनामेतास्वभेदं भावयति ॥

अथ क्वथितं क्षीरमग्नेरुद्वास्य मन्दोष्णे तस्मिन् प्रातःकालीनहोमावशिष्टेन दध्ना दधिनिष्पत्तये आतञ्चनं कुर्य्यात् । हे क्षीर !—

"इन्द्रस्य त्वा भागं सोमेनातनच्मि" ॥ १ ॥ ४ ।

आतञ्चनं—पयसः काठिन्येन दधिभावाय दध्ना संयोजनम् । यद्यप्यत्रातञ्चनहेतुदधिशेषो न साक्षात् सोमः, तथापि तस्मिन् सोमत्वमारोप्यते ।

अथैतस्य दध्यर्थनिहितक्षीरस्य रक्षार्थं यज्ञदेवतैव संबोध्य प्रार्थ्यते—

"विष्णो हव्यं रक्ष" । १ । ४ ।

"यज्ञो वै विष्णुः" । यज्ञदेवता विष्णुः ॥ ॥

॥ इति पूर्वाह्णे सांनाय्यसंपादनम् ॥

२-अथ व्रतोपायनम्

अन्तरेणाहवनीयश्च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन् अप उपस्पृश्याग्निमीक्षमाणो व्रतमुपैति—

"अग्ने ! व्रतपते ! व्रतं चरिष्यामि ।

तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" ॥ १ ॥ । ५ ।

हे यज्ञनियमाध्यक्ष, हे अग्ने ! अहं यज्ञकर्म्मानुष्ठास्यामि तत्कर्म्मानुष्ठातुमहं शक्तो भूयासम् । तन्मम कर्म्म निर्विघ्नं संपद्यताम् । ॥

अथापरमाह—

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १ । । ५ ।

"सत्यमेवदेवाः । अनृतं मनुष्याः" (शत० १ । १ । ४) इति श्रुतेरनृतं मानुषो भावः ।

सत्यं देवभावः। तदाह यदिमं यज्ञं कर्तुं प्रवृत्तोऽस्मि तदिदमहमेतस्मान्मर्त्यान्मनुष्यभावादुद्धृत्य सत्यं देवताभावं गच्छामि। मनुष्येभ्यो देवानुपावर्ते। इति भावः॥ अतएव चानृतभाषणादुपरतः सत्यभाषणनियमं स्वीकरोमि। श्रूयते हि—"सत्यसंहिता वै देव अनृतसंहिता मनुष्याः" इति।

अनयोरन्यतरेण व्रतमुपेयात्। उपवसथाहे गृहीतव्रतो—"नानृतं वदेत्" यथाशक्यं सत्यमेव वदेत्। "विचक्षणवतीं वाचं वदेत्। "चक्षुर्वै विचक्षणम्। एतद्धि मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः। यत्र द्वौ विवदमाना वेयातास्—अहमदर्शमहमश्रौपमिति। तयोर्य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति—तत्रैव श्रद्ध्याम। चक्षुर्हिसत्यम्। तस्मात् यथा दृष्टं ब्रूयात्। सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति।" तदेकं व्रतम्। १।

"आरण्यमेवाश्नीयात्"। (शत० १।१।१०) अकृष्टक्षेत्रजमारण्यम्। फलाहारी स्यात्। तदन्यद् व्रतम्। २। "आहवनीयागारे गार्हपत्यागारे वा एतांरात्रिमधः शयीत।" इत्यन्यद् व्रतम्। ३।

॥ इति व्रतोपायनम् ॥ २ ॥

३—अथ ब्रह्मवरणम्

अथ यजनीयाहे शाखान्तरीयेण मन्त्रेण ब्रह्माणं यजमानो वाऽध्वर्युर्वा वृणीते "भूपते! भुवनपते महतो भूतस्य पते! ब्रह्माणं त्वा वृणीमहे"।

स वृतो जपति—

"अहं भूपतिरहं भुवनपतिरहं महतो भूतस्य पतिः।
भूर्भुवर्देवसवितरेतत्वां वृणीते ब्रहस्पतिं ब्रह्माणम्।
तदहं मनसे प्रब्रवीमि, मनो गायत्र्यै, गायत्री
त्रिष्टुभे, त्रिष्टुब् जगत्यै, जगत्यनुष्टुभे, अनुष्टुप्
प्रजापतये, प्रजापतिर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः, बृहस्पति-
र्देवानां ब्रह्मा, अहं मनुष्याणाम्। वाचस्पते यज्ञं
गोपाय, गोपायामि"—इति॥

अपरेणाहवनीयं दक्षिणातिक्रम्य ब्रह्मसदनमीक्षते। स ब्रह्मसदनात् तृणं निरस्यति। अपामुपस्पृशति। ब्रह्मसदने चाहवनीयाभिमुख उपविशति।- स वाचं यच्छत्यानुयाजप्रसवाद् भागपरिहरणाद्वा। अथाध्वर्य्युश्च होता चैवं ब्रह्माणमनुज्ञाप्यैवातः स्वं स्वं कर्म्म कुर्यात्॥

"ब्रह्मन्निदं कर्म्म करिष्यामि, तदनुजानीहीति"।

विज्ञप्तो ब्रह्मा सर्वत्र तत्तदनुज्ञापदमनुज्ञामन्त्रस्याद्यन्तयोः कृत्वा यथास्वरमनुजानाति।

इति ब्रह्मवरणम् ॥ ३ ॥

४—अथ अपां प्रणयनम्।

अथ प्रणीताः प्रणयन्नध्वर्युर्ब्रह्माणं यजमानं चाह—

"ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि, यजमानं वाचं यच्छ इति।"

स ब्रह्मा कुशोपग्रहः प्रणीताः प्रसौति, प्रणय यज्ञं देवता वर्द्धय त्वम्।

"नाकस्य पृष्ठे स्वर्गलोके यजमानोऽस्तु। सप्तर्षीणां सुकृतां
यत्र लोकः—तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि, ओं भू-
र्भुवः स्वर्जन दों ३ प्रणय" ॥ इति ॥

इत्थमनुज्ञातोऽध्वर्युरप उत्सिच्य गार्हपत्यादुत्तरत आसादितास्ता आहवनीयादुत्तरतः प्रणयेत्। तत्राध्वर्य्युरात्मनः कर्तृत्वमपह्नूय देवकर्तृत्वं संभावयति। हे प्रणीतापात्र!

"कस्त्वा युनक्ति, स त्वा युनक्ति,
कस्मै त्वा युनक्ति, तस्मै त्वा युनक्ति"—इति ॥ १।६।

आहवनीयस्योत्तरतो निधानं योजनम्। अधिदैवतं दिव ऊर्ध्वमाप इमा यज्ञपुरुषेणैव यज्ञायैव प्रणीताः सन्ति। "यद्देवा अकुर्वंस्तत् करवाणी" त्यनुगमादिहाप्यग्नेरुत्तरत आपः प्रणीयन्ते इति नेह मनुष्येच्छा निमित्तमिति भावः ॥

"आपो ह्यस्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्म्मणे (ऐ०) श्रद्धामेवारभ्य यज्ञेन यजते। उभयेऽस्य देवमनुष्याः इष्टाय श्रद्दधते। यो वै श्रद्धामनारभ्य यज्ञेन यजते। नास्येष्टाय श्रद्दधते" ॥ (तै० सं० १।६।८)। ता अपः अग्नेर्नातिसंनिकर्षे नातिविप्रकर्षे संप्रत्यग्नेरुत्तरतः सादयेत्। नान्तरेण संचरेयुः।

इति प्रणीतानामपां प्रणयनम् ॥ ४ ॥

५—अथ पात्रासादनम्

अथोत्तरेण गार्हपत्याहवनीयौ गार्हपत्यसंनिधौ दर्भान् संस्तीर्य्य तत्र द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति—दशापराणि दश पूर्वाणि। तत्रापराणि यज्ञायुधसंज्ञानि तावत्—शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं चेति द्वे, स्फ्यं कपालानि चेति द्वे, शम्या कृष्णाजिनं चेति द्वे, उलूखलमुसले, दृषदुपले—एषामेकैकं द्वन्द्वमादधानो मन्त्रयति।

कर्म्मणे वाम्। वेषाय वाम्॥ १।६।

यज्ञकर्म्मसिद्धये यज्ञस्वरूपसंपत्तये चाहं युवामाददे। अथ पूर्वाणि दश पात्राणि प्रयुनक्ति—स्रुवं[1], जुहूं[2], उपभृतं[3], ध्रुवामिति[4]। वेदं[5] पात्रीम्[6] आज्यस्थालीम्[7], प्राशित्रहरणम्[8], इडापात्रम्[9], प्रणीतापात्रम्[10]—इति। एतानि चोत्तरेणावशिष्टानि चतुर्विंशति पात्राणि सादयति—अन्वाहार्यस्थालीम्, अश्मानम्, उपवेषम्, द्वे पवित्रे, त्रीणि पवित्रच्छेदनानि, उपसर्जनपात्रीम्, मुष्टिम् वेदितृणम्, अभ्रिम्, योक्त्रसंनहनावच्छादनानि, परिधीन्, विधृत्यौ, पुरोडाशपात्र्यौ, होतृपदनम्, शृतावदानम्, औषधम्, प्राशित्रहरणे, अन्वाहार्यतन्दुलान्, अन्तर्धानकटकम्, पूर्णपात्रम्, समिधः, इध्मबर्हिषोरुपकल्पनम्, षडवत्तम्, प्रातर्दोहपात्राणि। अथ श्रपणस्य पश्चादुत्तरतो वा स्फ्योपहितायां पात्र्यामौषधकरणम् इति।

अथ शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादानानन्तरं वाचं यच्छत्यध्वर्युः उदकं स्पृष्ट्वा वाचंयम एव स पात्राणि प्रतपति—

"प्रत्युष्टं रक्षः, प्रत्युष्टा अरातयः।
निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" १।७।

शूर्पादिषु निगूढानि रक्षांसि प्रतपनेनानेन दग्धानि, निःशेषेण संतप्तानि वा। यज्ञकर्मणि देयदानप्रतिबन्धका अप्यनेन प्रतपनेन दग्धा निःशेषेण संतप्ता वा। अनयोः प्रयोगे विकल्पः।

इति पात्रासादनम्॥ ५॥

६—अथ हविष्करणम्।

हविः करणादि-पात्री निर्णेजनान्तमेकादशकर्म्मविधायकं—

पुरोडाशब्राह्मणम्

शालतः कौष्ठस्य कुम्भ्या भस्त्राया वा हविर्द्रव्याणि केचिदानयन्ति, तदयुक्तम्। ततो हविर्ग्रहणे यजुर्मन्त्रादर्शनात्। अनस एव गृह्णीयात्। व्रीहियुक्तमनो गार्हपत्याग्नेः पश्चिमतः स्थापयेत्। तदध्वर्युर्गच्छेत्—

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि। १।७।

स्थाने स्थितोऽहमिदानीं हविर्द्रव्याण्यानेतुं विपुलमवकाशमनुगच्छामि। "स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"। सर्वात्मना तु युक्तो यज्ञः सार्वात्म्येन पर्य्याप्तमपूर्वं

जनयति । आतश्चैव प्राणेन गच्छन् मन्त्रं वाचयति । वागर्थानुभावनया तु परिमितं मनस्तत्र कर्म्मणि योजयति । सैषोपपत्तिः सर्वत्र मन्त्रप्रयोगे द्रष्टव्या ।

अथानसो धुरमग्न्याधारभूतमभिमृशति—हे धुर्य्याग्ने !

धूरसि, धूर्व धूर्वन्तं, धूर्व तं-योऽस्मान् धूर्वति,
तं धूर्व-यं वयं धूर्वामः । १।८

हिंसकोऽसि । हिंसन्तं प्रति हिंस । हिंसय तं योऽस्मान् हिनस्ति । अपि तं हिंस, यं हिंसितुं वयं प्रवृत्ताः स्म । गुप्तचराणामन्तरिक्षसदां नाष्ट्ररक्षसां विनाशनाय प्रार्थ्यमानोऽग्निर्भूमिसदां विघातकानां विनाशनायापि नापवार्य्यते ।

अथ कस्तम्भ्याः पश्चिमत ईषामभिमृशति । उपस्तूय चानः प्रार्थयते । हे हविर्धान, हे शकट !

देवानामसि वह्नितमं, सस्नितमं, पप्रितमं, जुष्टतमं
देवहूतमम् । अह्रुतमसि, हविर्धानं दृंहस्व, मा ह्वाः
मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ १।६

देवेभ्यो दीयमानानां हविषां वाहकमसि । अतिशुद्धमसि । दार्ढ्यायातिशयेन चर्म्मादिभिः परिवेष्टितमसीति वा, व्रीहिभिर्यवैर्वा हविर्द्रव्यैः परिपूर्णमसि । देवप्रियं मनुष्यसेवितं चासि । देवानामिहाह्वानाय समर्थमसि । अथेदं हविर्दधानं त्वं कौटिल्यमनायातमसि । भाराक्रान्तस्यापि ते भङ्गभयं नास्ति । त्वामारोहयिष्यामीत्यतस्त्वं दृढं भव । आरोहणे मा भग्नं भूः । त्वद्भङ्गहेतोरेव चायं यजमानोऽपि खलु मा भग्नाशो भूदिति प्रार्थ्यते ।

अनड्वहनयोग्यो युगप्रदेशो धूः, शकटस्य दीर्घं काष्ठमीषा, तदग्रस्य भूमिस्पर्शो माभूदिति तदाधारत्वेन स्थाप्यमानं काष्ठमुपस्तम्भनं कस्तम्भीत्युच्यते ।

इत्थं शकटदार्ढ्यं परीच्य व्रीहिग्रहणाय शकटमारुरुक्षुः स्वपादाक्रमणापराधमपह्नोतुमिवैतं शकटोपलक्षिताग्निं विनिवेदयति—हे हविर्धान शकट !

विष्णुस्त्वा क्रमताम् । १।६।

'विष्णुर्वै यज्ञः' । स यज्ञपुरुषस्त्वां पादेनाक्रम्यारोहतु । आरोहणस्य यज्ञानुरोधित्वादहं तद्वशवर्ती यदनुतिष्ठामि यज्ञस्यैव तदनुष्ठानमितिभावः ।

शकटस्थव्रीहीणां तृणवस्त्राद्याच्छादितत्वात् संकोचवशाद् वायोरप्रवेशः । "यद्वै किञ्च वातो नाभिवाति तत्सर्वं वरुणदैवत्यम्"—इति तित्तिरिश्रुतेर्वायुप्रवेशविकलं वरुणदैवत्यं

भवति, वरुणश्च बन्धहेतुर्यज्ञं निरुणद्धीत्यतो वारुण्याभावाय तृणवस्त्राद्यावरणमुन्मोचयन् व्रीहीन् प्रेक्षमाणोऽभिमन्त्रयति—

उरु वाताय । १।९।

वायुप्रवेशायेदमावरणमपनीय हविर्द्रव्यमुरु क्रियते । स यदित्थं भावयन् प्रेक्षते स मनोयोगः । आवरणभङ्गाद् वायुप्रवेशः प्रेक्षणं च प्राणयोगः । मन्त्रोच्चारणं वाग्योगः । क्रियापदहीनाया वाचो मनःप्राणाभ्यां पूर्तिरत्र मनःप्राधान्याभिव्यक्तयर्था ।

व्रीहिषु यदि तृणादिकं किंचिदपद्रव्यं दृश्येत तर्हि तन्निरस्यन् तृणाद्यभावे तु केवलं व्रीहीनभिमृशन् जपति—

अपहतं रक्षः । १।९।

यज्ञविघातकत्वाद् रक्षोरूपमपद्रव्यं तृणलोष्टादिकं हविर्द्रव्यान्निष्कृतमस्तीति पश्यामि । भावनं निरसनप्रेक्षणे उच्चारणं चेहार्थः । रक्षोवन्मन्त्रमुच्चार्योदकस्पर्शः ।

पञ्चाङ्गुलिमुष्टिना व्रीहीन् गृह्णानो जपति—

यच्छन्तां पञ्च । १।९।

पञ्चाङ्गुलयो हविर्नियच्छन्तु ।

ततश्चतुरो मुष्टीनाग्नेयं हविर्गृहीत्वा यजमानोऽग्निहोत्रहवण्या पवित्रवत्या पवित्रवति शूर्पे निर्वपति त्रिर्यजुषा, तूष्णीं चतुर्थम् । ततोऽग्नीषोमीयं पृथक् चतुरः । हे हविः !

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो
हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामि ॥ २ ॥ १।१०
अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ २ ॥ १।१०

सविता देवानां प्रसविता प्रवर्त्तको देवताविशेषः । स इह पूर्वहरित्संलग्नाभ्यामुदयमानाभ्यां चित्रास्वातीतारकाभ्यामुपलक्ष्यते । तदानीमश्विनौ पश्चिमहरित्यस्तमेष्यन्तौ भवतः, रेवती योगतारा त्वस्तं गता भवति । अथादितिः खस्वस्तिके भवति । अदितिरियं पृथ्वी । सोऽग्निः । अग्निः सर्वा देवताः । अतश्चायं सर्वासां देवतानां यज्ञकालः । तां स्थितिमनुभावयन्नश्विपूषरश्मिभिरिदं हविरिष्टिदेवताभ्यो गृह्णामीत्याह । अश्विनौ देवानामध्वर्यू । पूषा देवानां भागधु ।

अथावशिष्टं शकटे धान्यमभिमृशन्नाह—हे शकटस्थित हविःशेष !

भूताय त्वा नारातये । १।११।

अन्यान्यप्राणिजनोपयोगाय प्रभूताय वा पुनः कर्तव्याय वा देवकर्म्मणे त्वां संपरिशेषयामि, न तु कार्पण्याददानाय।

"स्फात्यै त्वा नारात्यै (तै० सं० १।१।४)"—इति तित्तिरिमन्त्रपाठः।

गृहीत्वा हविः प्राङ्मुखो यज्ञभूमिं वीक्षते।

स्वरभिविख्येषम् । १।११।

"यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्यः । स यज्ञविहारमभिपश्यामि । तमसीव वा एषोऽन्तश्चरति यः परीणहि । स्वरेवाभिविपश्यति । वैश्वानरं ज्योतिरिति ब्राह्मणम् ।

अथ शकटादवरोहन्नाह—

दृंहन्तां दुर्य्याः पृथिव्याम् । १।११।

हविर्गृहीत्वावतरतोऽध्वर्य्योर्भारेण पादसंनिवेशे क्षोभः संभाव्यते स इत्यवधानेन वार्य्यते। भूमौ अवकाशाः पादावरोपस्थलं मे दृढं भवतु ।

अथ यज्ञप्रदेशमभिसंचरति ।

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि । १।११।

विपुलमवकाशमनुसंचरामि ।

स यज्ञदेशमागत्य श्रपणस्य पश्चादुत्तरेण वा गार्हपत्यं हविः सादयति । हे हविः!

पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि

अदित्या उपस्थे । १।११।

भूम्या मध्यप्रदेशे यज्ञभूमेर्धरातले त्वां स्थापयामि । अदितिः पृथिवीत्याहुः । सा चाश्विन्यादिचित्रान्तभमण्डलसंमुखीनार्द्धरूपा, सोत्तरतो लोका भाव्या ॥ तथा ह्याह—

"अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः । विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥" १ । ८९ । १० ॥

अदित्या व्याज्यवृत्तित्वात् पृथिव्या इत्यवच्छेदपरिग्रहः॥ पृथिव्या विपुलाङ्गत्वाददित्युपस्थेन तदेकदेशावच्छेदः तेनापौनरुक्त्यम् ॥

अथ पृथिव्यधिष्ठितोऽग्निरयं गार्हपत्यः श्रपणो वाग्निः संप्रार्थ्यते—

अग्ने हव्यं रक्ष १ । ११ ।

तव संनिधाने स्थापितमिदं हव्यं बाधकेभ्यः पालय। 'रक्षस्वे' ति शाखान्तरे पाठः।

इति पुरोडाशाधिकारे हविर्द्रव्यानयनम् ॥ ६ ॥

७—अथ पवित्रकरणम्।

कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तर्गर्भौ कुशैश्छिनत्ति। हे कुशौ?

पवित्र स्थो वैष्णव्यौ। १। १२।

"यज्ञो वै विष्णुः"। यज्ञियौ युवां पवित्रे इति दोषमार्जनहेतू स्थः। तथा हि निगमो भवति। इन्द्रो वृत्रमहन्। सोऽपोऽभ्यम्रियत। तासां यन्मेध्यं यज्ञियं स देवमासीत् तदपोदक्रामत्, ते दर्भा अभवन्। यद्दर्भैरप उत्पुनाति—या एव मेध्या यज्ञियाः सदेवा आपः ताभिरेवैना उत्पुनाति"। (तै० ब्रा० ३। २। २५॥) इति यदपां दैवं सारं तदमृतं प्रोक्षणादिना द्रव्यशोधकं भवति॥

"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः"

इत्याम्नायते। आपो, वायुः, सोमः—इति भृगवः। अग्निः,यमः, आदित्यः—इत्यङ्गिरसः। अपां वायुरेकं रूपम्। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते। सोऽयमन्तःप्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च। ताविमौ प्राणोदानौ। तस्यैवानुमात्रां द्वे भवतः। स हतो वृत्रः पूतिः सर्वत एवापोऽभिप्रसुस्राव। अस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्। तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्ति। अथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति। तदर्थमेताभ्यामुत्पुनाति।

इति पवित्रकरणम् ॥ ७ ॥

८—अथापां प्रोक्षणम्

हविर्ग्रहण्यां तिरःपवित्रमपः कृत्वा पवित्राभ्यामुदीचीनाग्राभ्यामाभ्यां तास्त्रिः पुनाति यच्छ—

हे आपः! अच्छिद्रेण पवित्रेणेति पवमानेनानेन सूर्यरश्मिभिश्च युष्मान् सवितुः प्रवर्तनायां पावयामि। वायुः सूर्यकराश्चोपहतभूमिशुद्धिहेतवो दृष्टाः। सावित्राग्निकृता नोदनैव चोभयत्र हेतुः। ते च पवित्रे तत्रैव प्रणीतास्वप्सु निहिते प्रतिष्ठतः।

देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः (तै० स० १। १। ५।) इति तित्तिरिमन्त्रः॥

ता अपसव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति—

देवीरापोऽग्रेगुवो ग्रे पुवः अग्र इममद्य
यज्ञं नयत, अग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं
देवयुवम् । युष्मा इन्द्रोवृणीत वृत्र तूर्य्ये,
यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्र तूर्य्ये। प्रोक्षिताः स्थः । १ । १३ ।

हे आपः! समुद्रगाः सोमभक्षिण्यो यूयमग्रगामिन्योऽग्रमावत्यः स्थ । तस्मादिह यज्ञं यजमानं चाग्रं नयतेति ब्रूमः । यज्ञमिमं समाप्तिं गमयत। यजमानं चेमं कामान् गमयत। अपि चैतं यजमानमिह जीवनसमृद्धिं च गमयत । वृत्रेण प्रतिस्पर्द्धायामिन्द्रो वृत्रं हनिष्यन्नपो वव्रे यूयं मम सहकारिण्य इति । आपश्चैता इन्द्रमवृण्वतऽभवानस्माकं सहकारीति । सेयमपामिन्द्रेण परस्परसमानापेक्षऽसीदित्यपां महिमा ख्यातिः । 'प्रोक्षिताः स्थ' त्यासां प्रोक्षणमभिमन्त्रणमात्रं वा । "आपो देवीरग्रेपुवो अग्रेगुवोऽग्र इमं यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं धत्त । युष्मानिन्द्रोऽवृणीत" (तै० स० १ । १ । ५ ।) इत्यादिस्तित्तिरिमन्त्रः ।

इत्यपां प्रोक्षणम् ॥ ८ ॥

९—अथ हविः प्रोक्षणम् ।

अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । अग्नीषोमाभ्यां त्वा
जुष्टं प्रोक्षामि ॥ १ । १३ ।

एवं यथादैवतमन्यान्यपि हवींषि त्रिस्त्रिः प्रोक्षति ।

देवतायै मेध्यं करोति । अथ यज्ञपात्राणि कृष्णाजिनोलूखलादीनि उत्तानानि कृत्वा त्रिः प्रोक्षति ।

दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै ।
यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तुच्छुन्धामि ॥ १ । १३ ।

हे यज्ञपात्राणि ! अग्न्यादिदेवताकर्म्मसिद्ध्यर्थं या देवानां यागक्रिया दर्शेष्ट्यादिका तदर्थं शुद्धानि भवत। यदेव तु युष्माकं किञ्चिदङ्गमशुद्धस्तक्षा वाऽन्यो वा कश्चिदमेध्यश्छेदनतक्षणादावमेध्यं चक्रुः—तदिहमद्भिर्मेध्यं करोमि । "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देव-

यज्याये"–इति तित्तिरिः। प्रणीताहवनीयान्तरालमसंचर इत्याहुः। असञ्चरे प्रोक्षणीर्निदध्यात्।

इति हविःप्रोक्षणम्

१०–अथ हविःकण्डनम्

अथ हविरध्यवहननं करिष्यन्नुलूखलस्याधस्तान्निधातुं कृष्णाजिनमादत्ते—

शर्म्मासि ॥ १।१४।

हे कृष्णाजिन! त्वं कृष्णमृगस्य चर्मासि। चर्म्मेति मानुषं, शर्म देवत्रा। यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्देत्, स यज्ञो यज्ञे प्रतितिष्ठेत् तदस्कन्नं हविः स्यात्। तस्मादध्यवहननमधिपेषणं च कृष्णमृगचर्म्मोपरि क्रियते। दीक्षा चैतस्य यज्ञस्य सर्वत्वाय। अग्निर्हि यज्ञः। स देवेभ्योऽपक्रम्य कृष्णमृगो भूत्वा चचार। तस्य देवास्त्वचमवच्छायाजहुः। तस्यैतानि शुक्लकृष्णलोमानि ऋक्सामयो रूपं, बभ्रूणीव हरीणि तु यजुषः। सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। अतश्च सर्वत्वाय यज्ञस्य कृष्णाजिनमादत्ते। तित्तिरिस्तु नेदं मन्त्रयति॥

तदुत्करे त्रिः सकृद्वावधूनोति पात्राण्यतिनत्त्येव। यथैतानि पात्राण्यमेध्यानि स्युः॥

अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः ॥ १।१४।

नाष्ट्रा एवैतद्रक्षोवधूननादपहतं, तेन चास्माकं यज्ञविघ्नकारकाः सर्वे प्रध्वस्ताः।

तदजिनमुत्तरलोम प्रत्यग्ग्रीवं कृत्वोपस्तृणाति पुरस्तादाहवनीयस्य।

अदित्या स्त्वगसि, प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु ॥ १।१४।

अदितिः पृथ्वी। यदस्यामधि किञ्चित्, तदस्यास्त्वगिवोपकल्पते। हे अजिन! इह पृथिव्यामास्तीर्य्यमाणं त्वमस्यास्त्वगिवोपपद्यसे। अतश्चेयं पृथ्वी त्वां प्रतिवेत्त्विति स्वं कृत्वा संजानीताम्। यथेदमजिनमुलूखलादौ पृथ्वीप्राणसम्बन्धविच्छेदकमन्तरायं न स्यात्।

सव्येन पाणिनाऽभिनिहितेऽस्मिन्नजिने दक्षिणेनोलूखलमधिवर्तयति।

अद्रिरसि वानस्पत्त्यो, ग्रावासि पृथुबुध्नः,
प्रतित्वाऽदित्या स्त्वग् वेत्तु ॥ १।१४।

अभिषवणाद्द्रव्येऽद्रिशब्दो रूढः। हे उलूख! यथा सोमाभिषवाय ग्रावाण एवं हविर्द्रव्यावघाताय त्वं दारुमयोऽद्रिरसि, अपि वा त्वं विपुलमूलो ग्रावासि। तं त्वामियमधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनस्वरूपा भूमित्वक् प्रतिवेत्त्विति स्वकीयत्त्वेन संजानीताम्। यथेदमुलूखलं

चर्म्मणैक जीवं सुस्थिरं स्यान्न लेलायेत। अधिषवणमसि वानस्पत्यं प्रतित्त्वेत्यादि स्तित्तिरिमन्त्रः।

अथैतस्मिन्नुलूखलेऽवघातार्थं पुरोडाशीयव्रीहिद्रव्यमावपति—

"अग्नेस्तनूरसि, वाचो विसर्जनं,
देववीतये त्वा गृह्णामि" ॥ १ । १५ ।

हे पुरोडाशीयव्रीहिसमूह! त्वमग्नेः शरीरमसि। दाह्यं काष्ठमिवान्नं गृह्णनुदराग्निराहवनीयाग्नि श्चोपचित वपुर्भवति। भविष्यदर्थे निश्चिता ध्यवसाद् भूतारोपः। अपि च—वाचः प्रवृत्तिकारणमसि। अपां प्रणयनकाले नियमिताया यजमानस्य वाचोऽध्वर्यो श्चेह हविरावपनकाले हविष्कृदेहीत्याह्वानाद् विसर्जनमाह। अपि च देवोपभोग्यपुरोडाशस्वरूपसिद्ध्यर्थं चामुलूखलेऽस्मिन्नावपामि। अथै तत्कण्डनाय मुसलं मादत्ते—

"बृहद् ग्रावासि वानस्पत्यः, स इदं देवेभ्यो
हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व" ॥ १ । १५ ।

हे मुसल! दारुमयोऽपि त्वं दार्ढ्यात् पाषाण इवासि, दीर्घत्वाच्च महानसि। स—त्व मग्न्यादिदेवोपकारार्थमिदं व्रीहिरूपं हविर्भक्षणप्रतिबन्धक तुषापनयेन शान्तं कुरु। अन्तःस्थमलापनोदनाच्चेदं यथा सुष्ठुकृतं स्यात् तथा फलीकरणेन शान्तं कुरु। "अद्रिरसि वानस्पत्यः स इदं देवेभ्यो हव्यं सुशमि शमिष्वे" इतितित्तिरिः

त्रिरवघ्नन् हविःकण्डन कृत माह्वयति—

"हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि"। १ । १५ ।

पत्नी वाऽग्नीध्रो वा हविश्कृत्। स यत्र काले हविष्कृतमध्वर्युराह्वयति तदानीमेवान्योऽयमाग्नीध्रोऽश्मान मादाय दृषदुपले शम्यया त्रिराहत्यासुरघ्नींवाचं प्रत्युद्वादयति, द्विर्दृषदि, सकृदुपलायाम्। त्रिःसंचारयन्नवकृत्वः संपादयतीत्याहुः ॥

"कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः, इषमूर्जमावद,
त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म" ॥ । १ १६ ।

कुक्कुटोऽयमसुरेभ्योऽनिष्टं वदन् द्विपज्जिह्वो भवति। मधुजिह्वस्तु देवेभ्यःस इष्टं ब्रूते। स यथा कुक्कुटो देवेभ्यस्तथा त्वमस्मै यजमानायासि मधुजिह्वः। स त्वं पाषाणे दत्तं रसं चास्मिन् यजमाने संभावयन् शब्दं कुरु। असुरघ्नींच वाचं ब्रुवता त्वया वयं संघातं संघातमसुराणामवि-

नीतानां च वैरिणामभिभवेमं । मन्त्रसंस्कारकृते यज्ञपात्रेऽसुरघ्नी वागुद्भवतीतिविज्ञानम् । "इष-मावद्—ऊर्जमावद—घुमद्वदत—वयं संघातं जेष्म" इति तित्तिरिः ।

इति हविः कण्डनम् ॥१०॥

११—अथ वितुषीकरणफलीकरणे

अथ अवहत्य वितुषान् कृत्वोत्तरतः शूर्पमादत्ते—नडानां वा, वेणूनांवा, इषीकाणां वा ।

वर्षवृद्धमसि ॥ १ । १६ ।

हे शूर्प । वृष्टियोगात् त्वं वर्द्धमानमसि । वृष्ट्या नडादीनां वृद्धिः शूर्पेऽनुभाव्यते ।

तस्मिन् पुरोडाशीयं हवि र्निर्वपति—

प्रतित्वा वर्षवृद्धं वेत्तु ॥ १ । १६ ।

हे हविः । वर्षवृद्धमिदं शूर्पं त्वा प्रति वेत्त्विति स्वकीयत्वेन संजानीताम् । व्रीहियवादि-हविर्द्रव्यस्यापि वर्षवृद्धतया साधर्म्योपपत्तेः ।

अथोदङ् पर्यावृत्य शूर्पेण निष्पुनाति । वितुषी करणं निष्पवनम् ।

परापूतं रक्षः, परापूता अरातयः ॥ १ । १६ ।

तुषेषु यज्ञप्रतिबन्धकत्वेन रक्षोबुद्धया तन्निराकरणात् प्रतिबन्धकसामान्यस्य निरोपकरणो-पत्तिरित्याह—परापूता अरातय इति ॥ "यज्ञ रक्षांस्यनु प्राविशन् । तान्यस्तापशुभ्यो निरवादयन्त ।, तुषै रोषधीभ्यः" इत्याम्नायते । तै० ब्रा० ३ । २ । ५ । भूमौ पतितांस्तुषान दूरे निःसारयेत्—

अपहतं रक्षः १ । १६ ।

यतो यज्ञो रक्ष्यते तस्मिन्नाहुतिजन्य संस्कारोदयप्रतिबन्धक सामान्ये रक्षःशब्दः । तन्मे रक्ष इति मनः शुद्धिरपेक्ष्यते । मनोग्लानेरपि कर्म्मसिद्धि प्रतिबन्धकत्वात् ॥

एवमस्मिन् वितुषीकरणे तन्दुलान् कणांश्च पृथक् करोति । हे तन्दुलाः—

वायुर्वो विविनक्तु । १ । १६ ।

पवित्रं वायुः । स इह शूर्पचालनेनोत्थो वायुर्युष्मान् सूक्ष्मकणेभ्यः पृथक् करोतु ।

अथ हविष्यान् पात्र्यामोप्याभिमन्त्रयते ॥

देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्व-च्छिद्रेण पाणिना ॥ १ । १६ ।

अन्तरिक्षादिव वा एते प्रस्कन्ददति ये शूर्पादवपात्यन्ते। तेषां तन्दुलानामितस्ततोऽनवस्कन्दाय सत्यदेव हस्तावलम्बनेन प्रतिष्ठामनुकल्पयते। सुप्रतिगृहीता भवन्त्वित्यवधानं विधीयते। अथैतत् तूष्णीमेव त्रिःफलीकरोति। यत्तु देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमित्येके फलीकुर्वन्ति, तदसत्। वैश्वदेवत्वापत्तेः। श्वैत्याच्छादक तुपापनयनं फलीकरणमित्याहुः। फलीकृत्य कणान्निदधाति ॥

इति वितुपी करणफलीकरणे। ॥११॥

१२-अथ हविःपेषणकपालोपधानादि

अथ पेषणोपधाने युगपत् कार्य्येइतिसमाचारादेकः कपालान्युपदधाति तदानीमेवान्यो दृषदुपलाभ्यां पिष्टं संपादयति। सहैतदुभयं क्रियते। तत्र कपालान्युपधातुमुपवेष मादत्ते। हे उपवेष!—

धृष्टि रसि। १। १७।

तीव्राङ्गाराणामितस्ततश्चालने प्रागल्भोऽसि। धृष्णिवैतेनाग्नि मुपचरति, ब्रह्मयच्छेत्यधिकस्तैत्तिरीये मन्त्रः। पलाशशाखाया मूलदेशे च्छिन्नोऽङ्गारापोहन समर्थः प्रादेशपरिमितः काष्ठखण्ड उपवेष। एतेनाग्निमुपवेवेष्टि तस्मादुपवेषः। तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति। तदङ्गारापोहनम्। धीयेरन् इति। अपि चैतेनाङ्गारविशेषान्निरस्यति। अङ्गारा ह्यग्निकणाः।

अग्निस्त्रिविधः—आमात्, क्रव्यात्, देवयाट् च। पाकाद्युपयुक्तो लौकिकोऽग्निरामात्। शवदाहकस्तु चिताग्निः क्रव्यात्। अथैतदुभयभिन्नो यज्ञयोग्यो वैधोऽग्निर्देवयाट्। इत्थंत्रिधां त्रीनङ्गारान् गार्हपत्यात् प्राग्भावे पृथक् कृत्य तेषां मध्यात् यज्ञानुपयुक्तावामात् क्रव्यादौ चारयितुं गार्हपत्याग्निः प्रार्थ्यते—

अपाग्ने अग्नि मामादं जहि।
निष्क्रव्यादं सेध।
आ देवयजं वह ॥ १। १७।

हे गार्हपत्याग्ने! आमादं नामाग्निमपजहि। क्रव्यादमग्निं निःषेध। यस्त्वयमग्निस्तृतीयो देवयाट् तस्मिन् हवींषि श्रपयाम। तस्मिन् यज्ञं तनवामहै। इत्येवमर्थं तमावह। आमात् क्रव्यादावङ्गारौ परित्यज्यदेवयज्याङ्गारेण हवि र्ग्राह्य मिति भावः। उद्धृतेषु त्रिष्वङ्गारेषु आमात्व क्रव्यात्वाभ्यामुपकल्पितयो र्द्वयोर्बहिः प्रक्षेपं केचिदिच्छन्ति, तदसत्, "वीरहा वा एष भवति

योऽग्नीनुत्सृजति" इति श्रुत्या तस्य निषिद्धत्वात्। तस्माद् आद्येन मन्त्रद्वयेन गार्हपत्यप्रार्थनामात्रम्, तृतीयेन तु तृतीयमङ्गारमाहरति।

ततस्तं यजुष्कृतत्वान्मेध्यं देवयजमङ्गारं मध्यमेन कपालेन तावदवच्छादयति। हे कपाल! त्वम्—

"ध्रुवमसि, पृथिवीं दृंह, ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय" ॥ १ । १७ ।

दृढमसि, पृथिवीं दृढीं कुरु। ब्रह्म च क्षत्रं चैतदुभे वीर्य्ये।

तयो र्ज्ञाति जनानुरक्ते अस्मिन् यजमानेऽभिसिद्धियाचनार्थं शत्रुनाशार्थं च त्वामङ्गारे स्थापयामि। यदि त्वभिचरेद्—अमुष्य वधायेति नामगाहं निर्दिशेत्। अभिनिहितमेव सव्यपाणेरङ्गुल्यैतस्मिन् अङ्गारयुक्तप्रदेशस्थे कपाले पुनरन्यमग्नि मधिवर्तयति—

"अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व"। । १८ ।

कपालस्याध ऊर्ध्वं चावस्थानात् त्वं बलवज्ज्योतिर्गृहाण। अपि वा कपालाधस्तादुपस्थित हे पृथिव्यग्ने! त्वं दिव्याग्निरूपं ब्रह्म गृहाण। कपालरूपा हीयं पृथ्वी द्यावापृथिव्यग्निभ्यामुभयतः परिगृहीतास्तित्विति भाव्यते। तैत्तिरीयके त्वेतमंशमपठित्वा मन्त्रमाह—

"निर्दग्धं रक्षो निर्दग्धा अरातयो–ध्रुवमसि–पृथिवीं दृंहआयुर्दृंह, प्रजां दृंह, सजातानस्मै यजमान पर्य्यूह" ॥ इति

अथैतन्मध्यमकपालतः पश्चात् कपालमन्यमुपदधाति पूर्ववत्—

"धरुणमस्यन्तरिक्षं दृंह, ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
सजात वन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय" ॥ १ । १८ ।

एवं प्रथमस्य पूर्वभागे तृतीयं स्थापयेत् पूर्ववत्।

"धर्त्रमसि, दिवं दृंह, ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
सजात वन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥" १ । १८ ।

तैत्तिरीयके त्वेना वित्थं पठ्येते—"धर्त्रमस्यन्तरिक्षं दृंह, प्राणं दृढं, सजातानस्मै यजमानाय पर्य्यू हेति। धरुणमसि दिवं दृंह। चक्षुर्दृंह, श्रोत्रं दृंह, सजातानस्मै यजमानाय पर्य्यूहेति।" धर्त्रधरुणयोर्व्यत्यास श्चिन्त्यः। अथ दक्षिणत श्चतुर्थं स्थापयति। हे कपाल!

"विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि"। १। १८।

सर्वाभ्यो दिग्भ्यो दार्ढ्याय त्वां स्थापयामि। इत्थं कपालत्रयेण लोकत्रयं चतुर्थेन दिशो जयति। नातः परमस्तीत्येतावानग्निः। तस्यैतद्गतः—पुरोडाशः सर्वमन्नं सर्वा हि तद्देवताः

प्रीणाति। तित्तिरि स्त्वाह—"धर्मासि दिशो दृंह, योनिं दृंह, प्रजां दृंह, सजातानस्मै यजमानाय पर्य्यूह"–इति ॥

इत्थमष्टकपालस्याग्नेय पुरोडाशस्तता वचत्वारि कपालानि स्थापितानि।

अथान्यानि चत्वारि कपालानि समं विभज्य द्वे द्वे दक्षिणतो द्वे चोत्तरतः स्थापयेत। हे कपालविशेषाः। यूयम—

"चितः स्थोर्ध्वचितः" ॥ १। १८।

प्रथम कपालोपचय हेतवो भवथ। ऊर्ध्वमुपाहितानां च कपालाना मुपचायका भवथ। तूष्णीं वैतान्युत्तराणि चत्वारि तत्रोपधीयन्ते न तु यजुषा। तत्रैप कामचारो भवति। तित्तिरस्तु—

"चितस्थः प्रजामस्मै रयिमस्मै सजातानस्मैयजमानाय पर्य्यूह"–

इति पठति। अपिचेह—कल्पभेदः स्मर्य्यते। अथ पूर्वार्ध्यमुपदधाति—

"धर्त्रमस्यन्तरिक्षं दृंहेति"–

अथ परार्ध्यमुपदधाति—

"धरुणमसि दिव दृंहेति"

अथ दक्षिणार्ध्य मुपदधाति—

"धर्मासि दिशो दृंहेति"

अथ पूर्वार्ध्य मुपदधाति—

"चितिः स्थेति बौधायन।"

धर्त्रमसीति पूर्वं द्वितीयं संस्पृष्टम्,

धरुणमसीति पूर्वं तृतीयम्।

धर्मासीति सप्तमम्।

चितःस्थेत्यष्टमम्। इत्यापस्तम्बः

एकमग्रे कपाल मुपदधाति—"ध्रुवमसीति"—

अथ ध्रुवमसि धर्त्रमसि—इति सह द्वे।

अथ ध्रुवं धर्त्रं धरुणमसीति सह त्रीणि।

अथ धर्मासीत्येनन सह चत्वारि।

अथाष्टौ सह इत्यन्ये।

एवमेकादशाग्नीषोमीयस्य कपालान्युपदधाति । तत्राधिकं दक्षिणत उपधेय मित्याहुः ॥

अथाङ्गारैः कपालानि छादयति, उपसर्जनीरपश्चाधिश्रयति । हे कपालानि ! उपसर्जन्यश्च यूयम्—

"भृगूणामाङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" ॥ १ । १८ ।

"एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाम" आपो वायुः सोम इति भृगुरसाः स्नेहगुणाः । अग्निर्यम आदित्य इत्यङ्गिरसो रसास्तेजोगुणाः । कापालेषूपसर्जन्यासु चोभये समवेता अङ्गार-संयोगात् सुतप्ता भवन्ति । उभयत्रचापन्ना अनात्मिका दोषा यज्ञमपहनिष्यन्तीत्यनेन तापेन तेषां निर्दाहादिमानि कपालान्युपसर्जन्यश्च शोधयितु मिष्यन्ते । इति कपाल प्रतपन कल्प एकतः क्रियते ।

इति कपालोपधानादि ॥१२॥

१३—अथ हविःपेषणादि

अथान्यतः सहैव च हविः पेषण प्रयोगः क्रियते । यो दृषदुपलेनुपदधाति स कृष्णा-जिनमादत्ते । हे अजिन ! त्वम्—

"शर्म्मासि" ॥ १ । १९

मृगचर्म्मासि । एतया वाचा यज्ञावयवे सत्ये मनः संयुनक्ति । कर्म्मणा विनियुक्तः प्राणो वाङ्मनसाभ्यामसंपन्नो यथा न स्यात् ।

अथैतदवधूनोति—

"अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः" ॥ १ । १९

तत् प्रतीचीनग्रीवमुपरिलोमोपस्तृणाति । हे कृष्णाजिन ! त्वम्—

"अदित्यास्त्वगसि । प्रतित्वाऽदितिर्वेत्तु" ॥

"प्रतित्वा पृथिवी वेत्तु"—इति तित्तिरि पाठः ॥

ततस्तस्मिंश्चर्मणि शिलां स्थापयेत् । हे पेषणाधारभूते शिले ! त्वम्—

"धिषणासि पर्वती, प्रतित्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु" ॥ १ । १९

बुद्धिः कर्म च धीः धियं सनोति ददातीति कर्म्मदात्री बुद्धिर्धिषणा । अपि वा ज्ञानदात्री कर्म्मनियोक्त्रीवोपदेश वागू धिषणा । अपि वा धीयोगात् संविभक्तेति पदवाक्यप्रमाणवती वाग् धिषणा । अपि वा यथा कथंचिदवच्छेद शिल्पनिर्म्मिता यत् किंचिदर्थव्यक्तिर्धिषणा । आत-

श्चैषा पाषाणशिला शिल्प विशेषावच्छिन्नाऽस्तीति धिषणा वक्तुम् शक्यं। पाषाणत्वात् पर्वती। तां त्वामिय मधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपा भूमित्वक् स्वकीयत्त्वेनांनु गृह्णातु। उभयोः प्राणयोरन्योन्य समन्वपादेक प्राणत्वं भवतु।

अथैतस्याः दृषदः पश्चाद् भागेऽधस्ताच्छ म्यामुदीचीन कुम्बां निदधाति ॥

"दिवः स्कम्भनीरसि"। १। १९

हे शम्ये! त्वं द्युलोकस्य धारयित्र्यासि। गदया समाना कारो व्यामार्ध परिमितः काष्ठ विशेषः शम्या। तां पेषणहेतोर्दृषदःपश्चाद् भागे तदधस्तात् कृष्णाजिनो परिष्टा दुच्छ्रिरस्कां निदधाति। येनैतस्या दृषदः पश्चाद् भाग उन्नतः स्यात् ॥ एतेनेयंदृषत् प्राकप्रवणाभूत्वा देवत्रा भवति। एकतःपृथिव्याऽपरतो दिवा च संबध्नाति। उभाभ्यां चानुसंवद्धः सोमः प्राचीमनु देवत्रानुवर्तते इति स्थितिः। आह च तैत्तिरीयके—

"द्यावा पृथिवी सहास्ताम्। ते शम्यामात्रमेक—
मह व्यैताम्। शम्यामात्रमेक महः। दिवस्क—
म्भनिरसि प्रतित्वा दित्यास्त्वग् वेतु—इत्याह।
द्यावा पृथिव्यो वीत्यै" ॥ (तै० ब्रा० ३। २। ६।)

अपि चैतस्यां शम्यायां प्राचीं दृषदमध्यूहति तैत्तिरीयकाणां। "मन्त्रेण धिषणासि पर्वत्या प्रतित्वा दिवः स्कम्भनिर्वेत्तु"। इति। नैतदिष्यते माध्यन्दिनीयाम्।

अथ दृषद्युपलामुपदधाति—

"धिषणासि पार्वतेयी, प्रतित्वा पर्वती वेत्तु"। १। १९

दृषदियं पर्वती। तस्या दुहितेव त्वं पार्वतेयी। तां त्वामियमधस्तान्निहिता मातृसमा शिला स्वीयत्वेन भावयतु। अत्र दृषत् पृथ्वी, उपला द्यौः ते अन्तरा निहितैषा शम्याऽन्तरिक्ष-रूपेण। अपि चैते दृषदुपले हनू। ते अन्तरैषा शम्या जिह्वारूपेण—इति ब्राह्मण निरुक्त्या दृषदोऽस्या उपरिष्टादेव खलु पश्चाद् भागे शम्यानिधानं, नाधस्ता दित्याहुः। परे तू परिशम्यया पेषण विरोधात् दृष्टार्थ मधस्तादुपधानं भाव्यम्। जिह्वान्तरिक्षसंस्तुते रुपधानक्रमापेक्षितयोपयत्तेः संभवादिति पश्यन्ति।

ततो दृषदि पेषणार्थं तन्दुलानावपेत्। हे हविर्द्रव्य!

"धान्यमसि धिनुहि देवान्" ॥ १। २०

प्रीणनस्वाभाव्याद्धान्यनामासि। स त्वमिह यजनीयानग्न्यादीन् देवान् प्रणीय

अथ पिनष्टि—

"प्राणाय त्वा, उदानाय त्वा, व्यानाय त्वा,
दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धाम्" ॥ १ । २०

हे तन्दुल! यजमानस्य प्राणादिपुष्ट्यर्थं त्वां पिनष्मि। अविच्छिन्नां कर्म्मसंततिमुद्दिश्य यजमानस्यायुरभिवृद्ध्यर्थं त्वामिदमधाम्। इत्येवं ब्रुवाण एवैष पिष्टानि प्रक्षिपन् कृष्णाजिने प्रोहति।

"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णा-
त्वच्छिद्रेण पाणिना" ॥ १ । २०

कृष्णाजिने प्रक्षेपसमये हविषो भूमौपतनं माभूदिति सवितुर्ग्रहणमभ्यर्थते। हे हवींषि! हिरण्यगभस्तिः सविताऽयमविच्छिन्नेनांशुना युष्मानभ्युपगच्छतु। प्रीहणनानात्वापेक्षं बहुवचनम्।

अथैनदीक्षते—हे हविः!

"चक्षुषे त्वा" ॥ १ । २०

दृष्ट्यवधानार्थं त्वां पश्यामि। अपि वेदमंत्र पश्यन्ति
"जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्।" इति।

अथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञंध्नन्ति। तत्रैतत् प्राणायत्वेत्यादिभिः प्राणोदानौ व्यानमायुश्चास्मिन्नवदधाति। सवितुश्च हिरण्यमयपाणिना सुगृहीतं क्रियते। चक्षुरिन्द्रियं चास्मिन्नाधीयते। जीवतो ह्येतानि भवन्ति। अतश्चैतेन हविर्देवानां जीवितं भवत्यमृत ममृतानाम्। इति हि भावयतो मनस्तदल्मषं विशुद्धं भवति। द्रव्यसंस्कारत्वादिदमीक्षणं चर्विष्यां तन्दुलानां वाजप्रसवीयाहुतौ चयने वाजपेये च सर्वौषधीनामपीष्यते।

पिंषन्ति पिष्टानि, अभीन्धते कपालानि अथैतत्तुल्यकालमेवैको यजमानो वा ब्रह्मा वा यमाज्यमनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति। हे आज्य! त्वम्—

"महीनां पयोऽसि" ॥ १ । २०

गवां क्षीररसोऽसि, क्षीरोत्पन्नत्वात्। अथाज्यस्थाल्यां तदाज्यं ब्रह्मा निर्वपति।

अथोत्तरेण गार्हपत्य मुपविष्टः पात्र्यां पवित्रे अवधाय तत्र पात्र्यां कृष्णाजिनात्पिष्टान्यावपति। हे पिष्टमय हविर्द्रव्य!

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो-
र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामि" ॥ १ । २१

तैत्तिरीयास्तु संवपामि पदात् प्राग्—"अग्नये जुष्ट मिति वा, अग्नीषोमाभ्यां जुष्ट मिति वा, यथादैवतं नामोद्दिशन्ति।

सपवित्रायां पात्र्यां सयवनार्थमयं पिष्टप्रक्षेपः। सपवित्रत्वं त्वदृष्टार्थम्। तां चैतां सपिष्टां पात्रीमादायोत्थाय गार्हपत्यस्य पश्चादुपविशति—इति कात्यायनः। वेद्याः करिष्यमाणायाः अन्तर्देशेतूपविशतीति॥ श्रूयते—तत्र विकल्पमिच्छन्ति।

अथाग्नी दुपसर्जनीरानयेत्। पिष्टसंयवनीया आपः उपसर्जन्यः। ता अध्वर्य्युः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति चतुः पर्वणा यजुषा—

"समाप ओषधीभिः, समोषधयो रसेन,
सं रेवती जगतीभिः पृच्यन्तां, संमधुमती-
र्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्"॥ १। २१।

उपसर्जन्य इमा आपः पिष्टरूपाभिरोषधीभिः संगच्छन्ताम्। ओषधयश्चैताः पिष्टरूपाः रसेनोपसर्जनीरूपेण संगच्छन्ताम्। तथा चैतावता रेवत्यो नाम दिव्या आपो जगत्यो नाम पार्थिव्य आपश्चान्योन्यं संपृक्ताः भवन्तु। उभयविधाना मपां रसवदन्योन्यसमन्वयादेकरसत्वं भवतु।

॥ इति हविः पेषणादिः॥ १३॥

१४–अथ संयवनादिः

"समापो अद्भिरग्मत्, समोषधयो रसेन, संरेवती जगतीभिः—मधुमती मधुमतीभिः सृज्यध्वम्"—इति तैत्तिरीयाणां मन्त्रपाठः।

अद्भ्यः परिप्रजाताःस्थ, अद्भिःपृच्यध्वम्"

इति मन्त्रेण ते पिष्टरूपास्ता ओषधीरद्भिरनु—

पर्य्याप्लावयन्ति। पिष्टस्य सर्वत आर्द्रीकरणं परिप्लावनम्।

नैतन्माध्यन्दिनीया इच्छन्ति।

अथ संयौति। अपां पिष्टानां च संमिश्रणं संयवनम्

तत्रोभव प्रत्याह—

"जनयत्यै त्वा संयौमि"॥ १। २२।

शुक्रशोणितसंमिश्रणेन यथा प्रजा जन्यते तथा पुरोडाशं जनयितुं त्वां संमिश्रयामि।

अथैवं संमिश्रितस्य पिण्डस्य समविभागेन द्वौ पिण्डौ कृत्वा पुनरमेलयिष्यन्नेकैकं देवतानाम्ना क्रमेणाभिमृशति—

"इदमग्नेः । इदमग्नीषोमयोः" ॥ १ । २२ ।

अनसस्तावन्नामग्राहं पृथगिवान्नमुष्टिमगृह्णन्, तत् सहावाघ्नन्, सहापिंषन् । अथेदानीं तत्पुनर्नाना करोति । अग्नीषोमयोरुभयोर्व्यासक्तमिदमेकं देवतात्वम् । दर्शे हीमेद्वे देवते—अग्निश्चाग्नीषोमौ चेति । पौर्णमासे पुनरन्ये द्वे देवते—अग्निश्चेन्द्राग्नी चेति । तेन तत्र यथा देवतं मन्त्रोहः— इदमग्नेः, इदमिन्द्राग्न्योरिति ।

अथाज्य प्रविलापनार्थमग्नौ तावदाज्यपात्रमधिश्रयति । हे आज्य !

"इषे त्वा" । १ २२ । प्रविलापयामि ।

अथैतदुद्वासयति । हे आज्य !

"ऊर्ज्जे त्वा"* ॥ १ । २२ । उद्वासयामि ॥

अन्नरस इट् । तत्परिणाम रसस्तूर्क् ।

अथान्यः पुरोडाशमधिवृणक्ति गार्हपत्ये । रजस्वलायामनालम्भुकायां तु पत्न्या माहवनीयेऽधिश्रयति । हे पुरोडाश !

"धर्म्मोऽसि विश्वायुः" ॥ १ । २२ ॥

आप्यमानस्त्वं प्रदीप्तत्वात् प्रवर्ग्यरूपोऽसि पूर्णं चायुस्त्वत्तो लभ्यते ॥

अथ सर्वकपालेषु संश्लेषयितुमिव तं प्रसारयति । हे पुरोडाश त्वम् !

"उरुप्रथा उरुप्रथस्व, उरुते यज्ञपतिः प्रथताम्" ॥ १ । २२ ।

बहुप्रसरणस्वभावोऽसीति यथेच्छं प्रसर, यजमानश्च तवायं प्रजापश्वादिभिर्यथेच्छं प्रसरतु यावत्कपालमेव तं प्रथयेत् नातोऽत्यन्तम् । यावन्तमेव स्वयं मनसा न सन्त्रा पृथुं मन्येत तथा कुर्य्यात् । तत्रेदं त्रितयं सह क्रियते १—आग्नेयपुरोडाशाधिश्रयणमध्वर्य्युः । २—अग्नीषोमीय पुरोडाशाधिश्रयणमग्नीत् । ३—अथाज्याधिश्रयणं ब्रह्मा करोति । सति संभवेत्वध्वर्य्युरेवाज्यम् ।

अथ पुरोडाशमद्भिरभिमृशति सकृत् त्रिर्वा । सकृन्मन्त्रेण, द्विस्तूष्णीम् । हे पुरोडाश !

"अग्निष्टे त्वचं मा हिंसीत्" ॥ १ । २२ ।

अग्निना श्रपणायाभितप्स्यन् संभाव्यमानं त्वग्दाहं वारयितुमवधत्ते । अथैतं पर्य्यग्निं करोति ।

॥ इति संयवनादि ॥ १४ ॥

*ऊर्जे त्वेति मन्त्र भागः संहितायां मन्त्र नाम्नायते ।

१५—अथ श्रपणम्

अथ श्रपयति हे हविः !

"देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधिनाके" ॥ १ । २२ ।

सविता देवोऽत्यन्तवृद्धे द्युलोकस्थे नाकाग्नौ त्वां परिपक्वं करोतु ॥

"दिविनाको नामाग्नी रक्षोहा" इत्याह तित्तिरिः ।

अथ शृतं वेदानीत्येतमभिमृशति—

"मा भेर्मा संविक्था:" ॥ १ । २३ ।

अमानुषं सन्तं त्वा महं मानुषोऽभिमृशामीति हेतो रुद्वेगस्तेमाभूत् ।

अथ शृतंसन्तमभिवासयति भस्मना वेदेनोपवेपेण वाऽनग्नतायै रक्षो नाष्ट्रा नवदृष्ट्यै वा॥

"अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य

प्रजाभूयात्" ॥ १ । २३ ।

नेदेतदभिवासनमनुयज्ञोऽयं ग्लानि मेयात् । अग्लानिं चैतं यज्ञमनु यजमानस्य पुत्र पौत्रादिरप्यग्लानिर्भूयात् ॥

॥ इति श्रपणम् ॥ १५ ॥

१६—अथ पात्रीनिर्णेजनम्

अङ्गुलिप्रणेजनजलं पात्रीस्थमेवोल्कया तापयित्वा प्रत्यगसंस्यन्दमान माप्त्येभ्यो निनयति प्रतिमन्त्रम् । हे पिष्टलेप ! निनयामि—

"त्रिताय त्वा, द्विताय त्वा, एकताय त्वा" ॥ १ । २३ ॥

संवत्सरो नाम अग्निरेको वृत्तिभेदाच्चतुर्धा प्रतिपद्यते–छन्दोग्निः[1], ऋत्वग्निः[2], ब्रह्माग्निः[3], आहवनीयाग्नि[4] रिति । तत्र छान्दसोऽग्निः सप्तावयवो गान्धर्वः । अथार्त्तवोऽग्निः पञ्चावयव ऐन्द्रः । अथ ब्राह्मणोऽग्निः सांतपनो मैत्रावरुणः । भुवः पतिः, भुवनपतिः, भूतानां पति रित्येतेषां नामानि । त्रयोऽप्येते वषट् कारेण प्रयुक्ता निर्वषट्कारतया यज्ञभाजोन संभवन्तीति स्वयं पृथिव्याः सकाशाद् द्युपर्य्यन्तं हव्यं वोढुमसमर्थाः होतारो न भवन्ति ।

अथ चतुर्थोऽयमाहवनीय आदित्यो द्यावापृथिव्योरदितिमभिसंचरन् परितः समुद्रेऽप्सु प्रविश्य निलिनाति । तं देवा अनुविद्य सहसैवअदृश्य आनयन्ति । बलादानीतः सोऽवश्यं

केनचित् भागेनापोऽभितिष्ठेत्र । प्रथमाहरणे यावदपोभितिष्ठेत्र स त्रितः । द्वितीयाहरणे यावत् स द्वितः। तृतीयाहरणे यावत् स एकतः । अप्सु निलीनत्वा दापोमया हीमे बभूवुरित्याप्त्याः । देवैर्याचानयमाप्तस्ततोऽवशिष्टा हीतिवात आप्त्याः। त इन्द्रेण सह चेरुर्यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति। आप्य प्राणा असुरा नामेष्यन्ते। स यत्रायमैन्द्रः प्राणः प्राणानासुरान् प्रत्याहन्ति शश्वद्ध तत्रैनांस्त्रितो हन्ति, अन्तर्यामेनाप्सु प्रविष्टत्वात्। यद्धन्ति तेनैतेष्वासुरः प्राणो हतः शेते । एनो हि आसुरः प्राणः । तेनामी एनस्विनो भवन्ति । इन्द्रोऽयमादित्य प्राणो योंऽयमाहवनीयोऽग्निः स यज्ञः । तमन्वाप्त्याः परिचरन्तस्तिष्ठन्ति । तथाचात्र यज्ञे यद्येनः किंचित् संजिगमिषति, तदाप्त्येषु निनीयते, तदाप्त्या एवोपगच्छन्ति । तदेष्वेतद्यज्ञो । मृष्टे । दक्षिणा हि यज्ञस्य प्राणा वीर्य्यम् । तेन वीर्य्येणायं दक्षो भवन्नेनः, परितो निनयन्नाप्त्येषु यज्ञो मृष्टे । अथ यः पुनर दक्षिणो यज्ञः, तत्र वीर्य्यं नास्तीत्याप्त्या एवैतस्मिन्नेनः प्रत्यर्घ्यं मृजते । दक्षिणयातु यज्ञोऽग्निर्दक्षते । स एनांस्याप्त्येषुपरिचरेषु त्रिषु निनीय परिशुद्धो भवन् वीर्य्यवान् साधुहव्यं वोढुं समर्थते । हव्यं वहन्तं तु होतारमेतमहोतारोऽन्ये त्रयोऽग्नयः परितो लम्बिताः परिधयो भवन्ति । छान्दस आर्त्तवः सांतपनश्चेति । त एते यज्ञशरीरमभितो व्यवच्छेदयन्ति । एत एव चान्यत्र प्रयाजानुयाजा उपपद्यन्ते । पञ्चर्तवः प्रयाजास्त्रयोऽनुयाजाश्छन्दांसि । अपि वा द्वादशाग्नियः प्रयाजानुयाजाः—इत्याहु ।

अथैतद्दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणार्थमत्रावसरेऽन्वाहार्यमोदनमृत्विजां ब्राह्मणान मशनाय दक्षिणाग्नावधिश्रपयति । द्विविधा हीमे यज्ञे देवा इष्यन्ते । अधिदैवतमाग्नेयप्राणाः, अधियज्ञं यज्ञकर्तृतया दक्षिणाक्रीता ऋत्विग्ब्राह्मणाश्चेति । तेषां यज्ञयुक्तानां पशुस्थो मेध एवान्नमिष्यते यज्ञवीर्य्योपयोगित्वात् । पशुष्वेव तु केषुचित् समेधो लभ्यते । मेधयोगाश्चायं पांक्तः पशुरन्नमिति स्थितिः । द्विविधाहीमे पशवो भवन्ति । सेन्द्रियप्रज्ञा अनिन्द्रिय प्रज्ञाश्च। तत्र तावत् सेन्द्रियेषु पञ्चैव तु मेध्याः पशवो देवानामन्नं मेधयोगात् । पुरुषः, अश्वः, गौः, अविः, अज इति। अतएवाहुः पांक्तः पशुरन्नमिति । मेधा ह्येते पंचान्नं देवानाम् । सोऽधिदैवतं यत्र पुरुषमेधमात्मन्यालेभिरे सोऽपक्रान्तमेधः किंपुरुषो नामा मेध्यः पशुरजायत । एवं यत्राश्वमेधमात्मन्यालेभिरे सोऽपक्रान्तमेधो गौरो नामा मेध्यः पशुरजायत । यत्र च गोमेधमात्मन्यालेभिरे, सोऽपक्रान्तमेधो गवयो नामा मेध्यः पशुरजायत । अविमेधालम्भनाद् अपक्रान्त मेधोऽय उष्ट्रो नामामेध्यः पशुरजायत । अजमेधालम्भनादपक्रान्तमेधोऽयं शरभोनामा मेध्यः पशुरजायत । यज्ञवीर्य्यार्थं मेधप्राणलाभाय तु मेध्याः पशव आलब्धव्या भवन्ति । अपक्रान्तमेधास्त्वेते पशवः सन्तीति नैते देवेभ्यो देयाः। अपि च नैषां पशूनां माँसमश्नीयात्। अथैतेषाँ मेधा अनिन्द्रियेषूप

लभ्यन्ते। यथा व्रीहियवयोः। यावद्वीर्य्यवद्धा वा अस्यैते सर्वे पशव आलब्धाःस्युस्तावद् वीर्य्यवद्धास्य हविरेव भवति व्रीहे र्वायवाद्वा। स एष एव हि पांक्तः पशुरुपपद्यते॥

इति हविः करणादि–पात्रीनिर्णेजनान्तानाम्। एकादशकर्म्मणां विधायकं पुरोडाश ब्राह्मणं पूर्णम्॥ १६॥

१७—अथ वेदिनिर्म्माणम्

अथ स्फ्यमादत्ते। तत्रापि न स्वहस्ताभ्यां, किंतु देवविशेषहस्ताभ्यां गृह्णामीत्यावेदयितुं प्रस्तौति—

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्यां, आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः"॥ १। २४।

वेदिखननादिद्वारेण यज्ञसंपादकं स्फ्यं देवोपकारोद्देश्येन गृह्णामीत्याह।

अथैनत् सतृणं सव्ये कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपति। हे स्फ्य! त्वम्—

"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः, सहस्रभृष्टिः
शततेजाः वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतोबधः"॥ १। २४।

इन्द्रेण बाहुना धृतत्वात्तत्समानवीर्य्योपेतत्वाद्वा त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि सहस्रमितानामपि शत्रूणां नाशको बहुधा दीप्यमानश्च। किंच यथा वायुर्वह्निं प्रदीप्य तीव्रां ज्वालामुत्पादयंस्तीव्रतेजा भवति। एवं त्वमपि स्तम्बच्छेदरूपं कर्म कुर्वन् तीव्रतेजाः कर्मद्वेषिणामसुरादीनां हन्ता चासीत्याह॥

अथ तृणेऽन्तर्हिते स्फ्यनैतेन प्रहरति—

"पृथिवि देवयजनि ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्"॥१। २५।

हे देवयजनकरणाधिभूते पृथिवि! तत्रौषध्यास्तृणरूपाया मूलमहं मा विनाशयामीत्याह।

अथ पुरीषमादत्ते। स्फ्यप्रहारोत्पन्नामृत् पुरीषमुच्यते। हे पुरीष!

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्"॥ १। २५।

यत्र गावस्तिष्ठन्ति तथाविधं गोसञ्चारप्रदेशं गच्छेत्याह। अथ वेदिं प्रोक्षति। हे वेदे!

"वर्षतु ते द्यौः"॥ १। २५।

खननजनितदुःखशान्त्यर्थमिव द्यौर्देवस्त्वदर्थं जलसेकं करोत्वित्याह।

अथ स्फ्योत्खातां मृदमुत्करे त्यजेत्।

"वधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या
शतेन पाशैः, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं
द्विष्मः तमतो मा मौक्"—॥ १ । २५ ।

हे सवितर्देव ! योऽस्माकं द्वेषं करोति, यस्य च वयं द्वेषं कुर्मः, तमुभयविधमपि शत्रुमन्तिमायां पृथिव्यामन्धे तमसि शतसंख्याभिर्बन्धनरज्जुभिर्बधान । तस्माच्चैतस्मादन्धतामिस्रान्नरकात् तमेनं कदापि मा मुञ्चेत्याह । अन्धे तमसि बधानेति । यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति श्रुतिः १।२।४।१६।२५ ॥

अत ऊर्ध्वं स्फ्येन द्वितीयं प्रहरति—

"अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्बध्यासम्"—१।२६।

पृथिव्या सम्बन्धिनो देवयजनाख्याद्वेदिस्थानादररुं नामासुरमपबध्यासम् । अपनीय यथा हतो भवति तथा करवाणीत्याह ।

अथ पुरीषमादत्ते—हे पुरीष !

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्"—१।२६।

यत्र गावस्तिष्ठन्ति तादृशं गोसञ्चार देशं गच्छेत्याह ।

अथ वेदिं प्रोक्षते—

"वर्षतु ते द्यौः"—१।२६।

खनन जनित दुःख शान्त्यर्थमिव द्यौर्देवस्त्वदर्थं जलसेकं करोत्वित्याह ।

अथ स्फ्योत्खातां मृदमुत्करे करोति—

"बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां,
शतेन पाशैः, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च
वयं द्विष्मः तमस्मा मा मौक्" ।१।२६।

उत्करे क्षिप्तायां धूल्यां निगूढस्य शत्रोस्तत्र बन्धनं कुरु । यत्र भूमेरन्तिमप्रदेशेऽन्धतामिस्रो नाम नरकोऽस्ति, बद्धं चैनमस्मात् स्थानात् कदापि मा मुञ्चेत्याह ।

अथ तमुत्करमग्नीदभिन्यस्यति—

"अररो दिवं मा पप्तः"—॥ १ । २६ ।

हे अररो असुर ! यागफलरूपे स्वर्गे त्वया न गन्तव्यमित्याह ।

अथ ऊर्ध्वं स्फ्येन तृतीयं प्रहरति—

"द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्" ॥ १ । २६ ।

हे वेदि देवते ! पृथिवीरूपायास्तव द्रप्स उपजीव्यो रसोद्युलोकं मा स्कन्दतु मा गच्छतु इत्याह ।

अथ पुरीष मादत्ते । हे पुरीष !

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्" ॥ १ । २६ ।

अथ वेदिं प्रोक्षते—हे वेदे !

"वर्षतु ते द्यौः" ॥ १ । २६ ।

अथ स्फ्योत्खातां मृदमुत्करे करोति—

"बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां
शतेन पाशैः, योऽस्मान् द्वेष्टि, यंच वयं द्विष्मः
तमतो मा मौक्" ॥ १ । २६ ।

अथ यस्मात् प्रदेशात्—अररुर्निष्काशितः, तत्र वेदेरियत्तां निश्चेतुं स्फ्येन दक्षिणादि-दिक्त्रये क्रमेण रेखात्रयकरणं पूर्वः परिग्रहः । तत्र विष्णुर्देवता, ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्निति श्रुतेः । (१.२.५.६) तत्र दक्षिणतस्तावत्पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति। हे विष्णो !

"गायत्रेण त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि" ॥ १ । २७ ।

अथ पश्चिमतः—

"त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि" ॥ १ । २७ ।

अथोत्तरतः—

"जागतेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि" ॥ १ । २७ ।

गायत्र्यादिच्छन्दस्त्रयरूपतया भावितेन स्फ्येन दिक्त्रये परिगृह्णामीत्याह ।

देवाश्चासुराश्च उभये प्राजापत्याः पूर्वं स्पर्धां चक्रुः । तदा देवान् परिजितान्मत्वा भूमिमसुरा विभेजुः । तदा देवा व्यचिन्तयन्, के ततः स्याम, यदि वयमस्या भागं न भजेमहीति ।

ततो वामनरूपं विष्णुमग्रे कृत्वाऽसुरानागत्य "अस्मभ्यमपिभूम्यंशो दातव्यः" इति तानयाचिषुः ततोऽसुरा असूयन्त इव "अयं विष्णुर्यावति भूभागे शेते तावान् भवदीयोऽस्तु" इत्यूचुः। ततो देवा बह्वेतदस्माकमित्युक्त्वा प्राञ्चं विष्णुं निपात्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् यथास्य पूर्वस्या माहवनीयोऽग्निरेवान्यत्र तु दिक्त्रये छन्दोदेवता असुरेभ्यः पालको भविष्यतीति। तदित्थं ते यज्ञभूमिं जगृहुः। यज्ञो वै विष्णुः स यत्र तिष्ठति सैव यज्ञभूमिरिति तैर्विदितत्वादियं भूमिर्वेदिरित्युच्यते इतिश्रुतेः (१,२,५,१,७) वेदेरेव दिक्त्रये पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति।

अतः परमुत्तरं परिग्रहं परिगृहणाति। वेदिखननात्पूर्वं क्रियमाणः पूर्वः परिग्रहः, पश्चात् क्रियमाण उत्तरः परिग्रहः। तत्रापि पूर्ववत् दिक्त्रये स्फ्येन रेखात्रयं कार्यम्। तत्र तावद्दक्षिणत परिगृह्णाति। हे वेदे त्वम्!

"सुक्ष्मा चासि शिवा चासि" ॥ १। २७।

खननेनाश्मादिदोषनिवर्त्तनाच्छोभना भूमिरसि। उग्रस्यासुरस्य निष्काशनेन शान्ता चासीत्याह।

अथ पश्चिमतः—

"स्योना चासि सुखदा चासि" ॥ १। २७।

सुखरूपासि, देवानां सम्यगुपवेशनयोग्या चासीत्याह।

अथोत्तरतः—

"ऊर्ज्जस्वती चासि पयस्वती चासि" ॥ १। २७।

अन्नवती दध्यादि गव्यवती चासीत्याह ॥१।२७॥

अथ खातायां वेद्यां लोष्ठकृतवैशम्यनिवृत्तये समीकरणरूपं मार्जनं कुर्यात्। तत्र यज्ञो वेदित्वं प्राप्तो विष्णुः संबोध्य प्रार्थ्यते—

"पुरा क्रूरस्य विस्टपो विरप्शिन्नुदा-
दाय पृथिवीं जीवदानुम्।
यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु
धीरासो अनुदिश्य यजन्ते" ॥ १। २८।

हे विरप्शिन् हे महन् भगवन्विष्णो! पूर्वं नानायोधसंकुलस्य संग्रामस्य मध्यात् देवा जीवस्य धात्रीं सारभूतां पृथिवीमूर्ध्वं गृहीत्वा वेदैः सह चन्द्रमसि प्राक्षिपन्। तामेव चन्द्रस्थां

पृथिवीं दर्शनेन संपाद्य सैव भूमिरस्यां वेद्यां विद्यते इति भावयित्वा विद्वांसो यागं कुर्वन्तीत्याह ॥

"सङ्ग्रामो वै क्रूरम" (श० १, २, ५, १९) इति । "चन्द्रमसि ब्रह्मणा दधुरिति च श्रुतिः। अत्रेयमाख्यायिका श्रूयते (१,२,५,१८)

कदाचिद्देवानामसुरैः सह संग्राम उपस्थितः। तदा देवैर्मिथो मन्त्रितं—यदस्या भूमेरुत्कृष्टं देवयजनस्थलं तच्चन्द्रे संस्थाप्य युद्धं कुर्म्मः। तत्र यद्यप्यस्माकं पराजयः स्यात् तदा देवयजने यागं विधाय पुनर्दैत्यपराजयं करिष्याम इति संमन्त्र्य भूमेः सारभागं देवयजनं चन्द्रे स्थापयामासुः, तत्कृष्णवर्णमिदानीमपि दृश्यते—इत्याख्यानमयं मन्त्रो दर्शयति।

अथाग्नीध्रं प्रति प्रैषः—

"प्रोक्षणीरासादय" २ ॥ १ । २८ ।

याभिः प्रोक्ष्यन्ते ता अपो वेद्यां स्थापयेत्याह।

ततः स्फ्यमुदञ्चं प्रहरति। हे स्फ्य! त्वम्—

"द्विषतो बधोऽसि" ३ ॥ १ । २८ ।

शत्रोर्हिंसकोऽसीत्याह ॥ ३ ॥ २८ ॥

॥ इति वेदिनिर्म्माणम् ॥ १७ ॥

१८—अथ पात्रप्रतपनम्

अतः परं यथा शूर्पाग्निहोत्रहवण्योः प्रतपनं कृतं तथा स्रुवस्यापि कुर्वन् जपति—

"प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः
निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" १ इति ॥ १ । २९ ।

अथ वेदाग्रैरन्तरतः प्राक् सम्मार्ष्टि—

"अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्,
वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि" २ ॥ १ । २९ ।

हे स्रुव! नितरां तीक्ष्णीकृतो निशितस्तीक्ष्णोपद्रवकारी तथा न भवसि। यतस्त्वमस्माकं शत्रुक्षयकरोऽसि। तथाविधं यज्ञद्वारा अन्नहेतुत्वादन्नवन्तं वा त्वां यज्ञस्य दीप्त्यै सम्यक् शोधयामीत्याह।

शोधितेन हि स्रुवेणाज्ये गृहीते हुते च सति अग्निर्दीप्यते, तद्दीप्त्याहुतिफलभूतमन्नं प्रकाशितं भवति। अतः परमेवमेव जुहूपभृद्ध्रुवाख्यास्तिस्रोऽपि स्रुचः प्रत्येकम्—

"प्रत्युष्टं रक्षः, प्रत्युष्टा अरातयः,
निष्टप्तं रक्षो, निष्टप्ता अरातयः" ३ ॥ १ । २९ ।

इति जपन् प्रतप्य प्रतप्य—

"अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनीं
त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि" ४ ॥ १ । २९ ।

इति संमृज्य वेद्यां स्थापनार्थमध्वर्य्यवे प्रयच्छति।

"योषा वै स्रुग् वृषा स्रुवः" (श० १,३,१,९) इत्यादि श्रुतेः स्रुवस्य पुंस्त्वादादौ संमार्जनं स्रुचां तु स्त्रीत्वात्पश्चात् ॥ ४ । २९ ॥

॥ इति पात्र प्रतपनम्॥ १८ ॥

१९—अथ पत्नी संहननम्

ततः पत्नीं संनह्यति प्रत्यग् दक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरत्यधीवासः।

"अदित्यै रास्नासि" १ ॥ १ । ३० ।

हे योक्त्र! त्वम्—भूम्या रशना भवसीत्याह ॥

दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्द्ध्वमुद्गूहति।

"विष्णो र्वेष्पोऽसि" २ ॥ १ । ३० ।

हे दक्षिणपाश! त्वम्—यज्ञस्य व्यापकोऽसीत्याह।

तत आज्यमुद्वासयेत्—हे आज्य!

"ऊर्जे त्वा" ३ ॥ १ । ३० ।

उत्तमरसलाभाय त्वामुद्वासयामीत्याह। भवति हि विलापितं घृतं सुस्वादु।

ततः पत्नीमाज्यमवेक्षयति—हे आज्य!

"अदब्धेन त्वा चक्षुषाऽवपश्यामि, ४ ।
अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो, ५ धाम्ने धाम्ने
मे भव यजुषे" ६ ॥ १ । ३० ।

अनुपहिंसितेन चक्षुषा त्वामवपश्यामि, अवाचीनं यथा तथाधोमुखी सती पश्यामि। त्वं हि खलु अग्नेर्जिह्वा भवसि—यदाज्यमग्नौ हूयते तदा जिह्वेव ज्वालोत्पद्यते, सा हि जिह्वा देवेभ्योऽर्थाय सुहूः, अनया खलु देवाः सुष्ठु आहूयन्ते। यद्वा सुष्ठु हुयसे इति कृत्वा त्वमसि देवेभ्यः सुहूः स त्वं मम तत्तद्यागफलोपभोगस्थानसिद्ध्यर्थं तत्तद्यागसिद्ध्यर्थं च भवेत्याह ॥ ६ । ३० ॥

अथाज्यमुत्पुनाति।

"सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण
पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः" १ ॥ १ । ३१ ।

हे आज्य! सवितुर्देवस्याज्ञायां वर्तमानोऽहं पवमानेन सूर्य्यकिरणैर्वा त्वां शोधयामीत्याह ॥

एवं प्रोक्षणीरप्युत्पुनाति। हे प्रोक्षण्यः!

"सवितुर्वः प्रसव उत्पुनामि अच्छिद्रेण
पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः" २ ॥ १ । ३१ ।

तत आज्यमवेक्षते। हे आज्य! त्वम्—

"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" ३ ॥ १ । ३१ ।

शरीरकान्तिहेतुत्वात्तेजोरूपमसि। स्निग्धरूपत्वाद्दीप्तिमदसि, तथा बहुदिवसावस्थानेऽपि पर्युषितत्वादिदोषसंसर्गेण विनाशरहितमसीत्याह।

ततः स्रुवेण चतुर्जुह्वामाज्यं गृह्णीयात्—हे आज्य! त्वम्—

"धाम नामासि, प्रियं देवानामनाधृष्टं
देवयजनमसि" ४ ॥ १ । ३१ ।

देवानां चित्तवृत्तिनिधानस्थानमसि। किंच, आज्यं दृष्ट्वा सर्वेऽप्यत्तुं नमन्तीत्यात्मनं प्रति भूतानां नमनकर्तृ, भवसि, एवं देवानामिष्टमसि, यथा चरुपुरोडाशादीनि चिरस्थित्या गतसाराणि तिरस्कृतानि स्युर्नैवं त्वमपि तिरस्कृत भवसीत्यनाधृष्टमसि, देवानां यागसाधनं चासीत्यत ईदृशं त्वां गृह्णामीत्याह ॥ ४ ॥ ३१ ॥

अतः परमिध्मं विस्रंस्य प्रोक्षेत्—

"कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं
प्रोक्षामि" १ ॥ २ । १ ।

हे इध्म! त्वम् कृष्णमृगरूपो यज्ञोऽसि—इध्मपूकस्य यज्ञसाधनत्वाद्यज्ञत्वोपचारः।

एवमेव त्वं समन्तात्कठिनवृक्षस्थायित्वादाखरेष्ठोऽसि। अतोऽग्नये प्रियं त्वां शुद्ध्यर्थं जलेन प्रोक्षामीत्याह।

यज्ञः कदाचिद्देवेभ्योऽपक्रान्तः स्वगोपनाय कृष्णमृगो भूत्वा वने यज्ञियतरुमध्ये प्रविश्य कुत्रचित्कठिने वृक्षे तस्थौ—इति श्रुतावाम्नातम्। (श० १।१।४।१)

अथ वेदिं प्रोक्षेत्—

"वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि" २॥२।१।

हे वेदे! बर्हिषो धारणोपयोगितया प्रियां त्वां प्रोक्षामीत्याह।

अथ बर्हिरादाय वेद्यां पूर्वग्रन्थिं कृत्वा प्रोक्षेत्। हे दर्भ! त्वम्—

"बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" ३॥२।१।

प्रभूतत्वाद्वेदिबृंहणसमर्थमसि। अतः स्रुचां धारणात् प्रियं त्वां प्रोक्षामीत्याह।

शेषं जलं मूलेषूपसिञ्चति—हे प्रोक्षणशेषोदक—

"अदित्यै व्युन्दनमसि" १॥२।२।

त्वं भूम्या विशेषेण क्लेदनमसीत्याह।

ततो बर्हिर्विस्रंस्य पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति। हे दर्भमुष्टिरूप प्रस्तर! त्वम्—

"विष्णो स्तुपोऽसि" २॥२।२।

दर्भसंघातरूपत्वात्केशसंघातरूपा यज्ञस्य शिखेव भवसीत्याह।

ततस्तेन वेदिं स्तृणाति—

"ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां
देवेभ्यः" ३॥२।२।

हे वेदे! ऊर्णवन्मृदुतरां देवार्थे सुखेनासितुं स्थानभूतां त्वां बर्हिषा छादयामीत्याह।

अथ हविर्ग्रहणकाले परिधिभ्यो बहिर्यद्धविः स्कन्नं तद् भुवपत्यादिभ्यस्त्रिभ्योऽग्नेर्भ्रातृभ्यो दीयते—

"भुवपतये स्वाहा—भुवनपतये स्वाहा—
भूतानां पतये स्वाहा" ४॥२।२।

स्वाहाकारं च वषट्कारं च देवा उपजीवन्तीति श्रुतेर्देवान्प्रति यद्दीयते तत्स्वाहाशब्देनाह।

इमे हि भुवपत्यादयस्त्रयोऽग्नेर्भ्रातरः। ते पुरा वषट्कारभयाद् भूमिं प्राविशन्। तद्दुःखेनाग्निरपि पलाश्योके प्राविशत्। ततो देवैरानीय स्वाधिकारे स्थाप्यमानोऽयमब्रवीत्।

"एतैर्मद्भ्रातृभिर्मां परिधत्त, एषां च यज्ञभागः कल्पताम्" इति। ततस्तेऽग्नेर्भ्रातरः परिधयो जातास्तेषां च स्कन्नं हविर्भागः कृतः इति श्रूयते। (श० १।३।३।१३–१६)॥४।३३॥

ततो मध्यम दक्षिणोत्तरान् परिधीन् परिदध्यात्। तत्रादौ पश्चिमतः—हे परिधे!

"गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु
विश्वस्यारिष्ट्यै; यजमानस्य परिधि—
रस्यग्निरिड ईडितः" १॥२।३।

विश्वावसुनामा गन्धर्वः आहवनीयस्थानरूपस्य विश्वस्य परिध्यभावेऽसुराः प्रविश्य यथा मा हिंसेयुस्तथा रक्षितुमाहवनीयस्य पश्चिमतः त्वां स्थापयतु। किंच त्वं न केवल मग्नेः परिधिः किन्तु यजमानस्यापि परिधिरसि, यजमानमप्यसुरेभ्योरक्षितुं पश्चिमदिशिस्थापितोऽसि। किञ्चाहवनीयस्य प्रथमो भ्राता भुवपति नामाऽग्निस्त्वमसि। स्तुतियोग्यस्त्वमसि। होत्रादिभिः स्तुतश्चासीत्याह—

अथ दक्षिणं परिधिं परिदधाति—

"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्या-
रिष्ट्यै, यजमानस्य परिधिरस्यग्नि-
रिड ईडितः" २॥२।३।

हे द्वितीय परिधे! त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। भुवनपतीनामाग्निरसीत्याद्याह।

अथोत्तरं परिधिं परिदधाति—

"मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां
ध्रुवेण धर्म्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै,
यजमानस्य परिधिरस्याग्निरिड ईडितः" ३॥२।३।

हे तृतीय परिधे! वाय्वादित्यौ स्थिरेण धारणेनोत्तरस्यां दिशि त्वां स्थापयताम्। त्वं च भूतानां पतिर्नामाग्निरसीत्याद्याह॥३।३४॥

अतः परं प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्यादधाति—

"वीतिहोत्रं त्वा कवे, द्युमन्तं सामिधी-
महि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" १॥२।४।

हे कवे! हे अग्ने! अपत्यपशुधनादिभिः समृद्धिकरहोमं कान्तिमन्तं महान्तं च त्वां

योगे निमित्ते अनेनेध्मकाष्ठेन दीपयाम इत्याह। अतीतानागतदूरेवर्त्तिपदार्थानां यस्य युगपज्ज्ञानं स कविः ॥ १ । ३५ ॥

अथानुपस्पृश्य द्वितीयमादधाति। हे इध्मकाष्ठ!

"समिदसि" १ ॥ २ । ५ ।

त्वमग्नेः समिन्धनं दीपनमसीत्याह।

अथाहवनीयमीक्षमाणो जपति—

"सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्या-
श्चिदभिशस्त्यै" २ ॥ २ । ५ ।

हे आहवनीय! पूर्वस्यां दिशि सर्वस्या हिंसायाः सकाशात्त्वां सूर्य्यः पात्वित्याह। अस्तिहि दिक्त्रये परिधित्रयं रक्षकम्, अथ पूर्वस्यां तदभावाद् सूर्य्यो रक्षकत्वेनोच्यते। तथा च श्रुतिः (श० १। ३। ४। ८)। "गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्ति। अथैतत् सूर्य्यमेव पुरस्तात् गोप्तारं करोति"

अतः परं प्रस्तरस्थापनार्थं तृणद्वयं तिर्यग् निदध्यात्। हे तृणे! युवामुभे—

"सवितुर्बाहू स्थः" ३ ॥ २ । ५ ।

प्रस्तरधारणेन सूर्य्यस्य बाहू इव भवथः।

अथ तयोः प्रस्तरं स्तृणाति—

"ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि
स्वासस्थं देवेभ्यः" ४ ॥ २ । ५ ।

ऊर्णवन्मृदुतरं देवार्थे सुखेनासितुं स्थानभूतं त्वां स्तृणामीत्याह।

अथ प्रस्तरं प्रति पाणी निदधाति।

"आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु" ५ ॥ २ । ५ ।

हे प्रस्तर! सवनत्रयाभिमानिनो वसुरुद्रादित्यास्त्रयो देवास्त्वामासदन्तु, सर्वतः प्रसारयन्त्वित्याह ॥ ५ । ३६ ॥

अतः परं सव्याशूस्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति। हे जुहु!

"घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना, सेदं प्रियेण
धाम्ना प्रियं सद आसीद" १ ॥ २ । ६ ।

हे जुहू! त्वं घृतपूर्णा भवसि नाम्ना च जुहूः। सा त्वं देववल्लभेनाज्येन सह इदं प्रस्तरलक्षणं प्रियं सदोऽधितिष्ठेत्याह। एतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यं इति श्रुति (श. २।३।२।१७)

एवमुपभृतं सादयति। हे उपभृत्! त्वम्—

"घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना, सेदं प्रियेण

धाम्ना प्रियं सद आसीद" २ ॥ २ । ६ ।

अथैवमेव ध्रुवां सादयति। हे ध्रुवे!

"घृताच्यासि ध्रुवा नाम्ना, सेदं प्रियेण

धाम्ना प्रियं सद आसीद" ३ ॥ २ । ६ ।

यया हूयते सा जुहूः। या च समीपे स्थित्वा धारयत्याज्यं सोपभृत्। या तु होमार्थं जुहूपभृताविव न चलति सा स्थिरत्वाद् ध्रुवा।

ततो हवींषि वेद्यां कुर्यात्—हे हविः! त्वम्—

प्रियेण धम्ना प्रियं सद आसीद ४ ॥ २ । ६ ।

इत्येवमेकैकं हविरामन्त्र्य वेद्यां कृत्वा सर्वाणि हवींषि पश्चादात्मानं चालभेत्—

"ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ, ता विष्णो

पाहि, पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिं, पाहि

मां यज्ञन्यम्" ५ ॥ २ । ६ ।

हे विष्णो! हे यज्ञपुरुष! अवश्यं भाविफलोपेतत्वेन सत्यस्य यज्ञस्य स्थाने यानि हवींषि ध्रुवाण्यतिष्ठन् तानि रक्ष, यज्ञं रक्ष, यज्ञपतिं रक्ष, तथाऽध्वर्युं मामपि रक्षेत्याह ॥ ५ । ३७ ॥

अतः परमिध्मसंनहनै स्नुपरिधि त्रिस्त्रिः परिक्रम्य संमार्ष्टि—

"अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाज-

जितं संमार्ज्मि" १ ॥ २ । ७ ।

हे अन्नजित्! हे अग्ने! अन्नमुद्दिश्य गमिष्यन्तमन्नसंपादनोपयुक्तं तथा अन्नमुद्दिश्य जयोपेतमन्न प्रतिबन्धनिवारकं त्वामहं शोधयामीत्याह।

ततो देवान् पितॄंश्चोपचरेत्—तत्रापरमाहवनीयादञ्जलिं प्राङ्मुखः करोति—

"नमो देवेभ्यः" २ ॥ २ । ७ ।

अस्त्विति वाक्यशेषः।

ततः पितॄनत्यर्थं दक्षिणामुख उत्तानमञ्जलिं कुर्यात्—

"स्वधा पितृभ्यः" ३ ॥ २ । ७ ।

अस्त्विति वाक्यशेषः ।

ततो जुहूपभृतावादाया मन्त्रयेत् हे जुहूपभृतौ—

"सुयमे मे भूयास्तम्" ४ ॥ २ । ७ ।

युवां मदर्थं सुष्ठु नियते भवतम् । यथा युवयोः स्थितमाज्यं न स्कन्देदित्याह ॥४।३८॥

तथा सति—

"अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं संभ्रियासम्" १ ॥ २ । ८ ।

अद्यानुष्ठानदिने देवोपकाराय युवयोः स्थितमाज्यं भूमौ यथा न स्कन्दति तथा सम्यक् पोषणं धारणं वा क्रियास मित्याह ।

ततो दक्षिणातिक्रामति —

"अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वा वक्रमिषम्" २ ॥ २ । ८ ।

हे विष्णो ! हे यज्ञ पुरुष ! त्वामहं पादेन माऽवक्रमिषमिति । पादेनातिक्रमणदोषो मे मा भूदित्याह ।

तत आहवनीयसमीपवर्तिस्थानेऽवस्थाय जुहोति । तत्र तावदवतिष्ठमानो ब्रूयात्—

"वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषं
विष्णोः स्थानमसि" ४ ॥ २ । ८ ।

हे अग्ने ! तव छायावत्समीपवर्तिनीं भूमिमहमुपतिष्ठेयम्—

हे वसुमति ! हे भूमे ! त्वं यज्ञस्य स्थानमसि, यत्र स्थित्वा यागः कर्तुं शक्यते इत्याह। अथवा हे अग्ने ! धनवतीं तव छायामुपस्थेषमिति, धनप्राप्तिकरं तवाश्रयं गृह्णीयां—यतस्त्वं यज्ञस्य स्थानमसीत्याह ।

अथ जुह्वानो ब्रूयात्—

"इतइन्द्रो वीर्यमकृणो दूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्" ५ ॥ २ । ८ ।

एवमुक्तस्य यज्ञस्थानस्यासुरानाक्रान्त त्वादेतस्मादेव देवयजनस्थानादुद्युक्तः सन्निन्द्रः शत्रुवधरूपं वीर्य्यमकरोत्, अतएव यज्ञ उन्नतः स्थित इत्याह । यदीन्द्रो वीर्य्यं नाकरिष्यत्तदा शत्रुकृतविघ्नातिशयादध्वरो नौन्नत्यमगमिष्यदिति हि पश्यति ॥ ५ । ३९ ॥

तस्मात्—

"अग्ने वेर्होत्रं, वेर्दूत्यम्। अवतां त्वां
द्यावापृथिवी, अव त्वं द्यावापृथिवी।
स्विष्टकृद् देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा
भूत् स्वाहा" १ ॥ २ । ६ ॥

हे अग्ने ! त्वं होतुः कर्म विद्धि—दूतकर्म च विद्धि।

"उभयं वा एतदग्निर्देवानां होता च दूतश्च" इति श्रूयते (श० १।४।५।४)

हे अग्ने ! त्वां द्यावापृथिवी पालयतां त्वञ्च द्यावापृथिवी पालय। इत्थमन्योन्यपालने सति, इन्द्रः अस्माभिर्दत्तेनाज्येन हविषा देवार्थं स्विष्टकृद्भवतु, इन्द्रं देवमुद्दिश्य चेदमाज्यं सुहुतमस्तु इत्याह ॥

अथ जुह्वा ध्रुवां समनक्ति—

"सं ज्योतिषा ज्योतिः" २ ॥ २ । ६ ॥

गच्छतामित्यध्याहारः। ध्रुवास्थिताज्यरूपेण ज्योतिषा सह जुह्वा सिच्यमानं ज्योतिः संगच्छतामित्याह ॥ २ ॥ ४० ॥

अथ प्रधानयागानन्तरं पुरोडाशशेषप्राशनसमये होतरि आशिषं प्रयुञ्जानेसति यजमानो जपति—

"मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान्—
रायो मघवानः सचन्ताम्, अस्माकं
सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः" ॥ १ ॥ २ । १० ॥

परमेश्वरो मदपेक्षितं वीर्य्यं मयि यजमाने स्थापयतु। किञ्च धनवन्ति धनानि अस्मान् यजमानान् सेवन्ताम्। किञ्च, अस्माकं यजमानानामभीष्टार्थाशंसनानि भवन्तु। किञ्च अस्माकमिमाः पूर्वोक्ता आशिषोऽवितथा भवन्त्वित्याह ॥

अथ यदा होता द्यावापृथिव्योरुपह्वानं करोति तदोभयोः पुरोडाशयोरेकैकमंशं षडवत्ते षडवत्ते कृत्वाऽऽग्नीध्रे ददाति स च तत्प्राश्नाति तत्रेदं जपति

"उपहूता पृथिवी मातोपमां पृथिवी
माता ह्वयताम्। अग्निराग्नीध्रात्स्वाहा" २ ॥ २ । १० ॥

येयमुपहूता पृथिवी सा जगतो निर्मात्री । अतो मातृत्वेनास्माभिर्भाविता सती सा पृथिवी मामनुजानातु, येनाहमग्नीध्र कर्महेतोरग्निः सन् तं भागं प्राश्नामि । जाठरेऽग्नौ सुहुतमस्त्वित्याह ॥ २ ॥ ४१ ॥

द्वितीयं प्राश्नाति तत्रेदं जपति—

"उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौः पिताह्वयता—
मग्निराग्नीध्रात् स्वाहा" १ ॥ २ । ११ ॥

अथेतः प्रभृति, ओं प्रतिष्ठेत्यन्तं ब्रह्मत्वम् ।

तत्र ब्रह्मा प्राशित्रं गृह्णाति—हे प्राशित्र !

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि" २ ॥ २ । ११ ॥

अथ दन्तैरनुपस्पृशन् प्राश्नाति—हे प्राशित्र !

"अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि" ३ ॥ २ । ११ ।

अग्नेर्देवस्य मुखेन त्वां भक्षयामीत्याह ॥ ३ ॥ ४२ ॥

अथ समिधमाधातुमनुज्ञाप्रदानाय बोधितो ब्रह्ममन्त्रेणानुजानीयात् । तत्र मन्त्रः ।

"एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे ।
तेन यज्ञमव, तेन यज्ञपतिं, तेन मामव १ ॥ २ । १२ ।
मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य, बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोतु ।
अरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु, विश्वेदेवास इह मादयन्ताम्" ओ३म्प्रतिष्ठ
२ ॥ २ । १३ ॥

हे सवितर्देव ! इदानीं क्रियमाणमिमं यज्ञं त्वदर्थं यजमानाःकथयन्ति । तथा देवानां यज्ञे त्वया प्रेरितो यो ब्रह्मा—तस्मै ब्रह्मणे बृहस्पतये च कथयन्ति । "बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा" इति श्रुतेः । अतस्तवायं यज्ञ इति हेतो स्त्वमिमं यज्ञं रक्ष । यजमानं च रक्ष । मां ब्रह्माणश्च रक्ष ॥४३॥ किं च हे सवितः! अतीतानागतवर्तमानपदार्थेषु शीघ्रगमनशीलं त्वदीयं चित्तं यज्ञ संबन्धि घृतं सेवताम् । किं च बृहस्पति र्ब्रह्मत्वादिमं यज्ञं विस्तारयतु ततो हिंसारहितं कृत्वा इमं यज्ञं संदधातु । किं च सर्वे देवा इह यज्ञकर्मणि तृप्यन्ताम् । अथैवं प्रार्थितः सविता (ओं प्रतिष्ठ) 'तथास्तु—प्रयाणं कुरु' । इत्यनुज्ञां प्रयच्छतु इत्याह । समिदा धानकाले यजमानस्याभिप्रेतं प्रयाणमवगम्य सविताङ्गीकृत्य प्रयाणे प्रेरयति ॥२॥४४॥ कृतं ब्रह्मत्वम् । अतः परं प्राकृतमार्षम्—

अथ होताऽनुमन्त्रयते—

"एषा ते अग्ने समित्, तया वर्द्धस्व चा

चप्यायस्व । वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि" १ ॥ २ । १४ ॥

हे अग्ने ! अयं तव समिन्धन हेतुः काष्ठविशेषः, तद्बलेन त्वं वृद्धिं गच्छ, अस्मानपि सर्वतो वृद्धिं प्रापय । तथा च सति त्वत्प्रसादाद्वयं वृद्धिं प्राप्नुयाम, अस्मदीयपुत्रपश्वादीनपि सर्वतो वृद्धान् करवामेत्याह ।

अतः परं यथापूर्व मिध्मसंनहनैरनुपरिधि त्रिस्त्रिः परिक्रम्याग्नेः संमार्गः कृतस्तथात्र परिक्रमणवर्ज मेकैकवारमेवाग्निं संमार्ष्टि—

"अग्ने वाजजिद्द् वाजं त्वा ससृवांसं

वाजाजितं सम्मार्ज्मि" २ ॥ २ । १४ ॥

हे अग्ने ! हे अन्नजित् ! अन्नमुद्दिश्य गतवन्तमन्नं संपादितवन्तं त्वामहं शोधयामीत्याह ॥ २ ॥ ४५ ॥

अथ यजमानो जुहूपभृतौ व्यूहति । परस्पर विपरीतत्वेनापनोदनं व्यूहनम् । तत्र जुहूं प्राचीं प्रेरयति—उपभृतं प्रतीचीं प्रेरयति क्रमेण—

"अग्नीषोमयो रुज्जितिमनूज्जेषं,

वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि । अग्नीषोमौ

तमपनुदतां, योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं

द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ।" १ ॥ २ । १५ ।

अग्नीषोमयो र्द्वितीयपुरोडाशदेवतयो रुत्कृष्टं जयमनुसृत्य अहमुज्जेषम् । उत्कृष्टं जयं आप्तवानस्मि । अन्नस्य पुरोडाशादेरभ्यनुज्ञया मां जुहूरूपधारिणं यजमानं प्रोत्साहयामीत्याह । अथ यः शत्रुरसुरादिरस्मदीय यज्ञविनाशाय द्वेषं करोति, यं चास्मदीयानुष्ठानविरोधिनं शत्रुमालस्यादिरूपं विनाशितुमुद्युञ्जमः, तमुभय विधमपि शत्रुमग्नीषोमौ देवौ निराकुरुताम् । किंच अहमप्येनं द्विविधं शत्रुमुपभृद्रूपं पुरोडाशदेवताया अभ्यनुज्ञया निराकरोमीत्याह ॥

अथ दर्शे अग्नीषोमयोः स्थाने इन्द्राग्नी वक्तव्यौ यथा—

"इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं, वाजस्य मा प्रसवेन

प्रोहामि । इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मिन् द्वेष्टि,

यञ्च वयं द्विष्मोवाजस्यैनं प्रसवेनामोहामि" २ ॥ २ । १५ ॥ ४६ ॥

अथ जुह्वा यथापूर्वं परिधीननक्ति—

"वसुभ्यस्त्वा, रुद्रेभ्यस्त्वा, आदित्येभ्यस्त्वा" १ ॥ २ । १६ ॥

हे मध्यमपरिधे! त्वां वसुदेवता प्रीत्यर्थमनज्मि । हे दक्षिणपरिधे! त्वां रुद्रदेवता प्रीत्यर्थमनज्मि । हे उत्तरपरिधे! त्वामादित्यदेवताप्रीत्यर्थमनज्मि इत्याह । परिधित्रयाञ्जनेन हि सवनत्रयदेवताः प्रीयन्ते ।

अथ प्रस्तरमादत्ते—

"संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्याऽवताम्" २ ॥ २ । १६ ॥

हे द्यावापृथिवी! द्युलोकभूलोक देव्यौ ! युवां गृह्यमाणं प्रस्तरं सम्यगवगच्छतम् । अथ हे प्रस्तर! त्वां प्राणापानवायू जलवर्षणेन रक्षताम् इत्याह । अनेन हि प्रस्तरेण यजमानोऽभिनीयते "यजमानो वै प्रस्तरः" इति श्रुतेः (१, ८, १, ४४) इति ।

वृष्ट्या च तस्य रक्षां करोतु प्राणापानात्मा वायुरित्याशंसति । "वायुर्वै वर्षस्येष्टे" इति श्रुतेः ॥ १ । ८ । ३ । १२ ॥

अथैनं प्रस्तरमनक्ति—तत्र जुह्वामग्रमुपभृति मध्यं ध्रुवायां मूलमञ्ज्यात्—

"व्यन्तु वयोऽक्तं रिहाणाः" ३ ॥ २ । १६ ॥

गायत्र्यादिच्छन्दोरूपाः पक्षिणो घृतलिप्तं प्रस्तरमास्वादयन्तो गच्छन्त्वित्याह ।

अथैकं तृणं प्रस्तरात्पृथक्कृत्य प्रस्तरं नीचैर्हृत्वाऽग्नौ प्रक्षिपेत् । हे प्रस्तर ! त्वम्—

"मरुतां पृषतीर्गच्छ, वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं
गच्छ ततो नो वृष्टिमावह" ४ ॥ २ । १६ ॥

मरुन्नामकानां देवानां संबन्धिनी वाहनरूपाश्चित्रवर्णा अश्वाः प्राप्नुहि । (वायुवाहनवद्वेगेनान्तरिक्षं गच्छ) । ततः स्वल्पतनुः स्वाधीनगवी भूत्वा स्वर्गं गच्छ ततोऽस्मदर्थं भूलोके वृष्टिमानयेत्याह । अथवा "इयं वै वशापृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशापृश्निः" इति श्रुतेः—(१।८।३।१५)। वशापृश्निः पृथिवी । ततः पृथ्वीप्रधानो भूत्वा पृथ्वीसंबन्धिभागानाददानो नाम द्युलोकं तर्पयेत्याह ।

अथात्मानमालभते—

"चक्षुष्पा अग्नेऽसि, चक्षुर्मे पाहि" ५ ॥ २ । १६ ॥

हे अग्ने ! यतस्त्वं ज्वालयान्धकारं निवर्त्य चक्षुः पालकोऽसि, अतो मम चक्षुः पालय— प्रस्तर प्रहरणप्रसक्तं चक्षुरुपद्रवं परिहरेत्याह ॥ ५ ॥ ४७ ॥

अथ परिधीननु प्रहरति। तत्रादौ मध्यमं प्रक्षिपेत्।

"यं परिधिं पर्यधत्त्था अग्ने देव पणिभिर्गुह्यमानः।

तं त एतमनु जोषं भराम्येष नेत् त्वदपचेतयातै॥" १॥ २। १७॥

हे अग्ने! देव! अविहनीय! पणिभिरसुरैः संव्रियमाणः त्वं यं परिधिं पश्चिमदिशि असुरोपद्रवनिवारणाय स्थापितवानसि। तमेतं तव प्रियं परिधिमनुभरामि वह्नौ प्रक्षिपामि। यथा नैष परिधिः त्वत्सकाशादपगन्तुमीहेत, किन्तु त्वय्येव सदा तिष्ठेदित्याह। ततो दक्षिणोत्तरौ परिधी युगपदेवाग्नौ प्रक्षिपेत्। हे परिधी! युवाम्—

"अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्" २॥ २। १७॥

अग्नेराहवनीयस्याभिप्रेतमन्नमपि गच्छतम्। अग्नेरन्नत्वं भवद्भ्यां प्रोप्यतामित्याह॥२।४८॥

अथ संस्रवान् जुहुयात्। विलीनमाज्यं संस्रवः। तत्र जयेत्—

"संस्रवभागाः स्थेषाः बृहन्त, प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः।

इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन्

बर्हिषि मादयध्वम् स्वाहा वाट्" १॥ २। १८॥

हे विश्वेदेवाः! यूयं संस्रवभागाः स्थ—विलीनमाज्यं हि युष्माकं भागः। तथा इषा संस्रवलक्षणेनान्नेन महान्तः स्थ। किंच, ये प्रस्तरस्थायिनः ये च परिधिभवाः, ते विश्वेदेवाः इमां मदीयां वाचं सर्वत्र वर्णयन्तो यूयमस्मिन् यज्ञे बर्हिषि उपविश्य तृप्यध्वं मोदयध्वं वा। त्वदर्थं स्वाहा, त्वदर्थं वाट्। संस्रवा दीयन्त इत्याह॥ ४६॥

अतः परं जुहूपभृतौ शकटधुरि निदध्यात्। हे जुहूपभृतौ! युवाम्—

"घृताची स्थो धुर्य्यौ पातं, सुम्ने स्थः

सुम्ने मा धत्तम् १॥ २। १६॥

घृतं प्राप्तवत्यौ स्थः, तथाविधे युवामनड्वाहो रक्षतम्। किंच युवां सुखरूपे स्थः, तस्मात् सुखे मां स्थापयतमित्याह।

अथ वेदिमालभते—

"यज्ञ नमश्च त उप च, यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व,

स्विष्टे मे संतिष्ठस्व" २॥ २। १६॥

हे यज्ञ! तुभ्यं नमोऽस्तु तुभ्यमुपचयो वृद्धिरस्तु। किंच यज्ञस्यास्य शिवे अङ्ग वैकल्या-

भावरूपे कल्याणे संस्थां कुरु। मम च साध्विष्टे शोभनेयागे संस्थां कुरु। यथा यं यज्ञः पूर्णतां गच्छेत्, यथा च मे स्विष्टं पूर्णतां गच्छेत्तथा कुर्वित्याह। अत्र श्रुतिः—"स यदतिरेचयति तन्नमस्कारेण शमयति, अथ यदूनं करोत्युप चेति, तेन तदन्यूनं भवति। यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं-तच्छिवं, तेन तदुभयं शमयति" इति ॥ २ । ५० ॥

ततः स्रुक्स्रुवं प्रगृह्णाति—

"अग्नेऽदब्धायोऽशीतम ! पाहि मा दिद्योः, पाहि
प्रसित्यै, पाहि दुरिष्ट्यै, पाहि दुरद्मन्या, अविषं नः
पितुं कृणु, सुखदा योनौ, स्वाहा वाट्" १ ॥ २ । २० ॥

हे अनुपहिंसितमनुष्य ! हे भोक्तृनम ! यद्वा हे व्यापकतम ! हे अग्ने गार्हपत्य ! वज्रात् शत्रुप्रयुक्तान्मां रक्ष। बन्धनहेतुभूताज्जालान्मां रक्ष। अशास्त्रीययागान्मां रक्ष। दुष्ट भोजनान्मां रक्ष। किंच अस्माकमन्नं विषहीनं कुरु। सम्यगवस्थान योग्ये च गृहे मां स्थापय। अथवा तादृशेऽस्माकं गृहे अन्नमविषं कुरु। त्वदर्थं स्वाहा, त्वदर्थं वाट् इत्याह।

अथ दक्षिणाग्नौ जुहोति—

"अग्नये संवेशपतये स्वाहा, सरस्वत्यै
यशोभगिन्यै स्वाहा" २ ॥ २ । २० ॥

स्त्रीपुंसयोरभिलापपूर्वकमेकत्र शयनं संवेशः। तदधिष्ठात्रे अग्नये हविर्दीयते। जीवतः पुरुषस्य प्रशंसा यशः। तद् भगिन्यै वाग्रूपायै सरस्वतीदेव्यै हविर्दीयते इत्याह ॥ २ । ५१ ॥

अतः परं पत्नी वेदं प्रमुञ्चति—हे कुशमुष्टिनिर्मित पदार्थ ! त्वम्—

"वेदोऽसि, येन त्वं, देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभव स्तेन
मह्यं वेदो भूयाः" १ ॥ २ । २१ ॥

ऋगाद्यात्मकोऽसि। यद्वा ज्ञातासि। हे द्योतनात्मक ! हे वेद ! येन कारणेन त्वं देवानां ज्ञापकोऽभूः, तेन कारणेन मम ज्ञापको भवेत्याह ॥

अथ समिष्टयजुर्जुहोति। तत्र पूर्वं देवान् विसृज्य पश्चाच्चन्द्रमीश्वरं वा प्रत्युच्यते।

"देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा, वाते धाः" ३ ॥ २ । २१ ॥

हे यज्ञवेत्तारो देवाः ! अस्मदीयं यज्ञं प्रवृत्तं ज्ञात्वा यज्ञं प्रत्यागच्छत। यद्वा अस्मदीय-

यज्ञेन तुष्टाः सन्तो गातुं गन्तव्यं स्वमार्गं गच्छतेत्याह । अथ हे मनोधिष्ठातृदेव चन्द्र ! यद्वा हे मनसः प्रवर्त्तक परमेश्वर ! हे देव ! इममनुष्ठितं यज्ञं त्वद्धस्ते ददामि । त्वं च तं यज्ञं वायुरूपे देवे स्थापय, इत्याह ॥ वाते हि यज्ञोऽवतिष्ठते—"वायुरेवाग्निस्तस्माद् यदेवाध्वर्युरुत्तमं कर्म करोत्यथैतमेवाप्येति" इति श्रुतेः ॥ ३ ॥ ५२ ॥

अथ बर्हिर्जुहोति—

"सं बर्हि रङ्क्ता हविषा घृतेन, समादित्यै र्वसुभिः
सं मरुद्भिः । सामिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्ता, दिव्यं
नभो गच्छतु यत् स्वाहा" १ ॥ २ । २२ ॥

इन्द्रः हविः संस्कारयुक्तेन घृतेन दर्भं समङ्क्ताम्—सम्यगञ्जनोपेतं करोतु । स च न केवलः—किंतु—आदित्यैः समङ्क्ताम् । वसुभिः समङ्क्ताम् । मरुद्भिः समङ्क्ताम् । विश्वदेवनामकैर्गणदेवैः समङ्क्ताम् । तद्बर्हिः, यद्दिव्यं नभः आदित्यलक्षणं ज्योतिः तद्गच्छतु आदित्यं प्राप्नोतु । इदं बर्हिः देवोद्देशेन दीयते इत्याह ॥ १ ॥ ५३ ॥

अथ पूर्वं "कस्त्वा युनक्ति सत्वा युनक्ति इत्यादिना प्रणीतानां यासामपां यज्ञयोगः कृतः, तासामिदानीं यज्ञविमोकः कार्यः—"यो वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवतीति" श्रुत्यन्तरोक्ते—तस्माद्वेद्यां प्रणीताः परीत्य निनयति प्रश्नोत्तरप्रकारेण प्रणीतनामपांधारक हे पात्र !

"कस्त्वा विमुंचति, स त्वा विमुञ्चति, कस्मै त्वा विमुञ्चति,
तस्मै त्वा विमुञ्चति पोषाय" १ ॥ २ । २३ ॥

नाहं निनयामि—अपितु यः पूर्वं त्वामयुनक् स प्रजापतिरेवेदानीमपि यजमानं पुत्रादिभिः पोषयितुं त्वां निनयतीत्याह ।

अथ पुरोडाशकपालेनाधः कृष्णाजिनं पतितान्कणानपास्यति हे कणसमूह ! त्वम्—

"रक्षसां भागोऽसि" २ ॥ २ ॥ २३ ॥ २ ॥ ५४ ॥

२०—इतः परं याजमानम्

तत्र पूर्णपात्रं निनयति परीत्य सन्नतं यजमानोऽञ्जलिना प्रतिगृह्णाति—

"सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वोयद् विलिष्टम्" १ ॥ २ । २४ ॥

वयं वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन समगन्महि सङ्गता भवामः। क्षीरादिरसेन समगन्महि। शरीरावयवै-रनुष्ठानक्षमैः समगन्महि। शान्तेन कर्मश्रद्धायुक्तेन वा मनसा समगन्महि। किंच सुदानस्त्वष्टा देवो धनानि करोतु। तथा शरीरस्य मदीयस्य यद्विशेषेण न्यूनमङ्गं तदनुमार्ष्टु। न्यूनत्वं परिहृत्यानुकूलं कृत्वा शोधयत्वित्याह। (अनेन मुखं विमृष्ट इति)॥ ५५॥

अतः परं विष्णुक्रमान् क्रमते। विष्णुपादबुद्ध्या भूमौ स्वपादविक्षेपा विष्णुक्रमाः—

"दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त, जागतेन छन्दसा,
ततो निर्भक्तौ योऽस्मान्द्वेष्टि, यंच वयं द्विष्मः"॥
अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त, त्रिष्टुभेन छन्दसा,
ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः॥
पृथिव्यां विणुर्व्यक्रंस्त, गायत्रेण छन्दसा,
ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः १॥ २। २५॥

विष्णुर्यज्ञपुरुषः जगतीच्छन्दोरूपेण स्वकीयपादेन द्युलोके विक्रममकार्षीत्। तेन योऽस्मान् दृष्ट्वा न प्रीयते यंच दृष्ट्वा वयं न प्रीयामहे स द्विविधोऽपि शत्रुर्दिवो निस्सारितः। एवं त्रिष्टुप् छन्दोरूपेण पादेनान्तरिक्षे विक्रम्य ततः शत्रुर्निस्सारितः। तथा गायत्रीछन्दो-रूपेण पादेन पृथिव्यां विक्रम्य ततोऽपि शत्रुर्निस्सारित इत्याह।

अथ भागमवेक्षते—

"अस्मादन्नात्" २॥ २। २५॥

अस्माद् यजमानभागादपि स द्विविधोऽपि शत्रुर्निर्भक्त इत्याह।

अथ भूमिमवेक्षते—

"अस्यै प्रतिष्ठायै" ३॥ २। २५॥

अस्याः पुरतो दृश्यमानायाः प्रतिष्ठाहेतोर्यज्ञियभूमेरप्यसौ द्विविधः शत्रुर्निर्भक्त इत्याह।

अथ प्रागवेक्षते—

"आगन्म स्व" ४॥ २। २५॥

पूर्वस्यां दिशि स्थितं स्वर्गं सूर्यं वा यज्ञानुष्ठानेन वयं प्राप्ताः स्मः इत्याह।

अथाहवनीयमवेक्षते—

"सं ज्योतिषाऽभूम" ५॥ २। २५॥

आहवनीयलक्षणेन ज्योतिषा वयं समभूम संगता अभूमेत्याह ॥ ५६ ॥

अथ सूर्य्यमवेक्षते--हे सूर्य ! त्वम्—

"स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मि र्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि" १॥ २ । २६ । ।

अकृतकः स्वयंसिद्धोऽसि । मण्डलशरीराभिमानी हिरण्यगर्भाख्यः प्रशस्यतमो रश्मिरसि । सन्ति हि सूर्य्यस्य सप्तरश्मयः । चतुर्दिक्षु चत्वारः । उपर्येकोऽधस्तादेकः । सप्तमो मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भः पुरुषः । स श्रेष्ठः, स त्वमसि । यतस्त्वं तेजसो दातासि अतो मे ब्रह्मवर्चसं देहीत्याह ।

अथ प्रदक्षिणमावर्तते--

"सूर्य्यस्यावृतमन्वावर्ते" २ ॥ २ । २६ ॥

सूर्यस्यावर्तनमनुसृत्य अहमपि प्रादक्षिण्येनावर्तनं करोमीत्याह ॥ २ । ५७ ॥

अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते--

"अग्ने गृहपते–सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासम् ।
सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः ।
अस्थूरिणौ गार्हपत्यानि सन्तु शतं हिमाः" १ ॥ २ । २७ ॥

हे अस्मद्गृहपालक ! हे अग्ने ! गृहपालकेन त्वया कृत्वा अहं सुगृहपतिर्भवेयम् । तथा हे अग्ने ! त्वमपि मया गृहपतिना सता सुगृहपतिर्भव । एवं सति नौ आवयोर्गार्हपत्यानि गृहपतिनिष्पाद्यकर्माणि शतवर्षपर्यन्तमस्थूरि सन्तु—निरन्तरमव्यवहितानि प्रवर्त्तन्तामित्याह । एकपार्श्वे वलीवर्द्दयुक्तं शकटं स्थूरि । अथ यदुभयतो वलीवर्द्दयुक्तं तदस्थूरि । अस्थूरि हि शकटमव्यवहितं प्रसरति । तथाऽग्नियजमानाभ्यां गार्हपत्यम् ।

अथ पुनः प्रदक्षिणमावर्तते—

"सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते" २ ॥ २ । २७ ॥

सूर्यावर्त्तनानुसारेणाहमपि प्रदक्षिणमावर्त्तयामीत्याह ॥ २ । ५८ ॥

अथैवं गृहीतं व्रतमिदानीं विसृजते—तत्र यदि अग्ने व्रतपते व्रतं ग्रहीष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् इत्येवं प्रतिज्ञाय व्रतमुपागात् तदाखल्वेवं विसृजेत् ।

"अग्ने व्रतपते, व्रतमचारिषं तदशकं
तन्मेऽराधि" १ ॥ २ । २८ ॥

हे अग्ने ! हे कर्मपालक! कर्मानुष्ठितवानस्मि । त्वत्प्रसादात् तत्कर्मकरणशक्तोऽहमभवम् । त्वया च तन्मदीयं कर्म साधितमित्याह ।

अथ यदि "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीत्येवं प्रतिज्ञाय व्रतमुपागात् तदा त्वेवं विसृजेत् ।"

"इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि" २ ॥ २ । २८ ॥

हे अग्ने ! इदं कर्म समाप्य योऽहं कर्म्मणः पुरा अस्मि स एव मनुष्योऽस्मीत्याह । पूर्वं हि व्रतग्रहणकाले सत्यप्रधानं दैवं भावं गृहीतवानासीत् । तदिदानीं विसृज्य पुनः स्वभावं प्रतिपद्यते तत्रेत्थमेव ब्रूयात् नतु सत्यादनृतमुपैमीति ॥ २ । ५ । ६ ॥

॥ इति दर्शपौर्णमासमन्त्राधिकारः प्रथमः ॥ १ ॥

अत्र मन्त्रा—ऊनषष्टि (५६)

॥ अथ पिण्डपितृयज्ञः ॥

अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञ माहिताग्नि र्निदध्यादनाहिताग्निरपि वा दक्षिणाग्नेः पुरस्ताच्छूर्पं स्थालीं स्फ्य पात्रीमुलूखले चेति पात्राणि संसादयेत्। ततो गार्हपत्याग्नेः पश्चाद्-भागे दक्षिणाग्रेषु कुशेषु स्फ्यं प्राञ्चं निदध्यात् । तस्यैव च स्फ्यस्य पुरस्ताद्दक्षिणामुखे शूर्पे स्थालीं निदध्यात् ।

सव्यं जानुभूमौ निपत्याधोमुखेन मुष्टिना व्रीहीन् सकृद् गृहीत्वा पितॄन् ध्यायन् शूर्पस्थायां स्थाल्यां निदधाति । तथा गृह्णीयाद् यथा स चरुः स्थालीविलादध एव च मन्दः स्वित्रःसंपद्येत ।

पत्न्या सकृत् कण्डितांस्तण्डुलान् दक्षिणाग्नौ श्रपयित्वा तं चरुम संस्कृतेन घृतेनाभि-घार्य्य तं चरुं प्रतीच्यां दिश्युद्वासयेत् ।

गृह्योक्तेन विधिना चाप्रदक्षिणं परिसमुह्य दक्षिणाग्निमनियताग्रै दर्भैः परिस्तीर्य्य, सर्वतः पर्य्युक्ष्य, दक्षिणं जानुभूमौ पातयित्वा यज्ञोपवीती प्राङ्मुख आसीनः प्रादेशमात्रेण प्राङ्मुखेन यज्ञियेन दर्व्याकारेण मेक्षणेन प्रतिमन्त्रमंगुष्ठपर्वमात्रमवदाय तिस्रो वक्ष्यमाणा आहुती र्जुहोति ।

(१) अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा ॥ १ । २ । २६ ॥

(२) सोमाय पितृमते स्वाहा ॥ २ । २ । २६ ॥

(३) यमायाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा ॥ ३ । २ । २६ ॥

(४) अपहता असुरा रक्षांसिवेदिषदः ॥ ४ । २ । २६ ॥

होमान्ते मेक्षणमग्नावभ्यादधाति तत् स्विष्टकृद्भाजनम् । ततो दक्षिणाग्ने र्दक्षिणस्यां दिशी—"अपहता असुरा रक्षांसिवेदिपदः" इति मन्त्रं पठन् स्फ्पेन सकृदुन्मृज्यात् । तदुन्मृष्ट मुदकेनोपसिञ्चेत् । ततः—

"ये रूपाणि प्रतिमुंचमानाः असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।

परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात् ॥ १ । २ । ३० ॥

इति मन्त्रं पठन् दक्षिणाग्न्युल्मुकं साग्निकमुन्मृष्टस्य तस्य दक्षिणाग्ने र्निदध्यात् ।

ततस्तस्मिन्नुन्मृष्टे छिन्नमूलकुशान्निदध्यात् । ततः आमन्त्रितं पितृनामोच्चार्य्य-"अत्रावने-निक्ष्व, ये चात्र त्वानु; यांश्च त्वमनु" इति पठन् कुशेष्वाधारेषु पितृतीर्थेनापो निषिंचेत् ।

अथैतस्मादवनेजनप्रदेशाद्दक्षिणतः पितामह नाम्ना मन्त्रं पठन् प्राग्वदवने जपेत् तस्माद्दक्षिणतः पुनः प्रपितामहस्यावनेजनं कुर्यात् ।

ततोऽवनेजनवदेवामन्त्रितं पितृनामोच्चार्य्य—"एतत्ते ये चात्र त्वानु, यांश्च त्वमनु"— इति पठन् क्रमेण त्रीन् पिण्डान् तत्र तत्रावनेजनस्थाने निदध्यात् ।

ततः "अत्र पितरो मादयध्वं यथा भागं पितर आवृषायध्वम्" ॥१।२।३१॥

इति मन्त्रं जपेत् ।

ततोऽयमासीन एव पर्य्यावृत्तोदङमुखो भवेत् । एवमुच्छ्वासाभिकाङ्क्षा पर्य्यन्तं मुहूर्तमेववात्रिरासित्वा ततः पिण्डाभिमुखो भूत्वा मन्त्रमिमं जपेत्—

"अमीमदन्त पितरो यथाभागमवीवृषत्" इति ॥ २ । २ । ३१ ॥

ततः प्राग्वदेव पुनरवनेज्यपिण्डेषु पितॄन् ध्यायन् पितृभ्यो नमस्कुर्यादेभिर्मन्त्रैः—

"नमो वः पितरो जीवाय । नमो वः पितरः शोषाय ।
नमो वः पितरो घोराय । नमो वः पितरो रसाय ।
नमो वः पितरो बलाय । नमो वः पितरो मृत्यवे ।
नमो वः पितरो मन्यवे । नमो वः पितरः स्वधायै ।
नमो वः पितरः, पितरो नमो वा ।
येऽत्र पितरः पितरः स्थ यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्व ।
य इह पितरो मनुष्या वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ।
या अत्र पितरः स्वधा—युष्माकं सा ।
य इह पितरः एधतु रस्माकं सः ।
गृहान् नः पितरोदत्त इति" ।

एवमेभिर्मन्त्रैर्नमस्कृत्य त्रयाणामपि तेषां पिण्डानामुपरि "एतद्वः पितरो वासोवध्वं पितरः" इति मन्त्रं पठन्नेकं सूत्रमुपन्यस्येत् । तथा द्वितीयं, यथा तृतीयम् ।

ततोऽवनेजनोदकशेषं पिण्ड सन्निधौ निनयेदनेनमन्त्रेण—

"ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्" । इति ॥ १ । २ । ३२ ॥

ततः पिण्डान् यथान्युप्तानवघ्राय, निर्वापप्रदेशादुत्थाप्य पात्रेऽवधाय प्राश्नीयात् । अथवा तान् पिण्डान् ब्राह्मणाय दद्यात्, अप्सु वा पिण्डान् क्षिपेत् । पुत्रकामातुपत्नी मध्यमं पिण्ड-मश्नीयादनेन मंत्रेण ।

"आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् ।
यथेह पुरुषोऽसत्" इति ॥ १ । २ । ३३ ॥

स पिण्डानवघ्रायानन्तर मुल्मुकं दक्षिणाग्रो कुर्यात् । छिन्नमूलांश्च कुशान् दक्षिणाग्नौ क्षिपेत् । माध्यन्दिनीयास्तु--छिन्नमूलानग्नावभ्याधाय तत उल्मुकं विसृजेयुः ।

अथैतस्याममावास्यायां यवाग्वैव सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात् । माध्यन्दिनमतेतु संनयन एवायं होमद्रव्य नियमो नान्यस्येति दिक् । सोऽयं पिण्डपितृयज्ञो विनापि दर्शाङ्गतयाऽवश्यं कर्त्तव्यः ।

॥ इति पिण्डपितृयज्ञाधिकारः ॥

॥ अग्निहोत्राधिकारः ॥

तत्र

। अथ अग्न्याधानम् ।



अमावास्यायामग्न्याधेयं क्रियते—

तत्र चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशितुं योग्यमोदनं पक्त्वा बहिरुद्वास्य तस्यौदनस्य मध्ये घृतसेचनाय निम्नं स्थानं कृत्वा सर्पिषा तदापूर्य्य तस्मिन् सर्पिषि आश्वत्थीः तिस्रः समिधोऽभ्यज्य शमीगर्भमेतदाप्नुम। इति वदन्त एकैकामेकैकयर्चा अग्नावभ्यादधति। तत्र ब्रूते। हे ऋत्विजः! यूयम्—

"समिधाऽग्निं दुवस्यत, घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन" ॥ १ ॥ ३ । १ ॥

काष्ठद्वारा तावदग्निं परिचरत। ततो होष्यमाणैः पूर्णाहुतिसम्बन्धिभिर्घृतैरातिथ्यकर्मणार्हणीयमेनं प्रज्वालयत। प्रज्वालिते च तस्मिन्नग्नौ नानाविधानि हवींषि आजुहुत इत्याह ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः! यूयम्—

"सुसमिद्धाय शोचिषे, घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे" ॥ २ ॥ ३ । २ ॥

सम्यक्प्रज्वलिताय शोचिष्मते जातप्रज्ञानाय अग्नये ग्रहणोद्वासनाधिश्रयणावेक्षणादिभिः संस्कृतं घृतं जुहुतेत्याह ॥ २ ॥ अग्निं प्रत्याह—

"तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो, घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य" ॥ ३ ॥ ३ । ३ ॥

हे अङ्गिरः! निर्दिष्टगुणवन्तं त्वां यज्ञसम्बन्धिकाष्ठैः संस्कृतेनाज्येन च प्रवृद्धं कुर्म्मः। हे युवतम अग्ने! स त्वमधिकं शोचा=दीप्यस्वेत्याह ॥ "अङ्गिरा उ ह्यग्निः" इति श्रुतिः (१।४।१।२५) ॥ ३ ॥

अथाग्निमीक्षमाणः केवलं जपति—

"उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्य्यत ।
जुषस्व समिधो मम" ॥ ४ ॥ ३ । ४ ॥

हे अग्नेः ! हविर्युक्ता घृताक्ता एताः समिधः त्वाम्प्रत्युपगच्छन्तु । हे हर्य्यत ! इच्छुक ! अग्ने ! त्वं ताः समिधः स्वीकुरु इत्याह । ४ ।

अथ आपो हिरण्यमूषाखूत्करः शर्करा इति पंच संभारान् सम्पाद्य स्फ्येनोल्लिखितायां शुद्धायां भूमौ तानवस्थाप्य तेषु शुष्ककाष्ठैर्ज्वलंतमग्निं भूर्भुवः स्वरिति पंचाक्षराण्युच्चारयन्नादध्यात्, तदिदमाहवनीयाधानम्—

"भूर्भुवः स्वः—द्यौरिव भूम्ना, पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे" ॥ ५ ॥ ३ । ५ ॥

भूर्भुवः स्वरित्येतास्तिस्रो व्याहृतयः पृथिव्यादिलोकत्रयनामानि । आभिः स्थापयन् लोकत्रयमनेन स्मरति । इध्मपूर्वार्द्धं गृहीत्वा ब्रूते । देवा इज्यन्ते यस्यां तथा विधे हे पृथिवि । तस्या देवयजनयोग्यायास्तवोपरि अन्नादं हुतभोक्तारं गार्हपत्यादिरूपमग्निं स्थापयामि भोक्तुं योग्याय अन्नाय अन्नभक्षणाय वा ॥ यो ह्यग्निर्भूम्ना द्यौरिव वर्तते यथा द्यौर्नक्षत्रादिबहुत्वेन युक्ता तथा ज्वालाबहुत्वेन युक्तः । यश्च वरिम्णा पृथिवीव स्थितः, यथा पृथिवी सर्वप्राण्याश्रयत्वरूपश्रेष्ठत्वोपेता तथा सर्ववस्तुशोधकत्वरूपश्रेष्ठत्वोपेतः । तादृशमग्निं स्थापयामीत्याह ॥ अथ सर्पराज्ञी कद्रूः पृथिव्यभिमानिनी । तया दृष्टं तृचं सार्पराज्ञी तयाहवनीयमुपतिष्ठते । ततो दक्षिणाग्निमादधाति—

"आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः, पितरं च प्रयन्त्स्वः" ॥१॥३।६॥
"अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती, व्यख्यन् महिषो दिवम्" ॥२॥३।७॥
"त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते, प्रतिवस्तोरहद्युभिः" ॥३॥३।८॥

यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमानगृहेषु गन्ता लोहितशुक्लादिबहुविधज्वालोपेतत्वाच् चित्रवर्णश्चायं दृश्यमानोऽग्निराहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निस्थानेषु सर्वतः पादविक्षेपं कृतवान् । तथाहि-प्राच्यां दिशि पृथिवीमाहवनीयरूपेण प्राप्तवान् आदित्यरूपेण च स्वर्गे सञ्चरन् द्युलोकमपि प्राप्तवान् इत्याह । "द्यौः पिता पृथिवी माता"—इति च श्रूयते बहुधा ॥१॥ एवमादित्यरूपेणाग्निं

स्तुत्वा वायुरूपेण स्तौति । अस्याग्नेः रोचना काचिच्छक्तिर्वाय्वाख्या द्यावापृथिव्योर्म्म-ध्येचरति । सा च सर्वशरीरेषु प्राणव्यापारादनन्तरमपानव्यापारं कुर्वती सति हि जठराग्नौ जीवनहेतोरौष्ण्यस्य शरीरे सद्भावात् प्राणापानौ प्रवर्तेते तस्मादग्निः प्राणापानरूपः । सोऽयमेव महानग्निः वाय्वादित्याभ्यां स्वशक्तिभूताभ्यामिदं जगदनुगृह्य अनुष्ठातृभ्यो भोगस्थानं द्युलोकं विशेषेण प्रकाशितवान् प्रकाशयति चेत्याह । "अन्तरिक्षेऽयं तिर्य्यङ् वायुः पवते"—इति श्रुतिः । "अग्निर्वै महिषः स इदं जातो महान्"—इति श्रुतिः । अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्ता धामानि भवन्ति । तेषु या वाक् विराजति सा अग्न्यर्थमुच्चार्यते । किंच प्रत्यहं या वाक् या च द्युभिः यागपारायणाद्युत्सवभूतैरहोभिः स्तुतिलक्षणा वाक् सा सर्वाप्यग्न्यर्थमेव नान्यस्यै देवतायै इत्याह । पतन् गच्छति पतङ्गः । यतो ह्यरण्योः पतन् गार्हपत्यभावं गच्छति, ततः पतन्नाहवनीयता मित्यतोऽग्निः पतङ्गः । अहेति निपातो विनिग्रहार्थः ॥ ३ ॥ ८ ॥

॥ इत्यग्न्याधेयमन्त्रा अष्टौ व्याख्याताः ॥

॥ इत्याग्न्याधानम् ॥

॥ अथाग्निहोत्रहोममन्त्राः ॥

तत्र—प्रदीप्तां समिधमभिलक्ष्य—

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" इति सायं जुहुयात् ॥१।३।६॥

"सूर्य्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा" इति प्रातर्जुहुयात् ॥२।३।६॥

यस्तु ब्रह्मवर्चसकामः सः—

"अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा" इति सायं जुहुयात् ॥३।३।६॥

"सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा" इति प्रातर्जुहुयात् ॥४।३।६॥

"ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्योज्योतिः स्वाहा" इति वा प्रातर्जुहुयात् ॥५।३।६॥

योऽयमग्निर्देवः, स एव दृश्यमानज्योतिः स्वरूपं । यच्चेदं दृश्यमानं ज्योतिः तदेवाग्नि-र्देवः । तस्मै ज्योतीरूपायाग्नये हविः प्रदीयते । इत्याद्याह । "अग्निमादित्यः सायं प्रविशति, तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे । उभे हि तेजसी सम्पद्येते, उद्यन्तं वादित्यमग्निरनु समारोहति तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" इति तैत्तिरीयश्रुतिः ॥ १ ॥

अथवा—

सजूर्देवेन सवित्रा, सजूरात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा” इति सायं जुहुयात् ॥ १ । ३ । १० ॥
सजूर्देवेन सवित्रा, सजूरुषसेन्द्रवत्या
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा” इति प्रातर्जुहुयात् ॥ २ । ३ । १० ॥

सवित्रा देवेन प्रेरकेण परमेश्वरेण समानप्रीतिः, तथा इन्द्रदेवोपेतया रात्रिदेवतया समानप्रीतिरग्निरस्मासु प्रीतियुक्तः सन् आहुतिं भक्षयतु तस्मै हविर्दीयते । यथायमग्निः सायं तथा सूर्य्यः प्रातर्हविर्भक्षयत्वित्याह ॥ २ ॥

॥ इति होममन्त्राः ॥

॥ अथोपस्थान मन्त्राः ॥

तत्र तावद्-बृहदुपस्थानं देवदृष्टम् ।

सायमाहुत्यां हुतायां यजमान उत्थाय आहवनीयगार्हपत्यावग्नी उपतिष्ठते । तत्र तावदाहवनीयोपस्थानमन्त्राः—

उपप्रयन्तो अध्वरं, मन्त्रं वोचेमाग्नये,
आरे अस्मे च शृण्वते ॥ १ । ३ । ११ ॥

यज्ञमुपगच्छन्तो वयं तस्याग्नेरुद्देशेन मन्त्रं वोचेम-यो हि दूरे ऽस्मत्समीपे च शृणोतीत्याह ॥ १ ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति” ॥ २ । ३ । १२ ॥

द्युलोकस्योपरिवृत्त्या शिरःसमानः आदित्यरूपेण सर्वोपरि स्थितया गोस्कन्धसमानः श्रेष्ठो वा दाहपाकप्रकाशैः पृथिवीस्थानां परिपालकोऽयमग्निः द्युलोकाद् वृष्टिरूपेण पतन्तीनामपां साराणि व्रीहियवादिरूपेण परिणतानि वर्द्धयति-यद्वा अपां कारणानि पुष्णाति आहुतिपरिणामेन वृष्टिं जनयति इत्याह ॥ २ ॥

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या—उभा राधसः सह
मादयध्यै । उभा दातारात्रिषां रयीणां—उभा
वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥ ३ । ३ । १३ ॥

हे इन्द्राग्नी! हे आहवनीय गार्हपत्यौ! युवामुभावपि आह्वातुमिच्छामि। तथा हविर्लक्षण-धनात् युवामुभावपि युगपन्मादयितुं हर्षयितुं वेच्छामि। यत उभौ युवामन्नानां धनानां च दातारौ स्थः अत उभौ युवामन्नस्य दानाय आह्वयामीत्याह ॥ ३ ॥ अथाग्नेयस्तिस्रः—

"अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम् ॥ ४ । ३ । १० ॥

हे आहवनीय! अयं गार्हपत्यस्तवोत्पत्तिस्थानमस्ति। यो हि सायं प्रातःकाले उत्पादन-योग्यत्वादिदानीं प्राप्त ऋतुकालः । यस्माच्च ऋतुकालोपेताद्गार्हपत्यादुत्पन्नस्त्वं कर्म्मकाले दीप्तोऽभूः । हे अग्ने! तं गार्हपत्यं जानन् पुनरुद्धरणाय कर्म्मान्ते प्रविश । अनन्तरमस्मदर्थं धनं वर्द्धय-यतः पुनर्यागं कुर्यामित्याह ॥ ४ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता य-
जिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः । यमप्नवानो भृगवो
विरुरुचु र्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥ ५ ॥

अयमाहवनीयः इह कर्मानुष्ठाने मुख्य इति आधानकर्तृभिराहितोऽभूत्॥ यतो देवानामाह्वाता अतिशयेन यष्टा, सोमयागादिषु ऋत्विग्भिः स्तुत्यश्चायं भवति ॥ यश्च विविधकर्मोपयोगित्वेना-श्चर्यकारिणं विभुत्वशक्तियुतमपत्यवन्तो भृगुवंशोत्पन्ना मुनयः प्रत्येकयजमानार्थे ग्रामाद्बहि-र्जनाख्यारण्यप्रदेशेषु दीपयन्ति स्म इत्याह॥ ५ ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ ६ ॥

अस्यैवाग्नेः पुरातनीं दीप्तिमनुसृत्य लज्जारहिता दोग्धारः क्षीरदध्याज्यहविःप्रदानाद-नेकानेककर्म्मसमापिकामृषिं गां, शुद्धं पयो दुदुहिरे इत्याह ॥ यद्वा-मालिन्याभावेन निर्लज्जा विशुद्धा गावः, अस्यैवाग्नेश्चिरन्तनीमात्मानुपक्तां द्युतिं शुक्ररूपायन्नामनु पयो दुदुहिरे । यत्पयः सहस्रशः कर्माणि चातुर्मास्यपशुसोमादीनि सनोति अर्पति चेत्याह । अग्निना शुक्ररूपेण सिक्तं तेज एव गावो दुग्धरूपेण क्षरन्ति । सोऽयमर्थः स्पष्टीकृतोऽग्निहोत्रब्राह्मणे—

"तासु हाग्निरभिदध्यौ मिथुन्येऽनया स्यामिति—तां संबभूव—तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्-तत्पयोऽभवत्" इति। तासु गोषु ॥ ६ ॥

अथ यजुर्मन्त्राः—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि। वर्चोदा
अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे
तन्वा ऊनं, तन्मे आपृण ॥ ७ ॥

जठरे सत्यग्नौ अन्नानि जीर्य्यन्ते रसासृगादिरूपैः परिणमन्ते चेत्यग्नेः शरीरपालकत्वं सुप्रतिपन्नम्। यावत्कालश्च वपुष्यदराग्नेरौष्ण्यमुपलभ्यते तावन्न म्रियते इति मृत्युपरिहारेणाग्नेरायुर्दायकत्वं सुप्रतिपन्नम्। यद्दर्शनादेवायं ब्राह्मणस्तपसाग्निरिव ज्वलतीति बुद्धि र्भवति। तदिदं वैदिकानुष्ठानप्रयुक्तं तेजो वर्चः। तच्च वैदिकानुष्ठानमग्निसाध्यमित्यग्नेरेव वर्चोदायकत्वं सुप्रतिपन्नम्। अतएवैतान्यग्नेरिच्छति। हे अग्ने शरीरं पाहि आयुर्देहि वर्चो देहीति। किञ्च हे अग्ने! मम शरीरस्य यदेवाङ्गं चक्षुरादिकं दृष्टिपाटवादिरहितं तत्सर्वं सर्वतः पूरयेत्याह ॥ ७ ॥

इन्धानास्त्वा शतं हिमा, द्युमन्तं समिधीमहि।
वयस्वन्तो, वयस्कृतं, सहस्वन्तः सहस्कृतं,
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम्।
चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ ८ ॥

हे अग्ने! त्वदनुग्रहेण दीप्यमाना वयं। दीप्तिमन्तं त्वाम् अन्नवन्तो वयमन्नप्रदातारं त्वां—बलवन्तो वयं बलप्रदातारं त्वां—तथा अनुपहिंसिता वयमनुपहिंसनीयं शत्रूणामुपहिंसितारं च त्वां शतवर्षपर्यन्तं प्रज्वालयामः। हे चित्रावसो! हे रात्रे! निरुपद्रवं यता स्यात्तथा तवान्तं प्राप्नुयामेत्याह। चौरादिवदत्र देवयजने रक्षसां प्रवृत्ति विनिवृत्तये—"अग्निप्रतापेनेयं रात्रिः सुखेन मे समाप्नोतु" इत्याशंसति। "रात्रिर्वै चित्रावसु सा हीयं संगृह्येव चित्राणि वसति" इति श्रुति (२।३।४।२२)। वसन्ति हि रात्रौ विविधानि चन्द्रनक्षत्रान्धकाररूपाणीति चित्रावसुः सा भवति ॥ ८ ॥ एतावत्पर्य्यन्तमुत्थित एवोपतिष्ठेत्। अतः परमुपविश्योपतिष्ठेत्।

सं त्वमग्ने सूर्य्यस्य वर्चसाऽगथाः
समृषीणां स्तुतेन। सं प्रियेण धाम्ना।
समहमायुषा, सं वर्चसा, सं प्रजया
सं रायस्पोषेण ग्मिषीय ॥ ९ ॥

हे अग्ने! त्वमिदानीं रात्रौ सूर्य्यस्य तेजसा समगथाः—सङ्गतोऽसि । बहव एवोपस्थानादि मन्त्रा अग्निं स्तुवन्तीति तेषां मन्त्राणां स्तोत्रेणापि त्वं संगतोऽसि। एवं प्रियाभिराहुतिभिश्चासि सङ्गतः। तदित्थं यथा त्वमेतैस्त्रिभिः सङ्गतः—एवमहमपि त्वत्प्रसादात् पूर्णायुषा विद्यैश्वर्य्यादि प्रयुक्ततेजसा पुत्रादिप्रजया धनसम्पत्त्या च सग्मिषीय—सङ्गतो भूयासमित्याह। "तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह। तद्यदुपतिष्ठते तेनैतदाह। आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम" ॥ इति श्रुतयः। (२।३।४।२४) ॥ ९ ॥

अतः परं यजुर्द्वयेन गां गच्छति ॥ हे गाव! यूयम्—

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय—मह स्थ महो
वो भक्षीय ऊर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय—
रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥ १० ॥

क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वादुपचारेण अन्नरूपाः स्थ। अतो भवत्प्रसादादहं युष्मत् संबन्धि क्षीराज्यादिरूपमन्नं सेवेय[1]। तथा यूयं पूज्यरूपाः स्थ। अतः पूज्यानां युष्माकं प्रसादादहमपि पूज्यत्वं सेवेय। यद्वा—"यथा गौर्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमीक्षा तस्यै वाजिनम्।" इति श्रुत्युक्तानि दशवीर्याणि महः—तद्रूपाः स्थ। अतो युष्माकं तद्वीर्यमहं सेवेय[2]। तथा गोक्षीरादेर्बलहेतुत्वादुपचारेण यूयं बलरूपाः स्थ। अतो युष्माकं प्रसादाद्बलं सेवेय। एवं क्षीराज्यादिविक्रयेण धनवर्द्धनादुपचारेण धनपुष्टिरूपाः स्थ। अतो युष्माकं प्रसादाद्धनपुष्टिमहं सेवेय इत्याह। प्रतिधुक् तत्कालयदुग्धम्। शृतमुष्णदुग्धं, शरो दुग्धमण्डः मस्तु दधिरसः। आतञ्चनं दधिपिण्डः। आमीक्षा स्फुटितंदुग्धं। वाजिनमामिक्षाजलम् ॥ १० ॥

रेवती रमध्वमास्मिन् योना, वस्मिन,
गोष्ठे, ऽस्मिंल्लोके ऽस्मिन् क्षये, इहैव स्त,
मा पगात ॥ ११ ॥

"पशवो वै रेवन्तः" इति श्रुतिः (२ । ३ । ४ । २६) । हे रेवत्यः ! हे धनवत्यो गावः ! अत्र भविष्यति युष्माकमनेकः सञ्चारप्रदेशः । यदीच्छथ—अस्मिन् अग्निहोत्रहविर्दोहनस्थाने विहरत । अस्मिन् यजमानसंबंधि गोवाटे विहरत । यजमानदृष्टि विषये बहिः संचारप्रदेशे विहरत । रात्रो वा यजमानगृहे विहरत । तदेवं विहरणप्रदेशानुपलम्भप्रयुक्तावरोधक्लेशो युष्माकं न संभविष्यतीत्यतो यूयमिहैव यजमानसन्निधौ तिष्ठत, नान्यत्र गच्छतेत्याह ॥ ११ ॥

अथ गामालभमानो ब्रूते—

संहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन ॥ १२ ॥

हे गौः ! शुक्लकृष्णादि बहुरूपा त्वं क्षीराज्यादिहविर्दानाय यज्ञकर्मभिः संयुक्तासि सा त्वं क्षीराज्यादिरसेन गोस्वामित्वेन च मां सर्वतः प्रविश—त्वत्प्रसादान्मे बहुविधो रसो गोस्वामित्वं च सम्पद्यतामित्याह ॥ १२ ॥

॥ अथ गार्हपत्योपस्थानमन्त्राः ॥

अतः परं गार्हपत्याग्निं गत्वोपतिष्ठते—

उप त्वाग्ने दिवेदिवे-दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥ १ ॥
राजन्तमध्वराणां—गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्द्धमानं स्वे दमे ॥ २ ॥
स नः पितेव सूनवे—ऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! अग्निर्हि रात्रिं प्रविवेशेति श्रौतेतिहासः । हे दोषावस्तः ! रात्रौ वसनशील ! गार्हपत्य वयं यजमानाः श्रद्धायुक्तया बुद्ध्या नमस्कारमावहन्तः प्रतिदिनं त्वामुपैमः—त्वां प्रत्यागच्छामः इत्याह । किञ्च दीप्यमानं यज्ञानां गोप्तारं सत्यलक्षण व्रतस्य दीपयितारं मदीये निजे गृहे चातुर्मास्य सोमपश्वादिभिरभिवृद्धिं गच्छन्तं त्वामुपैम इत्याह । हे अग्ने ! गार्हपत्य ! स ईदृशगुणयुक्तस्त्वमस्माकं सुखेनोपैतुं शक्यो भव । यथा पिता पुत्राय निर्भयमुपगम्यते। किञ्च—अस्माकं क्षेमाय कर्म्मणा समवेतो भव । यथा पिता पुत्रस्य कल्याणे व्यापृतो भवति दुखाःदित्रणाय च तैःर्निः शङ्कमाश्रीयते तथैव त्वमस्मदर्थे भवेत्याह ॥ १४ ॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ॥ १ ॥
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥ २ । १५ ॥

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ३ ॥
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्याणो अघायतः समस्मात् ॥ ४ । १६ ॥

हे अग्ने ! गार्हपत्य ! त्वमस्माकं समीपवर्ती भव—अपि च पालयिता, शान्तः, गृहाय हितो भव। हे अग्ने ! त्वं जनानां वासयिता धनेन च कीर्तिमानसि। स त्वमच्छानक्षि अभिव्याप्नुहि। यद्वा हे अच्छ ! निर्मलाग्ने ! अस्मद्धोमस्थानं गच्छ। किञ्च अतिदीप्तियुक्तं धनं देहि। हे दीप्तिमत्तम ! हे सर्वस्य दीपयितः ! तं पूर्वोक्तगुणयुक्तं त्वां सखिभ्योऽर्थाय सुम्नाय सुखाय निश्चयेन याचामहे—यद्वा—सुखार्थं अस्मत्सखीनामुपकाराय च त्वामीमहे। स त्वमस्मान् बुध्यस्व, तथास्मदीयमाह्वानं शृणु, सर्वस्मादेव शत्रोरस्मानुत्कृष्य परिरक्षेत्याह ॥ १६ ॥

अथ गां गच्छति—

इड एह्यदित एहि ॥ काम्या एत, मयि वः कामधरणं भूयात् ॥ १७ ॥

हे इडे ! आगच्छ। हे अदिते ! आगच्छ होमस्थानम्। अतिदेशोऽयम्। हे गौः ! इडा यथा मनुं तथा त्वमस्मानेहि। अदितिर्यथा आदित्यान् तथा त्वमस्मानेहीत्याह। इडा मनोर्दुहिता अदितिर्देवमाता। अथ गामालभमानो ब्रूते—हे काम्याः ! सर्वैः कामयितव्याः। गावः यूयमागच्छत। युष्माकं कामधरणमपेक्षितफलधारकत्वं मयि भूयात्। युष्मत् प्रसादादहमभीष्टफलधारयिता भूयासमित्याह। यद्वा—मयि युष्माकमनुरागस्थितिर्भूयादित्याह। तथा च श्रुतिः—"अहं वः प्रियो भूयासमिति" ॥ (२ । ३ । ४ । ३४) ॥ १७ ॥

अथ व्रतोपायनवदपरेणाहवनीयं प्राङ् तिष्ठन्नवर्चं जपति—

सोमानं स्वरणं, कृणुहि ब्रह्मणस्पते,
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ १ ॥
यो रेवान् यो अमीवहा, वसुवित् पुष्टि-
वर्द्धनः, स न सिषक्तु यस्तुरः ॥ २ ॥
मा नः शंसो अररुषो, धूर्त्तिः प्रण-
ङ्मर्त्यस्य, रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मणस्पते ! वेदस्य पालक ! उशिजो गर्भजातं दीर्घतमस औरसं कक्षीवन्तमृषिं—सोमानामभिषोतारं शब्दयितारं कुरु। अतिदेशोऽयम्। कक्षीवन्तमिव मां सोमयागकर्तारं स्तोतारं च कुर्वित्याह ॥१॥ यो ब्रह्मणस्पतिर्धनवान् यश्च रोगस्य हन्ता। धनज्ञाता, पोषकः।

यश्च तुरो वेगशीलोऽविलम्बितकारी । स ब्रह्मणस्पतिरस्मान् सेवताम् इत्याह । यद्वा—धनवान् व्याधिहन्ता धनोपार्जकः पोषकः शीघ्रकारी च पुत्रोऽस्मान् सेवतामित्याह ॥२॥ हे ब्रह्मणस्पते ! अस्मान् रक्ष । येन कदाचिदपि हविर्दानमकृतवतो मनुष्यस्य द्रोहो हिंसा चास्मान् न व्याप्नुयात् नाशयेद्वा इत्याह ॥३॥ ररौ स ररिवान् तस्यायं प्रतिषेधः । शंसोऽनिष्टचिन्तनं, धूर्तिर्हिंसा ॥२०॥

महि त्रीणामवोऽस्तु, द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः, दुराधर्षं वरुणस्य ॥ १ ॥

नहि तेषाममा चन, नाध्वसु वारणेषु ईशे रिपुरघशंसः ॥ २ ॥

ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥ ३ ॥

मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्येति त्रयाणां देवानां सम्बन्धि महद्रक्षणं भवतु, यत् प्रकाशाश्रयं तिरस्कर्तुमशक्यञ्च इत्याह ॥ १ ॥ वारणप्रधानेषु चोर व्याघ्रादिभयाढ्येषु मार्गेषु गच्छतां नापि वा गृहेष्वपि सतां तेषां मित्रवरुणार्य्यमपालितानां यतस्तावन्न घातको रिपुः प्रभवति मित्रादिभिः पालितानामस्माकं गृहेऽरण्ये वा नास्ति शत्रुबाध इत्याह ॥ २ ॥ यतस्ते मित्रार्य्यम-वरुणाः अखण्डितशक्तेर्देवमातुः पुत्रा मनुष्याय यजमानाय जीवितुं निरन्तरमनुपक्षीणं तेजः प्रयच्छन्ति ततो नः पूर्वोक्तशत्रुबाध इत्याह ॥ ३ ॥ अयं तृचः पथि जप्त उपद्रवनाशको भवति ॥ २३ ॥

कदाचन स्तरीरसि, नेन्द्र सश्चसि दाशुषे

उपोपेन्नुमघवन् भूय इन्नु ते, दानं देवस्य पृच्यते ॥ २४ ॥

हे इन्द्र ! परमैश्वर्य्ययुक्त ! त्वं कदापि हिंसको नासि । किन्तु हविर्दत्तवन्तं यजमानं सेवसे । हे मघवन् ! धनवन् ! प्रकाशमानस्य तव बहुतरमेव दानं क्षिप्रमेव दाश्वांसमुपोपपृच्यते । न कदाचिद् यजमानं प्रति क्रुध्यसि, सेवसे च तं, त्वदीयं भूयो धनं दाश्वांसमुपगच्छति ॥ इत्याह ॥ इदेवार्थः । नु क्षिप्रार्थः ॥ २४ ॥

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २५ ॥

तस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य देवस्याराध्यं वीर्य्यं ध्यायामः योऽस्माकं बुद्धिः कर्म्माणि वा प्रेरयति इत्याह । "वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद् भर्गोऽपचक्राम—वीर्यं वै भर्गः" इति श्रुतिः (५।४।५।१) मण्डलं पुरुषो रश्मय इत्यपि त्रयं भर्गः शब्दाभिधेयम् ॥ २५ ॥

परि ते दूडभो रथोऽस्मांनश्नोतु विश्वतः । येन रक्षसि दाशुषः ॥

हे अग्ने ! दुर्दभः केनापि सहसा हिंसितुमशक्यस्तव रथो अस्मान् सर्वतः पर्य्याप्नोतु। येन रथेन त्वं दाशुषो यजमानान् पालयसि। "यजमाना वै दाश्वांसः" इति श्रुतिः। (२।३।४।३८)॥ २६॥

इति बृहदुपस्थानं समाप्तम्॥

॥ अथक्षुल्लकोपस्थानम् ॥ (आसुरिदृष्टम्)

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां, सुवीरो वीरैः, सुपोषः पोषैः ॥१॥
नर्य्य प्रजां मे पाहि। शंस्य पशून्मे पाहि, अथर्य्य पितुं मे पाहि ॥२॥

हे अग्ने ! गार्हपत्य ! आहवनीय ! वा—त्वं व्याहृतित्रयात्मकः लोकत्रयात्मको वासि। अतस्त्वत्प्रसादादहं प्रजाभिर्बन्धुभृत्यादिरूपाभिः कृत्वा सुप्रजा भवेयम्। तथा पुत्रैः सत्पुत्रवान् भवेयम्। एवं पोषकसामग्रीभिर्हिरण्यादिद्रव्यैः सुपुष्टो भवेयमित्याह ॥१॥

अथ यजमानो यदि ग्रामान्तरं गन्तुमिच्छति तदानीं सर्वानग्नीनुपतिष्ठेत तदिदं प्रवत्स्यदुपस्थानमुच्यते, तथाहि हे नर्य्य ! नरेभ्योहित ! गार्हपत्य ! मम प्रजां रक्षेत्याह। हे शंस्य ! अनुष्ठातृभिः प्रशंसनीय ! आहवनीय ! मम पशून् रक्षेत्याह॥ हे अथर्य्य ! सततं गार्हपत्यात् स्वस्थानं प्रति गमनशील ! दक्षिणाग्ने ! ममान्नं रक्षेत्याह ॥२॥

अथ प्रत्यावृत्तः समित्पाणिः कञ्चिदपि जनमगत्वैव प्रथममेवाग्न्यागारं प्राप्य आहवनीय गार्हपत्य-दक्षिणाग्नीन् प्रत्येकमुपतिष्ठेत तदिदमागतोपस्थानमुच्यते। तत्र तावदाहवनीयमुपतिष्ठते।

आगन्म विश्ववेदस मस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥१॥

हे अग्ने ! हे सम्राट् ! आहवनीय ! सर्वज्ञं सर्वधनं वाऽस्मदर्थेऽतिशयेन धनस्य लब्धारं त्वामुद्दिश्य वयं ग्रामान्तरात् प्रत्यागताः स्मः। स त्वमस्मभ्यं यशो बलं च देहीत्याह ॥१॥
अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते—

अयमग्निर्गृहपति र्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥२॥

अयं पुरोऽवस्थितोऽग्निर्गार्हपत्यो नाम गृहस्य पालकोऽस्ति-प्रजायाश्च पुत्रपौत्रादिकाया

अनुग्रहार्थमतिशयेन धनस्य लब्धा भवति तं याचे। हे अग्ने! हे गृहपते! गार्हपत्य! स त्वं यशो बलं चाभ्यायच्छस्व इत्याह ॥ २४॥ एवं दक्षिणाग्निम्—

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ३ ॥

योऽयमग्निः पशव्यो धनवान् पुष्टिवर्द्धयिता च तं याचे। हे अग्ने! हे पशुहित! दक्षिणाग्ने! अस्मभ्यं यशो बलं चाभ्यायच्छस्व इत्याह॥ "पशवो वै पुरीषम्" इति श्रुतिः ॥५॥

अथैवं ग्रामान्तरादागतो गृहानुपैति—

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमनाः सुमेधा, गृहानैमि मनसा मोदमानः॥ १॥
येषामध्येति प्रवसन्, येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे, ते नो जानन्तु जानतः ॥ २ ॥
उपहूता इव गाव, उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल, उपहूतो गृहेषु नः॥
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये, शिवं शग्मं शंयोः शंयोः ॥ ३ ॥

हे गृहाः! पालको यजमानो गत इति भयं मा कुरुत—कोऽपि शत्रुरागत्य विनाशयिष्यतीति बुध्या कम्पं वा मा कार्ष्ट। यतो वयमूर्जं धारयमाणानेव युष्मानागताः स्मः। यथा यूयमूर्जं बिभ्रतः—तथाहमपि ऊर्जं धारयन् सुप्रसन्नः सुष्ठुधारणप्रज्ञोपेतो दुखःरहितेन मनसा हृष्यन् युष्मान् प्रत्यागच्छामीत्याह ॥ १ ॥ अथ देशान्तरं गच्छन् यजमानो यान् गृहान् स्मरति येषु च गृहेषु यजमानस्यातिशयितः प्रेमा। तान् गृहान् वयमाह्वयामः। ते वास्तुदेवाः आहूताः सन्त उपकाराभिज्ञानस्मान् जानन्तु इत्याह ॥ २॥ अस्माकं गृहेष्वेतेषु धेनवो बलीवर्दाश्च सुखेनावस्थानाय संप्रत्यस्माभिरनुज्ञाताः खलु। एवमेव छागा मेषाश्चात्रावस्थानायोपहूताः। अपि च—अन्नसम्बन्धी रसविशेषोऽप्यस्मदीयेषु गृहेषु समृद्धो भवत्वित्येवमनुज्ञातम्। हे गृहाः! विद्यमानवसुरक्षणरूपक्षेमाय सर्वानिष्टशमनाय च युष्मान् प्रपद्ये। अतः कल्याणं

कामयमानस्य शंयोरैहिकं सुखमामुष्मिकञ्च सुखं भूयात् इत्याह ॥ ३ ॥ शंयुर्नाम ऋषिः । अभ्यासः सम्पूर्तिसूचनार्थः मङ्गलातिशयार्थश्चेति शिवम् । इत्युपस्थानमन्त्राः समाप्ताः ॥

आहवनीयं नवभिस्त्रिभिरथ गां, गार्हपत्यं तु ।
सप्तभिरथ गां द्वाभ्यां, नवभिस्तु ब्रह्मणस्पातिकम् ॥ १ ॥
पञ्चभिरग्नींस्त्रिभिरथ गृहानुपास्ते ह्युपस्थाने ।
क्षुल्लकमष्टकमन्त्यं, बृहदन्यत् त्रिंशता क्लृप्तम् ॥ २ ॥
आधानमष्टाभिर्होमः सप्तभिस्त्रिंशता बृहत् ।
उपस्थानं क्षुल्लकं तु मन्त्रैरष्टाभिरिष्यते ॥ ३ ॥
आधानहोमोपस्थानैस्त्रिभिः प्रकरणैरयम् ।
त्रिपञ्चाशन्मितैर्मन्त्रैरग्निहोत्रविधिः श्रुतः ॥ ४ ॥

इत्यग्निहोत्राधिकारः ॥

१—अग्न्याधाने—मन्त्राः—अष्टौ—८
२—होमे सप्त मन्त्राः— ७
३—बृहदुपस्थाने त्रिंशन्मंत्राः— ३०
 ९ आहवनीयोपस्थाने—नव
 ३ गवामुपस्थाने—त्रयः
 ७ गार्हपत्योपस्थाने—सप्त
 २ गवामुपस्थाने—द्वौ
 ९ ब्राह्मणस्पत्यजपे—नव
 ३०
४—क्षुल्लकोपस्थाने— ८
 ५ अग्नित्रयोपस्थाने—
 ३ गृहोपस्थाने—
 ८ ५३

॥ अथ चातुर्मास्याधिकारः ॥



चातुर्म्मास्यो नाम यागविशेषः। स पर्वचतुष्टयात्मकः। तानि च वैश्वदेव—वरुणप्रघास—साकमेध—शुनासीरीयाख्यानि चत्वारि पर्वाणि। तत्र वरुणप्रघासाख्ये द्वितीये पर्वणि दक्षिणोत्तरयोर्द्वयोर्वेद्योर्हविःष्वादितेषु प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदानंस्तदीयं प्रेमपात्रं पतिं पृच्छेत्—"केन चरसीति"। सापि तं ब्रूयात्। ततः एनां नयन् प्रतिप्रस्थाता मारुतीं गायत्रीं वाचयति—

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः, करम्भेण सजोषसः ॥ १ ॥

यवमयो हविर्विशेषः करम्भः। तेन समानप्रीतीन् धातुकोपक्षयकरान् प्रघासिनामकमरुदुपलक्षितान् सप्तसप्तकान् मरुतो नाम देवान् सपरिचारकान् वयं हवामहे इत्याह॥ प्रघासी नाम मरुतामेकः। वहुवचनं गणमाक्षिपति॥ १॥

अथ यवपिष्टेन निर्म्मितानि यानि सन्तानपरिमितान्येकाधिकानि वर्तुलादिरूपाणि करम्भपात्राणि—तानि शूर्पेण मूर्द्धनि कृत्वा प्रत्यङ्मुखी पत्नी दक्षिणाग्नौ जुहुयात्। अथ वा जायापती दक्षिणेन मार्गेण तानि पात्राण्याहृत्य वेद्याः पूर्वदिशि पश्चिमदिशि वा स्थित्वा जुहुयाताम्—

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे—स्वाहा॥ २॥

ग्रामे वसन्तो वयं यत्पापं प्रतिवेशिपीडादिकं कृतवन्तः—यच्च वने वसन्तो मृगोपद्रवादिकं पापं कृतवन्तः। तथा सभायां गता वयं महाजनतिरस्कारादिकं यत्पापं कृतवन्तः। एवमिन्द्रिये जिह्वोपस्थादिके तत्सुखे वा निमित्तभूते यत्पापं कलञ्जभक्षणपरस्त्रीगमनादिकं कृतवन्तः। अन्यद्वा यत्किञ्चिदेव ज्ञातमज्ञातं वा पापं कृतवन्तः। तदिदं सर्वमेव पापं विनाशयामः इत्याह॥ २॥

अथ यजमानो जपति—

"मो षू ण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥३॥

हे इन्द्र! एषु सङ्ग्रामेषु देवैर्मरुत्संज्ञैः सहितस्त्वमस्मान् सुष्ठु मो विनाशयेति वाक्यशेषः।

हे शुष्मिन् ! बलवन्निन्द्र ! तव भागपार्थक्यादवयुतो यागोऽस्ति हि स्म । वृष्टिप्रदत्वेन सेक्तुर्हविर्योग्यस्य च यस्य तव यवमयैः करम्भपात्रैर्निष्पन्ना होमक्रिया हि पूजा खलु भवति । अथ अस्मदीया चेयं वाणी मरुतो भवतः सखीन् नमस्करोतीत्याह् ॥ ३ ॥

अथैनां वाचयति—

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वाऽस्तं प्रेत सचा भुवः ॥ ४ ॥

वरुणप्रघासाख्यकर्मकारिण ऋत्विजः सुखोत्पादिकया स्तुतिवाचा सह वरुणप्रघासानुष्ठानरूपं कर्म्म कृतवन्तः । हे सचाभुवः ! अस्मिन् कर्म्मणि सहभूता ऋत्विजः ! देवोद्देशेन वरुणप्रघासनामकमिदं कर्म्मानुष्ठाय सम्प्रति गृहं गच्छत इत्याह ॥ ४ ॥

अथ वरुणप्रघासस्य कर्म्मणोऽन्ते तदङ्गभूतमवभृथाख्यं कर्म्म जलसमीपे क्रियते तत्र दम्पतीभ्यां जले स्नातव्यमनेन यज्ञदैवतेन यजुषा—

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैं—
र्मर्त्यकृतम् । पुरुराव्णो देव रिषस्याहि ॥ ५ ॥

अर्वाचीनानि पात्राणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽयमवभृथः सम्बोध्योच्यते । हे अवभृथ ! यज्ञ ! हे निचुम्पुण ! नितरां मन्दगमनशील ! यद्यपि त्वं निचेरुः=नितरां गमनशीलोऽसि तथाप्यत्र निचुम्पुणो=मन्दगमनो भव यतोऽहं द्योतनात्मकैरस्मदीयैरिन्द्रियैः हविःस्वामिषु देवेषु कृतं यत्पापं तद्–अवायासिषम्=अस्मिन् जलेऽवनीतवानस्मि । तथा मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिः मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यत्पापं तदप्यवायासिषम् अत इदमस्मत्त्यक्तं पापं यथा त्वां न व्याप्नोति तथा मन्दं गच्छेति । किञ्च—हे देव ! अवभृथयज्ञ ! बहुविरुद्धफलप्रदायकाद्वधात्पालय=विरुद्धफलदायी वधस्त्वत्प्रसादादस्माकं मा भूदित्याह ॥ ५ ॥

इति वरुणप्रघासमन्त्राः ।

अथ साकमेधः ।

तत्र दर्व्या स्थालीत ओदनग्रहणं करोति । दर्वी चान्नप्रदानसाधनभूता काष्ठादिनिर्म्मिता भवति । तां प्रति तावद् ब्रूते—

पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत ।
वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ॥ १ ॥

हे दर्वि ! त्वं स्थाल्याः सकाशादन्नं गृहीत्वा पूर्णा भूत्वा उत्कृष्टा सती पत=इन्द्रं प्रतिगच्छ कर्म्मफलेन च सुष्ठु पूर्णा सती भूयोऽस्मान् प्रत्यागच्छ । हे शतक्रतो ! बहुकर्म्मन् इन्द्र ! त्वं चाहं चोभौ वस्नेव मूल्येनेव अभीष्टं हविःस्वरूपमन्नं हविर्दानफलरूपं रसविशेषं च विक्रीणावहै परस्परं द्रव्यविनिमयरूपविक्रयं करवावहै=अहं तुभ्यं हविर्ददामि त्वं च मह्यं फलं देहीत्याह ॥१॥

अथ तमोदनं जुहोति—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते=स्वाहा ॥ २ ॥

इन्द्रो वदति । हे यजमान ! त्वं प्रथमं मह्यं हविः प्रयच्छ पश्चादहं तवापेक्षितं फलं प्रयच्छामि । पुनरादरार्थमुच्यते—प्रथमं त्वं मह्यं हविर्नितरां सम्पादय । ततस्तुभ्यं यजमानाय अपेक्षितं फलं नितरां सम्पादयामि ॥ एवमिन्द्रवाक्यं श्रुत्वा यजमानो वदति—

निहारं मूल्येन क्रेतव्यवस्तुरूपं फलं मह्यं यजमानाय प्रयच्छ । निहारं मूल्यभूतं हविस्तुभ्यमिन्द्राय नितरां समर्पयामि इत्याह । स्वाहेति हविःप्रक्षेपः ॥२॥

अथ साकमेधपर्वणि पितृयज्ञः

अथ साकमेधगते पितृयज्ञाख्ये कर्म्मणि आहवनीयोपस्थानम्। तत्र यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्क्रम्योदञ्च आहवनीयमुपतिष्ठन्ते—

"अक्षन्नमीमदन्त ह्यवप्रिया अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती।
योजा न्विन्द्र ते हरी॥ १॥
सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशान् अनु।
योजा न्विन्द्र ते हरी॥ २॥

पितृयज्ञाख्ये कर्म्मणि ये पितरः सन्ति तेऽस्माभिर्दत्तं हविःस्वरूपमन्नं—भक्षितवन्तः। हि यतः—हर्षं प्राप्तवन्तः—अतएव प्रियास्तनूरवकम्पितवन्तः। किञ्च—स्वयं दीप्तियुक्ता मेधाविनः सन्तो नवतमया मत्या स्तुतिं कृतवन्तः—"अहो स्वाद्वन्नं, बहुदत्तमहो भक्तिरित्याद्यभिहितवन्तः।" अत एव हे इन्द्र! क्षिप्रं तव हरिनामकौ हरितवर्णावश्वौ गमनाय रथे योजय=तवाभीष्टायाः पितृतृप्तेः सम्पन्नत्वात्तैः पितृभिः सह त्वया गन्तव्यमित्याह ॥१॥

हे मघवन्! इन्द्र अनुग्रहदृष्ट्या सर्वस्य द्रष्टारं त्वां वयं वन्दिषीमहि=स्तुतिकर्तारो भूयास्म। यतस्त्वं स्तुतः सन् स्तोतृभ्यो दातव्यधनैः पूर्णरथनीडो भूत्वा कामयमानान् यजमानान् प्रति अवश्यं प्रयासि। हे इन्द्र! स त्वं क्षिप्रं तव हरी अश्वौ रथे योजयेत्याह ॥२॥

अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते—

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन, पितॄणां च मन्मभिः॥ १॥
आ न एतु मनः पुनः, क्रत्वे दक्षाय जीवसे, ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ २॥
पुनर्नः पितरो मनो, ददातु दैव्यो जनः, जीवं व्रातं सचेमहि॥ ३॥

पितृयज्ञानुष्ठानेन चित्तं पितृलोकं गतमिवासीत्—तदिदं पुनरानीयते खलु ॥ मनुष्याणां योग्यं प्रशंसनं नराशंसः। तत्सम्बन्धिना स्तोत्रेण—तथा यैः पितरो मन्यन्ते तादृशैः स्तोत्रैश्च मनः क्षिप्रमाह्वयामः इत्याह ॥ १ ॥ अस्माकं मनः पुनरायातु, यज्ञसङ्कल्पाय, कर्मण्युत्साहाय च, चिरं जीवितुं, चिरकालं सूर्यमवलोकयितुं च इत्याह—'तदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृद्ध्यते स दक्षः"—इति श्रुतिः ॥ २ ॥ हे पितरः!

भवदनुज्ञया देवसम्बन्धी पुरुषः अस्मन्मनः पुनरस्मभ्यं प्रयच्छतु येन वयं जीवनवन्तं गणं पुत्रपश्वादिकं सेवेमहि इत्याह ॥ ३ ॥

अथ योऽयं पितृयज्ञे सोमनामको देवस्तद्गायत्रीं जपति—

वयं सोम व्रते तव, मनस्तनूषु बिभ्रतः प्रजावन्तः सचेमहि ॥ १ ॥

हे सोम ! तव कर्मणि वर्तमानाः, त्वच्छरीरे निजं चित्तं धारयन्तः, त्वत्कृपया पुत्रपौत्रादिसम्पन्नाः, सन्तो वयं सेवितव्यानि सेवेमहि इत्याह । अशुद्धोऽयमनर्गलोऽर्थो महीधरकृतः। वस्तुतस्तु—हे सोम ! प्राणिनां शरीरेषु मनो वस्तु प्रवेशयतस्तव धृतौ वयं सर्वे प्रजासहिताः समवेताः स्म इत्याहेति परे ॥१॥

अथ साकमेधगतत्र्यम्बकहविर्विषया मन्त्राः

तत्रादौ द्वे यजुषी—आद्येनावदानं जुहोति-अथापरेणातिरिक्तमाखूत्करे उपकिरति-अत्र हि यजमानस्य यावन्तः पुत्रभृत्यादयः पुरुषा भवन्ति तान् गणयित्वा प्रतिपुरुषमेकैकः पुरोडाश इत्येतावतः पुरोडाशान्निरूप्य ततोऽप्यधिकमेकं पुरोडाशं निर्वपेत्—सोऽयमतिरिक्तो नाम तं न जुहुयात्—किन्तु मूषकोत्खाते उपकिरेत्—

"एष ते रुद्र भागः, सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व—स्वाहा ॥ १ ॥

एष ते रुद्र भागः, आखुस्ते पशुः ॥ २ ॥

हे रुद्र ! एष पुरोडाशः तव भागः प्रकल्पितः । तञ्च स्वभगिन्या अम्बिकानाम्न्या सह सेवस्व इत्याह । "अम्बिका ह वै नामास्य'स्वसा—तयास्यैष सह भागः ।" इति शतपथश्रुतिः ॥ २ । ६ । २ । ९ ॥ इयं चाम्बिका शरदृतुरूपा—तथा च तित्तिरिः—

"एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया इत्याह—शरद्वा अस्याम्बिका सा भिया एषा हिनस्ति—यं हिनस्ति—तयैवैनं सह शमयति।।" इति ॥ १ ॥

हे रुद्र ! एषोऽस्माभिरुपकीर्यमाणोऽतिरिक्तः पुरोडाशः तव भागः । तथा मूषकस्तव पशुत्वेन समर्पितः इत्याह—आखुदानेन तुष्टो रुद्रस्तयाम्बिकया यजमानपशून्न मारयति ॥ २ ॥

अथ जपति—

"अव रुद्र मदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् ।
यथा नो वस्यसस्करद्–यथा नः श्रेयस्करद्
यथा नो व्यवसाययात् ॥ १ ॥

भेषजमासि; भेषजं गवेऽश्वाय ।
पुरुषाय भेषजं, सुखं मेषाय मेष्यै" ॥ २ ॥

पृथग् रुद्रं भोजयामः, पृथक् त्र्यम्बकं देवं भोजयामः । येनासौ रुद्रोऽस्मान् वस्तृतरान् वसनशीलान् कुर्यात्—येन वा ज्ञातिषु प्रशस्यतरान् कुर्यात्—येन चास्मान् सर्वेषु कार्येषु निश्चययुक्तान् कुर्यात् इत्याह ॥ १ ॥

हे रुद्र ! त्वमौषधवत् सर्वोपद्रवनिवारकोऽसि । अतोऽस्माकं गवेऽश्वाय पुरुषाय सर्वव्याधिनिवारकमौषधं—देहि मेषाय मेष्यै च सुखं देहि इत्याह । अनेन जप्तेन गृहपशूनां क्षेमप्राप्तिर्भवति ॥ २ ॥

अथ पितृवत्सव्योरूनाम्नाना अग्निं त्रिः परियन्ति, देववच्च पुनर्दक्षिणानाम्नाना अग्निं त्रिः परियन्ति, तत्तद्यजमाना आद्येन, तेषां कुमार्यश्चोत्तरेण ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ॥
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ १ ॥
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ॥
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ २ ॥

दिव्यगन्धोपेतं मर्त्यधर्महीनं धनधान्यादिपुष्टेर्वर्द्धयितारं नेत्रत्रयोपेतं रुद्रं पूजयामः । ततो रुद्रप्रसादादहं यथा कर्कन्ध्वादेः फलमत्यन्तपक्वं सत् स्वस्य वृन्तात् प्रमुच्यते तद्वदपमृत्योः संसारमृत्योश्च मुक्तो भूयासम्—स्वर्गरूपान्मुक्तिरूपाच्चामृतान्मुक्तो मा भूयासमित्याह ॥ १ ॥

अथाग्निं परिक्रमन्त्यः कुमार्य्यः पठन्ति—भर्त्तुर्लम्भयितारं त्र्यम्बकं पूजयामः । यत्प्रसादादहं कर्कन्ध्वादिफलमतिपक्वं स्ववृन्तादिवस्वपैतृकबन्धुवर्गान्मुक्ता भूयासम्—विवाहादूर्ध्वं भविष्यतः पत्युश्च मुक्ता मा भूयासम् जनकस्य गोत्रं गृहं च परित्यज्य पत्युर्गोत्रे गृहे च सदा त्र्यम्बकप्रसादाद्वसामीत्याह ॥ "सा यदित इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह । मामुत इति पतिभ्यस्तदाह"—इति श्रुतिः ॥ २ । ६ । २ । १४ ॥

अथैतत्त्र्यम्बकहविःशेषद्रव्यमादाय क्वचिदुन्नतप्रदेशे तथा न्यस्तव्यं यथा तदाघ्राय गावो रोगं न प्राप्नुयुः । तथाच तान् त्र्यम्बकान् हविःशेषान् कयोश्चिन्मूतयोः कृत्वा स्वकीयेनांसेन वोढुं शक्यायां वंशयष्ट्यामग्रद्वये तन्मूतद्वयमवासज्य स्थाणौ वृक्षे वंशे वल्मीके वा तां वंशयष्टिं मूतद्वययुतामासज्जति । व्रीहियवादीन् बध्वा वहनार्थं तृणवंशादिनिर्म्मितः पात्रविशेषो मूतम् ॥

"एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा
अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥ १ ॥

मूजवान्नाम कश्चित्पर्वतो रुद्रस्य वासस्थानम्। अवसस्तु देशान्तरं गच्छतो मार्गमध्ये तटाकादिसमीपे भोक्तव्य ओदनविशेषः। हे रुद्र! एतद्धविःशेषाख्यं भोज्यं तव पाथेयं भवति—तेन सहितस्त्वं मूजवतः पर्वतात् परभागवर्ती सन्नतिगच्छ किञ्च अस्मद्विरोधिनां त्वया निवारितत्वादित ऊर्ध्वं धनुषि ज्यारोपणस्य प्रयोजनाभावादतः परमवरोपितचापः—तथा मार्गेऽन्येषां भयं न स्यादित्येवमर्थमिव वस्त्रादिना प्रच्छादितपिनाकाख्यचापः—चर्माम्बरस्त्वमस्मानहिंसन् अस्मदीयपूजया सन्तुष्टश्च भूत्वा तत्पर्वतमतिक्रम्य गच्छ इत्याह। इत्येवमुन्नते वृक्षादौ मूतद्वयेऽवसज्य प्रत्यावर्त्तमाना मूतद्वयं पश्चादनवेक्ष्यैव वेदिसमीपे समागत्योदकं स्पृशेयुः ॥ १ ॥

समाप्ता रुद्रमन्त्राः ॥ ६ ॥

अथ यजमानो (वपनकाले) जपति—

"त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥

त्रयाणां बाल्ययौवनस्थाविराणामायुषां समाहारस्त्र्यायुषम्। तदिदं यथा जमदग्निमुनेः यथा कश्यपप्रजापतेः—यथा वेन्द्रादिदेवेषु—तथैवैतत्सर्वं त्र्यायुषमस्माकं यजमानानां भवतु इत्याह ॥ १ ॥

अथ लोहक्षुरमादाय जपति—हे क्षुर!

"शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु—मा मा हिंसीः।
निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याय ॥

त्वं नाम्ना शिवोऽसि—वज्रं तव पिता भवति। तुभ्यं नमोऽस्तु। मां मा हिंसीः॥ अथ वपति। हे यजमान! संजीवनाय, अन्नभक्षणाय, सन्तानाय, धनपुष्ट्यै, शोभनापत्यतायै, सुष्ठु सामर्थ्याय च त्वां मुण्डयामीत्याह ॥ १ ॥

शिवमिति शिवम्—

वरुणप्रघासमन्त्राः पञ्च, चतुर्दश तु साकमेधीयाः ।
द्वौ वपनस्य तदित्थं मन्त्रा अत्रैकविंशतिः सिद्धाः ॥ १ ॥

॥ इति चातुर्मास्याधिकारः ॥

हविर्यज्ञपरिच्छेदः पूर्णास्तिसृभिरिष्टिभिः ।
त्रयस्त्रिंशशतं मन्त्रास्तत्रैते विनियोजिताः ॥ १ ॥

इति हविर्यज्ञपरिच्छेदः

अथ द्वितीयं मण्डलम्

प्राक्सौमिके हविर्यागे मन्त्राः पूर्वं प्रदर्शिताः ।
अतः परं सोमयागे येमन्त्रास्तान् निबोधतः ॥ १ ॥

तत्र तावदग्निष्टोमाधिकारः ॥

तत्रादौ यजमानः षोडशर्त्विजो वृत्वा अरण्योरग्नी समारोप्य शालां गच्छेत्, शालास्तम्भं पूर्वार्द्धं गृहीत्वा अरणिपाणिर्जपति—

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे ।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम ॥१॥

वयं पृथिव्याः सम्बन्धि इदं देवयजनप्रदेशमागताः स्मः। यत्र सर्वे देवाः प्रीत्या स्थिताः सन्ति। किञ्च ऋक्सामाभ्यां यजुर्भिश्च मन्त्रैः सोमयागं समापयन्तो वयं धनपुष्ट्या अन्नेन च संमदेम हृष्टा भवेमेत्याह ॥

दक्षिणं गोदानं वितार्य उनत्ति—

इमा आप शमु मे सन्तु देवीः ॥ २ ॥

शिरः क्लेदाय सिच्यमाना निर्म्मलतया द्योतना एताः आपो मम यजमानस्य सुख कारिण्य एव भवन्तु इत्याह ॥

अथ पश्वर्थयूपवदिहापि तृणमन्तर्धाय क्षुरेण च्छेदयति—

ओषधे ! त्रायस्व ॥ ३ ॥

स्वधिते ! मैनं हिंसीः ॥ ४ ॥

हे कुशतरुण ! त्वं यजमानं क्षुराद्रक्षेत्याह।
हे क्षुर ! एनं यजमानं मा हिंसीः इत्याह ॥

अथ कृतक्षौरः स्नाति—

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतने नो ।
घृतप्वः पुनन्तु विश्वं हि रिप्रं वहन्ति देवी ॥ ५ ॥

जगन्निर्मात्र्यो मातृवत्पालयित्र्यो वा आपः कृतक्षौरानस्मान् यजमानान् शोधयन्तु=

चौरकर्मनिमित्तामपहर्तिं निवारयन्तु । किञ्च—चरितजलद्वारा पावनशीला जलदेवताः चरितजलेनास्मान् पवित्रयन्तु । किञ्च—द्योतमाना इमा आपः सर्वमेव पापं प्रकर्षेणापनयन्तु—इत्याह ॥

उत्तरपूर्वार्द्धमुत्क्राम्यति—

उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि ॥ ६ ॥

स्नानाचमनाभ्यां बहिरन्तश्च शुद्धोऽहमाभ्योऽद्भ्य उदेमि इत्=निर्गच्छाम्येवेत्याह ॥

क्षौमं वस्ते । हे क्षौम ! वस्त्र ! त्वम्—

दीक्षातपसोस्तनूरसि, तां त्वा शिवा शग्मां
परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥ ७ । ४ । २ ॥

दीक्षणीयेष्टिर्दीक्षा, उपसदिष्टिस्तपः, दीक्षाभिमानिदेवतायास्तपोऽभिमानिदेवतायाश्च शरीरमिवासि, तादृशीं कल्याणीं सुखावहां त्वामहं (स्वशरीरे कल्याणीं कान्तिं सम्पादयन् धारयामीत्याह ॥

शालां पूर्वेण कुशेषु तिष्ठन् नवनीतेन शिरस आरभ्य पादान्तं शरीराभ्यङ्गं कुर्य्यात् । तत्राभिमन्त्रयते—हे नवनीत ! त्वं—

महीनां पयोऽसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ।

गवां दुग्धमसि (दुग्धजन्यत्वादुपचारात्) किञ्च—कान्तिप्रदमसि (अतिस्निग्धत्वात्) अतो मह्यं कान्तिं प्रयच्छेत्याह ॥

ततस्त्रैककुदाञ्जनं लभ्यते चेत्तेनैव, तदभावे त्वन्येनाञ्जनेन अक्षिद्वयमञ्ज्यात् । तदञ्जनमभिमन्त्र्यते । हे अञ्जन ! त्वं—

वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥ ४ । ३ ॥

वृत्रासुरस्य नेत्रमध्यगतकृष्णमण्डलरूपोऽसि कनीनिकारूपत्वादेव च त्वं दृष्टिप्रदोऽसि अतो मह्यं सम्यग् दृष्टिपाटवं प्रयच्छेत्याह । ३ । १ । २ । १२ । यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीद् ।

तित्तिरिरप्याह—“इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य कनीनिका परापतत् तदेवाञ्जनमभवत्—” इति ॥

अथ सप्तभिः सप्तभिः कुशपवित्रैः पावयति--

१ चित्पतिर्मा पुनातु

२ वाक्पतिर्मा पुनातु

३ देवो मा सविता पुनातु

अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य

यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥ ४ । ४ ॥

ज्ञानानां पतिर्मनोऽभिमानी देवः सूर्य्यकिरणैरच्छिद्रपवित्रेण मां यजमानं शोधयतु। हे पवित्रपते ! शुद्धपालक ! तव पवित्रेण शुद्धस्य मम यजमानस्य यदर्थसिद्धीच्छया अहमिदानीं शोधयामि, तत्र शक्तो भूयासम् तत्कर्म पारयेयमित्याह । १ । एवं वाचां पतिर्बृहस्पतिः । २ । तथा सविता नामान्तर्यामी देवः । ३ ।

अत्र "प्रजापतिर्वै चित्पतिः" इति शतपथश्रुतिः। "मनो वै चित्पतिः" इति तित्तिरिश्रुतिः तथा "असौ वा आदित्योऽच्छिद्रं पवित्रम्" इति शतपथश्रुतिः। वायुरच्छिद्रं पवित्रमित्यन्ये ॥

अत्र पावनप्रयोगे अच्छिद्रेणेत्यादि शकेयमित्यन्तशेषपूरिताः पुनात्वन्तभागास्त्रयो मन्त्रा भवन्तीति द्रष्टव्यम् ।

अथाध्वर्युर्यजमानं वाचयति--

आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे ।

आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे ॥ ४ । ५ ॥

हे देवाः यज्ञे प्रवर्तमाने सति वयं युष्मान् वयनीयं यज्ञफलं साकल्येन याचामहे। हे देवाः ! यज्ञसम्बन्धीनि फलानि आनेतुं वयं युष्मानाह्वयाम इत्याह ॥

अथ प्रतिमन्त्रं क्रमेण हस्तद्वयगते आदौ कनिष्ठिके ततोऽनामिके ततो मध्यमे अङ्गुली संकोचयति, ततो मुष्टी कृत्वा स्वाहेत्युक्त्वा वाग्यतो ऽङ्गुष्ठौ तत्सहिते चोत्सृजति--

स्वाहा यज्ञं मनसः । १ ।

स्वाहोरोरन्तरिक्षात् । २ ।

स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम् । ३ ।

स्वाहा वातादारभे । ४ ।

स्वाहा । ५ ॥ ४ । ६ ॥

मनसा यज्ञमभिगच्छामि । १ । विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे यज्ञ आश्रितः । २ । द्यावापृथिव्योर्यज्ञ आश्रितः । ३ । वायुप्रसादाद् यज्ञं प्रवर्तयामि । ४ । एवं यज्ञःसिद्धः । ५ । इत्याह । अत्रत्य-स्वाहाशब्दः श्रुतिप्रामाण्यादनेकार्थः ॥

॥ अतः पर षडौद्ग्रभणहोममन्त्राः ॥

औद्ग्रभणानि जुहोति स्थाल्याः स्रुवेण—

आकूत्यै प्रयुजे ऽग्नये स्वाहा । १ ।
मेधायै मनसे ऽग्नये स्वाहा । २ ।
दीक्षायै तपसे ऽग्नये स्वाहा । ३ ।
सरस्वत्यै पूष्णे ऽग्नये स्वाहा । ४ ।
आपो देवी र्बृहतीर्विश्वशम्भुवो,
द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष
बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा । ५ ।
विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा । ६ ।

यज्ञं करिष्यामीत्येवंविधो मानसः संकल्प आकूतिः । तस्यै प्रयुङ्क्ते असौ प्रयुक् । तस्मै। संकल्पसिद्ध्यै निर्विघ्नं प्रेरयते वह्निदेवाय सुहुतमिदमस्तु । १ । श्रुतयोर्मन्त्रयोर्धारणशक्तिर्मेधा । तस्यै मनोभिमानिने वह्निदेवाय सुहुतमस्तु । २ । व्रतनियमो दीक्षा तत्सिद्ध्यै शारीरतपोभिमा-निने वह्निदेवाय सुहुतमस्तु । ३ । मन्त्रोच्चारणशक्तिः सरस्वती । तत्सिद्ध्यर्थं वागिन्द्रियपोषकाय वह्निदेवाय सुहुतमस्तु । ४ । हे द्योतमानाः! प्रभूताः! जगत्कल्याणकारिण्यः! आपः । हे द्यावापृथिव्यौ! हे विस्तीर्ण! अन्तरिक्ष! युष्मभ्यं बृहस्पतये च हविर्दद्मः । तदिदं सुहुतमस्तु । ५ । सर्वोऽपि मनुष्यो नायकस्येति फलप्रापकस्य सवितुर्देवस्य सखिभावमित्यानुकूल्यं वृणुते । सर्वो-ऽपि धनाय सवितारं प्रार्थयते । पोषायेति स्वप्रजापालनाय यशो वाऽन्नं वा प्रार्थयते । इत्थं-भूताय सवित्रे सुहुतमस्तु । ६ । इत्याह ॥

इत्यौद्ग्रभणमन्त्राः ॥

कृष्णाजिनयोः सन्धिमालभते। हे कृष्णाजिनगते शुक्लकृष्णरेखे युवाम्—

ऋक्सामयोः शिल्पस्थस्ते वामारभे
ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः ॥

ऋगभिमानिसामाभिमानिदेवतयोः सम्बन्धिनी चातुर्य्ये भवतः। तथाविधे युवामहं स्पृशामि। तथाविधे युवाम् अस्य यज्ञस्य उत्तमाया इति चरमाया ऋचः पर्य्यन्तं मां पालयतमित्याह ॥

ऋक्सामाभिमानिन्यौ देवते देवानां यज्ञार्थं स्थिते सत्यौ केनापि निमित्तेन कृष्णमृगरूपं कृत्वा देवेभ्यः पलाय्य दूरे कुत्राप्यतिष्ठताम्। तन्मृगचर्मणि यच्छुक्लं तदृचो रूपम् यत्कृष्णं तत्साम्नो रूपम् तदुक्तं तित्तिरिणा। ६। १। ३। "ऋक्सामे वै देवेभ्यो यज्ञार्थं तिष्ठमाने कृष्ण-मृगरूपं कृत्वाऽपक्राम्यातिष्ठतामेष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनमस्यै साम्नो यत् कृष्णम्।" इति "यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्—" ॥ ३। २। १। ५ ॥ इत्यादिश्रुतिरप्यत्रानु-सन्धेया।

दक्षिणजानुमारोहति—हे कृष्णाजिन! त्वम्—

शर्मासि, शर्म्म मे यच्छ
नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥४।६॥

शरणमसि। अतो मह्यं शरणं देहि। तुभ्यं नमः अस्तु। मां यजमानं मा जहीत्याह। मेखलां वध्नीते वेणिं त्रिवृतं शरणमुञ्जमिश्रामन्तरां वाससः—हे मेखले!

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्ज्जं मयि धेहि।

त्वमङ्गिरसां सम्बन्धिनी अन्नरसरूपासि। ऊर्णेव च मृदुरसि। तथाविधात्वमन्नरसं मयि स्थापय इत्याह।

अङ्गिरसः स्वर्गं लोकं गच्छन्तोऽन्नरसं व्यभजन्त। विभज्यमानेऽवशिष्टोऽन्नरसो भूमौ पतितः शरणमुञ्जनामकतृणरूपेणाविर्भूतः। तस्माच्छरणमुञ्जमयी मेखला। अत एव मेखलाया आङ्गिरसत्वम् इति तित्तिरिणा प्रत्यपादि।

नीवीं कुरुते—हे मेखले त्वम्—

सोमस्य नीविरसि

सोमदेवतायाः प्रियभूता ग्रन्थिरसीत्याह।

मूलाग्रयोरेकीकरणेन ग्रन्थिविशेषो नीविरुच्यते । अदीक्षितस्य पितृदेवत्या नीविरुक्ता दीक्षितस्य तु सोमयागाय नीविः सोमेन व्यपदिश्यते ।

शिरः प्रोर्णुते—हे वस्त्र त्वम्—

विष्णोः शर्म्मासि, शर्म्म यजमानस्य

व्यापकस्य यज्ञस्य सुखहेतुर्भवसि, अतो यजमानस्य सुखं कुरु इत्याह ।

कृष्णविषाणां त्रिवलिं पंचवलिं वोत्तानां दशायां बध्नीते । तया कण्डूयनमुपस्पृशत्येनया दक्षिणस्या भ्रुव उपरि हे कृष्णविषाणे ! त्वम्—

इन्द्रस्य योनिरसि ॥

स्पष्टम् ॥

पुरा कदाचिद्यज्ञपुरुषो दक्षिणां देवीं समभवत्, तस्मात् सम्भावनादिन्द्रोऽजायत, तदानीमन्नान्यस्योत्पत्तिर्म्मा भूदिति विचार्य इन्द्रः स्वां योनिं दक्षिणाया आच्छिद्य मृगेषु न्यदधात् । निहिता सा योनिः कृष्णविषाणाभूदिति तित्तिरिश्रुतौ यज्ञो दक्षिणामभ्यधादित्याख्याने कथा श्रूयते तस्मात् कृष्णविषाणाया इन्द्रयोनित्वम् ॥

भूमौ चोल्लिखति । हे कृष्णविषाणे ! त्वम्—

सुसस्याः कृषीस्कृधि ।

यजमानानां याः कृषयः सन्ति ताः सम्पन्नधान्यवतीः कुरु इत्याह ॥

सस्यं व्रीहियवादि । तदर्थो भूम्युल्लेखः कृषिः । मुखसम्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति । तमेनमुच्छ्रयति—

उच्छ्रयस्व बनस्पत, ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस
आस्य यज्ञस्योदृचः ॥ (४।१०)

हे वनस्पते ! वृक्षावयव दण्ड ! उन्नतो भव । ऊर्ध्वो भूत्वा पापात् मां रक्ष । यावत्पर्यन्तमस्यानुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य समाप्तिगता ऋक् स्यात्—इत्याह ॥

अथ मौनोपस्थितो यजमानो वाग्विसर्जनायेदं त्रिः पठेत्—

व्रतं कृणुत ॥

हे परिचारकाः ! दोहनादिना क्षीरं सम्पादयत इत्याह ॥ दीक्षितस्य भोजनाय यन्नियतं पयस्तद्व्रतमित्युच्यते ॥

अतः परमिदं सकृत् पठेत्—

अग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः— ।

अयं श्रौतोऽग्निर्वेदत्रयरूपो भवति। अयमग्निर्यज्ञ-रूपो भवति। यज्ञयोग्यो यो वनस्पतिः खदिरादिः सोऽपि यज्ञरूपो भवतीत्याह ॥

ब्रह्मशब्दो वेदत्रयाभिधायी। आधानेन निष्पन्नस्य वैदिकस्याग्नेर्वेदव्यतिरेकेणा-सम्भवदुपचाराद् ब्रह्मत्वम्। तथा यज्ञसाधनत्वादग्निवनस्पत्योरपि यज्ञत्वमुपचार्यते इति ध्येयम्।

अथ व्रतार्थोपस्पर्शनं स्वासने—

देवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये ।
वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नो असद्वशे ॥

वयमभिमुखत्वेन प्राप्तस्य यज्ञस्य सिद्ध्यर्थं देवतोद्देशेन प्रवृत्तां शोभनसुखहेतुं तेजसो धारयित्रीं, यज्ञनिर्वाह-कर्त्रीं, यज्ञानुष्ठानविषयां बुद्धिं प्रार्थयामहे। तथाविधा धीः शोभनावतरणमार्गवती सती अस्माकमधीनत्वे भवतु-इत्याह ॥

अथ व्रतयत्यमृन्मये—

ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते ।
नोऽवन्तु, ते नः पान्तु, तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ । ११ ॥

"वागेवाग्निः, प्राणोदानौ मित्रावरुणौ, चक्षुरादित्यः, श्रोत्रं विश्वेदेवाः" इति-(३ । २ । २ । १३) श्रुत्युक्ताश्चक्षुरादीन्द्रियरूपाः प्राणा नाम ये देवाः, इच्छोत्पत्तौ प्रवर्तमानत्वान्मनोजाताः, अन्यमनस्कस्य रूपादिप्रतिभासाभावाद्रूपादिग्रहणकालेऽपि मनो-युक्ताः प्रौढकर्माणः सन्ति। ते अस्मानवन्तु, यज्ञानुष्ठानविघ्नपरिहारेण पालयन्तु। तेभ्यः प्राणरूपेभ्यो देवेभ्य इदं क्षीरं हुतमस्तु—इत्याह ॥

नाभिमालभते—

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो
अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः ॥

ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः
स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥

हे आपः ! क्षीररूपा यूयं मया पीताः सत्यः क्षिप्रपरिणामा इति शीघ्रं जीर्णा भवत तथा च अस्माकम् अन्तरुदरे इति जलपाकस्थाने शोभनसुखा भवत । किञ्च प्रबलरोगराज-रहिताः सामान्यरोगनिवर्तिकाश्च अपराधहारिण्यो यज्ञवृद्धिहेतवश्च द्योतमानाः मरण-निवर्तिकाश्च तास्तथाविधा आपः अस्मदर्थे स्वादुत्वयुक्ताः भवन्तु इत्याह ॥ यद्वा-अमृता इत्यमरणधर्मिणो देवाः पूर्वोक्ता वागादयः प्राणास्तथाविधा अपः, आस्वादयन्तु—इत्याह ॥

अथ मूत्रं करिष्यन् शृङ्गेण लोष्टं किञ्चिदन्यतृणादिकं वा गृह्णाति—

इयं ते यज्ञिया तनूः ।१। अपो मुञ्चामि न प्रजाम ।
अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत ॥ २ ॥
पृथिव्यासंभव ॥ ३ ॥

हे यज्ञपुरुष । इयं पृथिवी तव यज्ञयोग्यो देशः (अतोऽस्याः मूत्रोपहतिपरिहाराय व्यवधानं कर्तुं लोष्टं तृणं वा स्वीकरोमीत्याह) यद्वा— हे पृथिवी ! इयं लोष्टादिरूपा तव तनूर्यज्ञार्हा (तामाददे) इत्याह ॥ अथ मेहति —अहं मूत्ररूपा अपो मुञ्चामि, प्रजोत्पत्ति-निमित्तं रेतस्तु न मुञ्चामि अतः कारणात् हे आपः मूत्राख्याः पापहारिण्यो यूयं स्वाहाकृताः सत्यः पृथिवीं प्रविशत—इत्याह ॥

अथ गृहीतलोष्टादिकं मूत्रस्थाने क्षिपेत् । हे लोष्टादिक । त्वं पृथिव्या सह एकी-भवेत्याह ॥

अथः स्वपिति प्राङ्दक्षिणतः—

अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि ।
रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥

हे अग्ने ! त्वं सुष्ठु २ निद्रारहितो । भव । वयं यजमानाः साधु स्वप्स्यामः । किञ्च—अप्रमाद्यन् अस्मान् रक्ष । तथा अस्मान् पुनः प्रबोधाय कुरु—इत्याह ॥

स्वपतोऽग्नेः प्रार्थनं रक्षसां नाशाय । तदुक्तं तित्तिरिणा—"अग्निमेवाधियं कृत्वा स्वपिति रक्षसामपहत्यै" इति ।

अथ विबुद्धमस्वप्स्यन्तं वाचयति—

"पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्
पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्
वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा
अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्"

यजमानस्य मम मनः सुप्तिकाले विलीय पुनरिदानीं शरीरे समागतम् । किञ्च स्वापकाले मदीयमायुर्नष्टप्रायं भूत्वा इदानीं पुनरुत्पन्नमिवासीत् । तथा मम प्राणवायुः, जीवः, चक्षुः, श्रवणेन्द्रिये च पुनर्यथास्थानमागच्छन् । एवं सर्वेन्द्रियेषु समागतेषु सर्वपुरुषोपकारकः केनाप्यहिंसितः शरीरपालकोऽमयग्निगर्हितात् पापात् अस्मान् पालयतु—इत्याह ॥

"सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति (३ । २ । २ । २३) इति श्रुतेः स्वापकाले मनआदीनामपक्रमो भवति । प्रबोधकाले तेषां पुनर्यथास्थानमागमनं प्रति प्रार्थ्यते ।

यदा ऽऽदीक्षितः केनापि हेतुना क्रुध्यति, व्रतविरुद्धं वा ब्रूते, तदा इमामृचं जपेत्—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ—
मर्त्येष्वा त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥

हे अग्ने ! द्योतनात्मकस्त्वं मनुष्यपर्यन्तेषु सर्वप्राणिषु कर्मपालको भवसि । सर्वतश्च यज्ञेषु त्वं पूजयितव्यः प्रार्थयितव्यो वा भवसि । यद्वा—देवेषु मर्त्येषु च कर्मपालको भवसीत्याह ॥

देव इति प्रथमान्तं सप्तम्यन्तं वा । आ इत्यभिव्याप्त्यर्थं समुच्चयार्थं वा ॥

अथ क्रतौ प्राप्तं धनं स्पृष्ट्वा पठेत्—

रास्वेयत्, सोमा भूयो भर, देवो नः
सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥

हे सोम ! एतावत् धनं देहि । पुनरपि धनमाहर । यतो धनस्य दाता सविता-देवोऽस्मभ्यं धनं पूर्वमपि दत्तवान् इत्याह ॥

शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रुवास्थमाज्यं जुह्वां चतुर्गृहीत्वा तत्राज्ये दर्भतृणबद्धं स्वर्णं क्षिपेत् ।

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया
सम्भव भ्राजं गच्छ ।

हे शुक्र ! शुक्ल ! दीप्यमान ! अग्ने !—एतद्दृश्यमानमाज्यं तव शरीरम् । तथा एतदाज्ये प्रक्षिप्यमाणं हिरण्यं तव तेजः । तत्र तया आज्यरूपया तन्वा एकीभव । ततो हिरण्यगतां दीप्तिं प्राप्नुहि इत्याह ॥ यद्वा—हे शुक्र ! आज्य ! यदिदं हिरण्यं, सा एषा तव तनूर्भवति । एतच्च तेजश्च भवति । तया हिरण्यलक्षणया तन्वा एकीभव । एकीभावेन च सोमं गच्छेत्याह ॥

"समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयं ह्यग्निरेतसम्" इति श्रुतिः(३ । २ । ४ । ८) "सोमो वै भ्राट्" इति च श्रुतिः (३ । २ । ४ । ६) रत्रानुसन्धेया एतन्मन्त्रपाठेनाग्नेः सतेजस्त्वं सतनुत्वं च सम्पाद्यते । तदुक्तं तित्तिरिणा—"सतेजसमेवैनं सतनुं करोतीति" । एतदनुसारेणैवात्र प्रथमोऽर्थः ॥

अथ जुहोति—

जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ।
तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो
यन्त्रमशीय स्वाहा ॥

हे वाक् ! त्वं वेगयुक्तासि । मनसा नियमिता तथा । यज्ञस्य रुचिता चासि । तथाविधाया अवितथाभ्यनुज्ञायास्तत्र अनुज्ञायां वर्तमानोऽहं शरीरस्य नियमनं दार्ढ्यं-प्राप्नुयाम् । तदर्थमिदमाज्यं हुतमस्तु इत्याह ॥

अथ जुह्वां बद्ध्वा स्थापितं हिरण्यमुद्धृत्य वेद्यां तृणं निदधाति—

शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ।

हे हिरण्य ! त्वं दीप्यमानमसि । आह्लादकमसि । विनाशरहितमसि । सर्वदेवसंबन्धि चासि—इत्याह ॥

विनाशरहितत्वं चास्याग्नि संयोगेऽपि भस्मीभावाभावादभिप्रेयते । तदुक्तं याज्ञवल्क्येनापि—"अग्नौसुवर्णमक्षीणम्" इति ॥

अथ वाग्रूपाध्यारोपकल्पनया सोमक्रयणी गौः, तामभिमन्त्रयते—

चिदसि मनासि धीरसि, दक्षिणासि क्षत्रियासि, यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी । सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि, मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां, पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥ १ ॥ अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः । सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं, रुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि ॥ २ ॥

हे वाग्देवतारूपे ! सोमक्रयणि ! त्वं चित्त-मनो-बुद्धि-रूपान्तःकरणवृत्तिरसि । हे गौः ! त्वं यज्ञाङ्गभूता दक्षिणासि सोमक्रयसाधनत्वेन, क्षत्रिया चासि । यज्ञसम्बधित्वाद्यज्ञार्हासि । अखण्डिता अदीना देवमातृरूपासि । सर्वतोमुखीचासि । सा त्व प्रथमं सोमस्यक्रेतारं प्रति सुष्ठु प्राङ्मुखीभूत्वा पश्चात सोमेन सह अस्मान् प्रत्यागन्तु सुष्ठुप्रत्यङ्मुखी भव । किञ्च—अप्रणाशाय त्वां सूर्यो दक्षिणपादेबध्नातु तथा पूषा देवो मार्गात् त्वां रक्षतु, अथवा पूषेयं पृथिवी त्वां मार्गाद्रक्षतु यज्ञस्वामिन इन्द्रस्य प्रीत्यर्थम् । किञ्च—सोमाहरणे प्रवृत्तां त्वां त्वदीयजननी त्वदीयपिता सहोदरभ्राता स्वयूथसंचारिसुहृद्गणश्चानुजानातु । हे देवि ! सोमक्रयणि ! सा त्व मिन्द्रार्थं सोमं देवं प्राप्तुं गच्छ । किञ्च—सोमं गृहीत्वा स्थितां त्वां रुद्रो देवोऽस्मान् प्रति निवर्त्तयतु । तथाच तस्य पशुपते राज्ञामनुरुन्धाना स्वं सोमसहिता सती क्षेमेण भूयोऽप्यागच्छेत्याह ॥

अन्तःकरणस्य तिस्रो वृत्तयः—चित्तं मनो बुद्धिश्च । अचेतनदेहादिसंघातस्य चेतनत्वं सम्पादयन्ती, बाह्यवस्तुषु वा निर्विकल्परूपं सामान्यज्ञानं जनयन्ती वृत्तिश्चित्तम् । १ । लोके कश्चित्पदार्थमनुलक्ष्य "एवं भवतिनवा". इति संकल्पविकल्पौ कुर्वाणावृत्तिर्मनः । २ । इदमित्थं भवत्येवेति निश्चयरूपा वृत्तिर्बुद्धिः । ३ । ता एवात्र चिन्मनाधी शब्दैरुच्यन्ते ।

चित्तादिरूपत्वं चारोप्य वागात्मिका सोमक्रयणी इह स्तूयते। दक्षिणादिरूपत्वं तु विद्यमानमेव स्तूयते इति बोध्यम्।

क्षत्रियत्वमप्यस्या औपचारिकमेव। तथाहि—देवेषु क्षत्रजात्यभिमानी सोमः। "यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्र इति" बृहदारण्यकोक्तेः (माध्य० १।२।१३। काण्व० १।४।११)॥ तेन क्षत्रेण सोमेनाभिमन्तव्यस्य सोमलता द्रव्यस्य क्रयहेतुत्वेनास्याः क्षत्रियत्वोपचार इति बोध्यम्। उभयतः शीर्षत्वंच द्वेधा—"द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये" इति यास्कोक्ते ज्योतिष्टोमस्याद्यन्तयोः प्रायणीयोदयनीययोः शीर्षत्वं, तदपेक्षया अस्यास्तत्वमित्येकः "स यदेनया समानं सद्विपर्यासं वदतीति-(३।२।४।१६) इतिश्रुतेरुभयतो मुखत्वात्तत्वमित्यपरः। पूषेत्यादित्यः पृथिवी च। "इयं वै पृथिवी पूषा" इति श्रुतेः (३। २। ४। १६) अच्छेहीत्यत्र अच्छ शब्दःप्राप्तुमित्यर्थकः। "अच्छाभेराप्तुम्" इति शाकपूणयुक्तेः।

अथोदीचीं नीयमानां तां सोमक्रयणीं गामनुगच्छन्तौ वस्वदित्यादित्यरुद्रचन्द्ररूपेण स्तुतः। हे गौः! त्वम्—

वस्वस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥

वसुरूपा देवमातृरूपा द्वादशादित्यरूपा एकादशरुद्ररूपा सोमरूपा चासि तां त्वां बृहस्पतिः शोभनेस्थाने रमयतु संयमयतु वा। वसुभिः सहितो रुद्रश्च त्वां रक्षितु कामयतामित्याह॥

रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वेति यास्कः (निरु० दै० १०।९)

षट्पदान्यतीत्य सप्तमं पर्युपविशन्ति, हिरण्य मस्मिन्निधायाभिजुहोति—

आदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने।
पृथिव्या, इडायास्पदमसि, घृतवत् स्वाहा॥

हे आज्य! अखण्डितायाः पृथिव्याः शिरोरूपे देवयागयोग्यस्थाने त्वामाक्षारयामि। किञ्च—हे स्थानविशेष! त्वं गोपदरूपमसि। तच्च पदं घृतयुक्तं कर्तुं जुहोमीत्याह॥ "पृथिव्या ह्येष मूर्द्धा यद्देवयजनम्" इति तित्तिरिश्रुतिः॥

स्पेचन पदं त्रिः परिलिखति-हे गोः पद ! त्वम्—

अस्मे रमस्व ।

अस्मासु क्रीडां कुरु इत्याह ॥

समुद्धृत्य पदं स्थाल्यामावपति । हे सोमक्रयणीपद !

अस्मे ते बन्धुः ।

वयं तव बन्धुभूताः स्म इत्याह ॥

यजमानाय पदं प्रयच्छति । हे यजमान !

त्वे रायः ।

त्वयि धनानि तिष्ठन्तु एतत्पदरूपेणेत्याह ॥

यद्वा-त्वयि पशवः सन्तु इत्याह ॥ "पशवो वै रायः" इति श्रुतिः (३।३।१।८)

यजमानः प्रतिगृह्णाति—

मे रायः ।

मयि यजमाने धनानि पदरूपेण तिष्ठन्तु इत्याह ॥ यद्वा—पशवो मयि सन्त्वित्याह ॥

अध्वर्युरात्मानं संस्पृशति—

मा वयं रायस्पोषेण वियौष्म ।

वयमध्वर्युप्रभृतयो धनस्य पुष्ट्या वियुक्ता मा भवामेत्याह । हुत्वा पत्न्यै पदं प्रयच्छति, नेष्टा एनां वाचयति—

तोतो रायः ।

कलत्रे धनानि पशवोत्रा पदरूपेण तिष्ठन्तु इत्याह ॥ यद्वा—त्वयि रायः सन्त्वित्याह ॥ तोतः शब्दोऽव्ययं कलत्रार्थो युष्मत्पर्य्यायो वा ॥

सोमक्रयण्या च समीक्ष्यमाणामेनां वाचयति । तत्र पत्नी सोमक्रयणीत आशिष-माशास्ते । हे सोमक्रयणि !

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा ।
मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव ।
वीरं विदेय तव देवि सं दृशि ॥

विस्तीर्णदर्शनया दक्षिणात्वयोग्यया द्योतमानया त्वया बुद्धिपूर्वकमहं समीक्षिता । सा त्वं मम आयुर्मा खण्डय । अहमपि तवायु र्न नाशयामि । किञ्च, हे देवि ! गौः ! तव संदर्शने सति वीरं पुत्रमहं लभेय—इत्याह ॥

अतः परं यजमानः पठेत्—हे अध्वर्यो !

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् ।
एष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् ।
एष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् ।
छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतात् ॥

यदहं सोमं प्रतीत्थं ब्रवीमि "हे सोम ! तवैष पुरोदृश्यमानो भागो गायत्रीसम्बन्धी, तथाऽन्यस्त्रिष्टुप्छन्दसः संबन्धी, तथान्यो जगती छन्दसः संबन्धी, तेन चान्येषा-मपि छन्दःपदवाच्यानामुष्णिगादीनामाधिपत्यं—प्राप्नुहि । त्वां साम्राज्यलोकं प्रापयितुं क्रीणामि न त्वन्यदर्थे-इति ममाभिप्रायः" । हे अध्वर्यो ! तदेतदभिप्रायकं मे तत्तद्वचनं सोमाय देवाय त्वं कथय, यथा वार्त्ताहरः कथयति तथेत्याह ॥

यः सोमाय छन्दसामाधिपत्यं दत्वा तं क्रीणाति, स स्वानामाधिपत्यं प्राप्नोति । तदुक्तं तित्तिरिणा—"यो वै सोम राजानं साम्राज्यलोकं गमयित्वा क्रीणाति स्वानां साम्राज्यम्" इति ॥

अथ प्राङुपविश्य सोममालभते । हे सोम ! त्वम्—

आस्माकोऽसी, शुक्रस्ते ग्रह्यो,
विचितस्त्वा विचिन्वन्तु ॥

क्रयपथ मागतः सन्नस्मत्सम्बन्धी भवसि। शुक्रादयः सर्वे तव ग्रहाः सन्ति। विवेकेन चयनकर्त्तारस्त्वां विविक्तं कुर्वन्तु—सारासारविवेकं कृत्वा सारभूतं समूहयन्तु इत्याह ॥

शुक्र इति शुक्रसंज्ञः। शुक्रपदमैन्द्रवायवादि ग्रहाणामुपलक्षणम्। ग्रह एव ग्रह्यः।

सोमोपनहनं द्विगुणं चतुर्गुणं वा स्तृणाति प्राग्दशमुदग्दशं वा, तस्मिन् सोमं मिमीते दशकृत्वः—

अभित्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि
सत्यसवं रत्नधामभिप्रियं मतिं कविम्।
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपास्वः॥

द्यावापृथिव्यो रन्तरावर्तमानं मेधाविकर्माणमवितथप्रेरणं रत्नानां धारकं पोषकं दातारं वा सर्वतः प्रीतिविषयं मननयोग्यं क्रान्तदर्शनं तं सवितारं देवं सर्वतः पूजयामि। किञ्च—यस्य सवितु र्दीप्तिः केनापि मातुमशक्या सती गगनाभिमुखी गगनप्रदेशे ऊर्ध्वेभ्यो-मनिश्रदीप्यत। स हिरण्यकरः साधु सङ्कल्पश्च स्वरादित्यः कल्पनया सोमं पर्य्यमि-मीतेत्याह ॥

अन्तान् संगृह्य उष्णीषेण बध्नाति—हे सोम!

प्रजाभ्यस्त्वा।

प्रजाना मुपकाराय त्वां बध्नामि। इत्याह ॥

अङ्गुल्या मध्ये विवृणोति, उष्णीषेण बद्धस्य सोमदेवस्य श्वासरोधो यथा मा भूत्। तत्राभिमन्त्रयते—हे सोम!

प्रजास्त्वानु प्राणन्तु
प्रजास्त्वमनु प्राणिहि।

श्वासं कुर्वन्तं त्वामनुसृत्य सर्वाः प्रजाः श्वासं कुर्वन्तु। श्वासं कुर्वतीः प्रजा अनुसृत्य च त्वं श्वासं कुरु इत्याह ॥

हिरण्यमालभ्य वाचयति । आह—हे सोम !

शुक्रंत्वा शुक्रेण क्रीणामि
चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ।

दीप्यमान माह्लादकं स्वादिष्टं च त्वां दीप्यमानेन आह्लादकेनाग्नि संयोगादिनापि विनाश रहितेन हिरण्येन क्रीणामि—इत्याह ॥

सोमविक्रयिणं ❀हिरण्येनाभि कम्पयति । हे सोम विक्रयिन् !

सग्मे ते गौः ।

तव गौ यजमाने वर्तत इत्याह ।

"यजमाने ते गौरिति श्रुतिः (३ । ३ । ३ । ७) ग्माशब्दो गोपर्य्यायवाची, गवा सह वर्तमानः सग्मः । या गौः सोममूल्यत्वेन तुभ्यं दत्ता सा त्वदीया गौः पुनः प्रत्यावृत्य यजमाने तिष्ठतु हिरण्य मेव तवास्तु इत्याशयः ॥

यजमाने प्रत्यर्पितं यद्गोद्रव्यं तत्पुनर्यजमानसहितं सोम विक्रयिणः पुरतो निदधाति । हे सोमविक्रयिन् !

अस्मे ते चन्द्राणि ।

तुभ्यं दत्तानि यानि हिरण्यानि तान्यस्मासु प्रत्यावृत्य तिष्ठन्तु । तव गौ रेव सोम मूल्यमस्तु हिरण्यानि मा भवन्तु इत्याह ॥

अजां प्रत्यङ्मुखी मालभ्य वाचयति—

तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण
पशुनाक्रिय से सहस्रपोषं पुषेयम् ।

हे अजे ! त्वं पुण्यस्य देहोऽसि । हे अजे ! त्वं प्रजापतेर्देहोऽसि । यद्वा—हे अजे ! त्वं प्रजापति तयो रूपाऽसि । किञ्च-प्रजापते रूपं त्वमसि । हे सोम ! उत्तमेनाजालक्षणेनानेन

❀ यो हिरण्यमादाय सोमंविक्रीणीते । तद्धस्ते हिरण्यं दत्वा दत्वा स्वीकुर्वंस्तं निराशं करोतीत्यर्थः ।

पशुना त्वं क्रीयसे। अतस्तव प्रसादात् पुत्रपश्वादिसहस्राणां पोषो यथा भवति तथा पुष्टो भूया समित्याह ॥

दिवि स्थितस्य यज्ञि यस्यानयनायाजां गृहीत्वा गायत्री जगामेति तित्तिरिणा सोमा हरणोपाख्याने उक्तत्वादजायाः पुण्यशरीरत्वम्। तथा "सावा एषा सर्वदेवत्या यदजे-" ति तित्तिरिणोक्तेः प्रजापतिवत्सर्वदेवताप्रियत्वादजायाः प्रजापतिः शरीरत्वम्। प्रजापतितपोरूपत्वं स्वजायास्तत उत्पन्नत्वात्। तथा च श्रुतिः—३।३।३।८ "तपसो हवा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा" इति। एवं प्रजापति रूपत्वमपि त्रिगुणप्रजापते स्त्रीरूपत्ववदस्याः प्रतिवर्षं त्रिवारं प्रसवनात्। तथाच श्रुतिः (३।३।३।६) "सा यत् त्रिः संवत्सरस्य जायते तेन प्रजापतेर्वर्णा इति" ॥

सव्येनाजां प्रयच्छन् दक्षिणेन सोममादत्ते। हे सोम!

मित्रो न एहि सुमित्रधः।

प्रीतियुक्तो वा रवि रूपो वा शोभनमित्रपोषकस्त्वमस्मान् प्रत्यागच्छेत्याह। क्रीत्वा वाससा बद्धस्य सोमस्य वरुणदेवताकत्वेन क्रूरत्वाच्छान्त्यर्थं मित्रत्वेन प्रार्थ्यते। तदाह तित्तिरिः "वरुणा वै क्रीतः सोम उपनद्धो मित्रो न एहि सुमित्रध" इत्याह शान्त्यै इति ॥

अथ दीक्षितोरौ दक्षिणे *वासः प्रत्युह्य सोमं निदधाति हे सोम!

इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तं स्योनः स्योनम्।

त्वां कामयमाने उपवेश सुखकरे अस्य यजमानस्य दक्षिणे ऊरौ ऊरुं कामयमानः सुखभूतश्च त्वमुपविश इत्याह ॥

अत्रेन्द्रशब्दो यजमानपरः। "एष वा अत्रेन्द्रो भवति यद् यजमानः" इतिश्रुतेः (३।३।३।१०) तित्तिरिरप्याह— "देवा वै सोमंमक्रीणंस्तमिन्द्रस्योरौ दक्षिण आसादयन स खलु वा एतर्हीन्द्रो यो यजते तस्मादेव माहेति" ॥

अथ सोमविक्रयिणमीक्षमाणो जपति। तत्र स्वानादयः सप्त धिष्ण्याधिष्ठातारः सोमरक्षका देवविशेषास्तान् प्रत्युच्यते।

---

* वस्त्रमुपरि स्थाप्य इत्यर्थः।

स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानो ।
एते वः सोमक्रयणास्तान् रक्षध्वं, मा वो दभन् ॥

हे स्वान ! हे भ्राज ! हे अङ्घारे ! हे बम्भारे ! हे हस्त ! हे सुहस्त ! हे कृशानो ! सोमं क्रेतुमानीता हिरण्यादिपदार्था युष्माकमेते पुरतः स्थापिताः । तान् यूयं रक्षध्वम् । रक्षकांस्तु युष्मान् वैरिणो मा हिंसिषतेत्याह ॥

स्वानादीनां सोमरक्षकत्वं तित्तिरिणाप्युक्तम्—"स्वान भ्राजेत्याह ते चामुष्मिंल्लोके सोममरक्षन्निति" ॥

गृहीतसोमं वाचयति—

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व आ मा सुचरिते भज ॥

हे अग्ने ! पापात् मां परिबाधस्वेति परितो निवारय । शोभनचरित्रे सदाचाररूपे पुण्ये मां यजमानमाभजेति प्रवर्तय । इत्याह ॥

अथोत्तिष्ठते—

उदायुषा स्वायुषोदस्था ममृतां २॥ऽअनु ॥

उत्कृष्टेन चिरजीवनलक्षणेन आयुषा निमित्तेन, तथा यागदानादिना शोभनेनायुषा निमित्तेन अमृतान् सोमादिदेवान् अनुसृत्य अहमुत्थितवानस्मि—इत्याह ॥

शीर्ष्णि सोमं कृत्वा पाणिमन्तर्द्धाय ततः शकटमभिगच्छेत्— ।

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम् ।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥

सुखेन गन्तुं योग्यं चोरादिबाधरहितमपराधाजनकं वा पन्थानं वयं प्रत्यपद्यामहि । येन पथा गच्छन् पुरुषः सर्वान् द्वेषिणश्चोरादीन् परिवर्जयति, धनं च लभते । इत्याह ॥

अस्मिन शकटे कृष्णाजिनमास्तृणाति । हे कृष्णाजिन !

अदित्यास्त्वगसि ।

अखण्डितायाः पृथिव्यास्त्वग्रूपं भवसित्याह ॥ ततस्तस्मिन् सोम मपि निदधाति हे सोम ! त्वम्—

अदित्यै सद आसीद ।

भूमेः सम्बन्धि स्थानं प्राप्नुहि—इत्याह ॥

सोममालभ्य वाचयति—तत्र वरुणःस्तूयते । क्रीतसोमस्य वरुणदेवताकत्वात् ॥

"अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत
वरिमाणं पृथिव्याः आसीदद् विश्वा भुवनानि
सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि"

अथोऽसौ वरुणो द्युलोकमन्तरिक्षं च स्तम्भितवान् । भूमेर्वैपुल्यं च परिमितवान् । किञ्चासौ सम्राट् सर्वाणि भुवनानि व्याप्य स्थितः । इत्थं तानि द्युलोकस्तम्भनादीनि सर्वाणि वरुणदेवस्य कर्तव्यकर्माणि सन्तीत्याह ॥

सोमपर्य्याणहनेन परितत्य वाचयति ।

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान, वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥

अयं वरुणो वनगतवृक्षाग्रेषु आकाशं विस्तारितवान् । तथा अश्वेषु बलम् । अथवा पुरुषेषु वीर्य्यं विस्तारितवान् । एवं गोषु क्षीरम्, हृदयेषु सङ्कल्पम्, प्रजासु जाठराग्निम्, द्युलोके सूर्य्यम् । पर्वते च सोमं स्थापितवान इत्याह ॥

"वीर्य्यं वै वाजः पुमांसोऽर्वन्तः" इति श्रुतेरर्वन्तः पुरुषा अप्युच्यन्ते । पर्वतपाषाणसन्धिषु सोमवल्ल्या उत्पद्यमानत्वादद्रौ सोमस्थापनमुक्तम् । तदाह तित्तिरिः—"सोममद्रावित्याह, ग्रावाणो वा अद्रयः तेषु वा एष सोमं निदधाति" इति ॥

कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति । हे कृष्णाजिन ! त्वम्—

सूर्य्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥

सूर्यस्य नेत्रमारोह। तथा अग्नेर्नेत्रस्य तारकां चारोह। तथोच्चैस्तराम्भव, यथैताभ्यां सूर्याग्निभ्यां दृश्यसे। यत्र दर्शने त्वं वदुपा सूर्येणाग्निना वा दीप्यमानः सन् अश्वैर्गच्छसि इत्याह ॥

"एष वाऽस्य खलु रक्षोहणः पन्था योऽग्नेश्च सूर्यस्य चेति तित्तिरिः ॥

अनड्वाहौ युनक्ति—

उस्रावतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ
ब्रह्मचोदनौ। स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छत०॥

हे उस्रौ! अनड्वाहौ! शकटधुरं वोढुं समर्थौ सोत्साहत्वादश्रुरहितौ शृङ्गादिभिर्वीराणां शिशूनां हननमकुर्वाणौ ब्राह्मणानां यज्ञं प्रति प्रेरकौ—युवामागच्छतम्। आगत्य च स्वयमेव रथे युक्तौ भवतम् ॥ किञ्च क्षेमेण यजमानस्य गृहान् प्रति गच्छतम् ॥ इत्याह।

अथ वाचयति—

भद्रो मेऽसि, प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वा
न्यभिधामानि ॥ मात्वा परिपरिणो विदन्,
मात्वा परिपन्थिनो विदन्, मा त्वा वृका
अघायवो विदन् ॥ श्येनोभूत्वा परापत
यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम् ॥

हे सोम मह्यं यजमानाय त्वं कल्याणरूपोऽसि। हे भूतानां पते! सोम! सर्वाणि स्थानानि पत्नीशालाहविर्धानप्रभृतीनि अभिलक्ष्य प्रगच्छ। तत्र प्रच्यवमानं त्वां सर्वतः सञ्चरन्तस्तस्करविशेषा मा जानन्तु। तथा यागस्य प्रतिबन्धकराः शत्रवो मा जानन्तु। तथा परस्याघं कर्तुमिच्छन्तो विकर्तनशीला आरण्यश्वानो दुर्जना वा त्वां मा जानन्तु ॥ किञ्च—श्येनाख्यपक्षिरूपमास्थाय तद्वच्छीघ्रगामी वा भूत्वा उत्पत यजमानस्य गृहान् गच्छ। तत्र च यजमानगृहेषु तव मम च सर्वोपकरणसंयुक्तं स्थानमस्तीत्याह ॥

शालां पूर्वेण प्रतिप्रस्थाताऽग्नीषोमीयं पशुमादाय तिष्ठति, कृष्णसारङ्गं मेध्यं तदभावे लोहित सारङ्गं, तत एनमालभ्य वाचयति। तत्र सोमः सूर्यरूपेण स्तूयते।

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय
तदृतं सपर्य्यत । दूरे दृशे देव जाताय
केतवे दिवस्पुत्राय सूर्य्याय शंसत ॥

मित्रवरुणरूपेण वर्तमानाय चक्षुष्मते चं अथवा मित्रवरुणपदोपलक्षितस्य सर्वजगतो द्रष्ट्रे तेजोरूपाय देवाय दूरस्थैरपि दृश्यमानाय दूरद्रष्ट्रे वा ब्रह्मोत्पन्नाय देवानुग्रहार्थं वा प्रादुर्भूताय देवानां प्रभवाय वा प्रज्ञारूपाय द्युलोकप्रियाय द्युलोकसञ्जाताय दिवः पुत्रायकाय वा सूर्य्याय नमोऽस्तु । हे ऋत्विजः ! यूयं तत् सत्यमवश्यफलप्रदज्योतिष्टोमरूप-कर्म तस्मै सूर्य्यायानुतिष्ठत । यद्वा तत्सत्यं सूर्यरूपं ब्रह्म परिचरत । किञ्च सूर्यप्रीत्यर्थं स्तुतिं कुरुत इत्याह ॥

समीपेऽन उपस्थाप्योत्तम्भनेनोपस्तभ्नाति--हे काष्ठ ! त्वम्—

वरुणस्योत्तम्भनमसि । १

वस्त्रबद्धस्य सोमस्योन्नमनं भवसि नतु शकटस्येत्याह । १ ।

उत्तभ्यते शकटमुखाग्रमुन्नतत्वेन स्थाप्यते यस्मिन् काष्ठे तत्काष्ठमुत्तम्भनम् ॥ १ ॥

शम्ये चोद्वृहति । हे शम्ये ! युवाम्—

वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः । २

वस्त्रबद्धस्य सोमस्य रोधहेतू भवथो न त्वन्यस्येत्याह । २ ।

शकटयुगे बद्धयोर्बलीवर्दयोर्गलबहिर्भागे काष्ठनिर्म्मिते शम्ये स्थाप्येते । ताभ्यां वृषयोरितस्ततो गमनं निवार्यते ततस्ते स्कम्भसर्जनीशब्देनोच्येते ॥ २ ॥

औदुम्बरीमासन्दीं नाभिदघ्नामरत्निमात्राङ्गीमुतामाहरन्ति चत्वारः । एनामभिमृशति । हे आसन्दि ! त्वम्—

वरुणस्य ऋतसदन्यसि । ३

सोमसम्बन्धिनी यज्ञनिष्पत्त्यर्थमुपवेशनस्थानऽभूताऽसीत्याह ॥ ३ ॥

कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति । हे कृष्णाजिन ! त्वम्—

वरुणस्य ऋतसदनमसि । ४

सोमस्य यज्ञार्थ मुपवेशनस्थानमसीत्याह ॥ ४ ॥

तस्मिन्सोमं निदधाति । हे सोम ! त्वम्—

वरुणस्य ऋतसदनमासीद । ५

वस्त्रबद्धस्य तव यज्ञार्थमुपवेशनस्थानभूते आसन्दीसंस्थिते कृष्णाजिने उपविशेत्याह । ५ ।

अथ वाचयति । तत्रसोमं मत्याह । हे सोम !

या ते धामानि हविषा यजन्ति
ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरो
ऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्य्यान् ॥

प्रातःसवनादीनि यानि तव स्थानानि प्राप्य त्वदीयरसरूपेण ऋत्विजो यागं कुर्वन्ति तानि सर्वाणि तव स्थानानि भवान् परितः प्राप्तवान् भवतु, अथवा तानि स्थानानि यज्ञं परितो भवितृणि सन्तु । किञ्च हे सोम ! गृहाभिवर्द्धकः आपदुद्धारकः यज्ञपारप्रापको वा शोभनवीरप्रसादकरो वीरपरिपालकश्च त्वं गृहान् प्राप्नुहि—इत्याह ॥

अथ सोमनिर्वपणम्

अथ पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्वो निर्वपति । तत्र हविः मत्याह । हे हविः ! त्वम्–

१ "अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा" ।

२ "सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा" ।

३ "अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा" ।

४ "श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा" ।

५ "अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा" ॥

अग्नेः सोमस्य च शरीरं भवसि अतिथेरातिथ्यं भवसि तथाविधं त्वां सोमराजाय निर्वपामि । एवं सोमानयनकर्त्रे श्येनाय सोमराजाय च त्वां निर्वपामि । एवमेव धनपुष्टिदायिनेऽन्यस्मै अग्नये सोमराजाय च त्वां निर्वपामीत्याह ॥

बहुयज्ञव्यापितया विष्णुपदाभिधेयस्य सोमस्यराज्ञोऽनुचरा एते पञ्च भवन्ति। गायत्रीछन्दोऽधिष्ठाताऽग्निरेकः । त्रिष्टुप्छन्दोऽधिष्ठाता सोमो द्वितीयः । जगतीछन्दोऽधिष्ठाता अतिथिस्तृतीयः । स्वर्गात्सोमाहर्त्ता श्येनरूपधारिगायत्र्यधिष्ठाता श्येनश्चतुर्थः । अनुक्तच्छन्दोऽधिष्ठाता अग्निसंज्ञ एकः पञ्चमः । तदत्र हविषा सोमराजानुचरणमग्न्यादि देवानां तद्द्वारा तत्सम्बन्धिनां गायत्र्यादिच्छन्दसां च तृप्तिर्भवति । तदाह तित्तिरिः "यावद्भिर्वै राजानुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वै तेभ्य आतिथ्यं क्रियते, छन्दांसि खलु वै सोमस्य राज्ञोऽनुचराणि" इति ॥ तिथिविशेषं विनैवातिक्षुधया पीडिते विप्रेऽतिथौ समागते तत्सत्काराय क्रियमाणः पदक्षालनभोजनसंवाहनादिसंस्कार आतिथ्यमुच्यते ॥ अथ श्येनरूपेण गायत्र्याः सोमाहरणकर्तृत्वं श्रुतावाम्नातम्— "सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्"—इति ॥ यो हि राज्ञो धनं क्रयविक्रयादिना बहुधा पोषयित्वा राज्ञेऽर्पयति स रायस्पोषदाः इत्युच्येत ॥

॥ इति सोमनिर्वपणम् ॥

अथाग्निनयनमन्त्राः—

तत्र तावच्छकलमादाय वेद्यां करोति । हे शकल ! त्वम्—

अग्नेर्जनित्रमसि ॥ १ ॥

अग्नेर्जननाधारभूतमसीत्याह ॥ १ ॥

तस्मिन् शकले कुशतरुणे करोति । हे दर्भौ ! युवाम्—

वृषणौ स्थः ॥ २ ॥

यथा पुत्रजननाय स्त्रीपुरुषौ वीर्य्यस्य सेक्तारौ तद्वद्युवामप्यरण्योरग्निजननसामर्थ्यसम्पादनाय सेक्तारौ भवथः इत्याह ॥ २ ॥

ततः शकलस्थापितयोर्दर्भयोरधरारणिं निदध्यात् ।

हे अधरारणे ! त्वम्—

उर्वश्यसि ॥ ३ ॥

यथोर्वशी पुरुरवोनृपस्य भोगायाधस्ताच्छेते तद्वत्त्वमधोऽवस्थिताऽसीत्याह ॥ ३ ॥

तत उत्तरारण्या आज्यस्थाली संस्पृशेत् । हे स्थालीगताज्य ! त्वम्—

आयुरसि ॥ ४ ॥

अरणिद्वयेन जनिष्यमाणस्याग्नेरायुः प्रदं भवसीत्याह ॥ ४ ॥ अधरारणे रभिमुखी-मुत्तरारणिं निदध्यात् । हे उत्तरारणे ! त्वम्

पुरूरवा असि ॥ ५ ॥

यथा पुरूरवा नृप उर्वश्यां अभिमुख उपरि वर्तते तथा त्वमपीत्याह ॥ ५ ॥

ततो मन्त्रत्रयेणारण्योर्मन्थनं कुर्यात् । हे अग्ने ! —

गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि ।
त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि ।
जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ।

गायत्र्यादिच्छन्दोऽभिमानिना देवेनाहं त्वामरण्योर्मन्थनेनोत्पादयामीत्याह ॥

अथ मन्थनोत्थमग्निमाहवनीये प्रास्यति । हे निर्मथ्याहवनीयावुभावग्नी ! युवाम्—

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञं हिंसिष्टं, मा यज्ञपतिं," जात-
वेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥

मनसा सहितौ परस्परसमानचित्तयुक्तौ पापरहितौ चास्मदर्थं भवतम् । एव—मस्मत्कर्म मा विनाशयतम्, यजमानं च मा विनाशयतम् ॥ तथा हे जातवेदसौ ! अद्यानुष्ठानदिवेऽस्मदर्थं कल्याणकारिणौ भवतमित्याह ॥

अन्यविषयं मनः परिहृत्य अस्मदनुग्रहाभिमुखत्वं समनस्त्वम् । अनुग्रहे परस्परविप्रतिपत्तिराहित्यं सचेतस्त्वम् । प्रमादादस्माभिः कृतेऽपि पापे कोपाभावः पापराहित्यम् ॥

अथ स्थाल्याः स्रुवेण जुहोति ।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः
ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपावा ।
स नः स्योनः सुयजा यजेह
देवेभ्यो हव्यं मदमप्रयुच्छन् स्वाहा ॥

मथ्यमानोऽग्निराहवनीयेऽग्नौ प्रविष्टः सन् हविर्भक्षयति । सोऽयमग्निऋषीणां वेदविदामृत्विजां पुत्र इव भवति तैरुत्पादितत्वात्, तथा वैकल्यनिमित्तादभिशापाद्रक्षकश्च भवति

हे अग्नेः ! तथाविधस्त्वमस्मदर्थं सुखरूपः सन् शोभनयागेनास्मिन् स्थाने इन्द्रादिभ्यो देवेभ्यः सोमादिरूपं हव्यं सदा अप्रमाद्यन् देहि । इदमाज्यं तुभ्यं हुतमस्तु इत्याह ॥

अथ येन व्रतं प्रदीयते तस्मिन् पात्रे ध्रुवास्थमाज्यं गृह्णीयात्, द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण–तत्राह । हे आज्य !

आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि—
तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय ॥

समन्तात्पतनशीलाय सर्वव्यापिने विश्वविस्तारकात्मनः पौत्राय शक्वरस्याकाशस्यापत्याय सर्वं कर्तुं समर्थायात्यन्तबलवते च वायवे त्वां गृह्णामीत्याह ॥

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूत, आकाशाद्वायुरिति" तैत्तिरीयारण्यक-श्रुतेः (८ । १ ।) आत्मपौत्रत्वमाकाशापत्यत्वं च वायोः सुप्रतिपन्नम् ।

यद्वा– हे आज्य ! प्राणाय मनसे जाठराग्नये शक्तये शक्तिमति पुरुषे यदोजिष्ठं सारं तस्मै च त्वामत्र पात्रे स्वीकरोमि इत्याह ॥

"प्राणो वा आपतिः, प्राणमेव प्रीणाति । मनो वै परिपतिः मन एव प्रीणाति । इत्याद्यास्तित्तिरिश्रुतयः समन्तादहं पातीत्यापतिः प्राणः । इष्टमाप्त्यनिष्टपरिहारोपायं चिन्तयित्वा परितः पालयतीति परिपतिर्मनः । शरीरं न पातयतीति तनूनप्ता जाठराग्निः ।

शकनशीलः शक्तिमान् पुरुषः शक्वरो भवति तस्येदं शाक्वरं सा शक्तिः। ओजो नामाष्टमो धातुः। तत्सारमोजिष्ठं, तदवष्टम्भेनैव शरीरे शक्तिरवतिष्ठते इति भाष्यम्।

अथ तानूनप्त्रमेतद्दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ। निधायावमृशन्तिऋत्विजो यजमानश्चा द्रोहस्तेभ्यः। हे तानूनप्त्रः? आज्यं?

अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽ
नभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्य
मञ्जसा सत्यमुपगेषम्, स्विते मा धाः॥

अतिरस्कृतमतिरस्करणीयमग्न्यादीनामोजस्सारभूतमगर्हितं गर्हातोरक्षकमगर्हिते स्वर्गादौ मापकं च त्वमसि। अतोहमृत्विक् ऋजुमार्गेण मानसकौटिल्यरहितेन आज्यस्पर्शरूपं शपथमुपगच्छेयम्॥ त्वं शोभनमार्गे यज्ञकर्मणि मां स्थापय इत्याह॥

आहवनीये समिधमाधाय जपति। तत्र यजमानोऽग्निशरीरात्मशरीरयोर्व्यत्ययं करोति।

अग्ने व्रतपा स्त्वे व्रतपाः, या तव तनूरियं सा मयि,
यो मम तनूरेषा सा त्वयि, सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु
मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः॥

सर्वेषां व्रतानां पालक! हे अग्ने? त्वमस्मदीयस्यैतस्य वर्तमानव्रतस्य पालकोऽसि—तस्य तव यच्छरीरं तन्मम भवतु मदीयं चैतच्छरीरं तव भवतु। तथा सति हे व्रतपते? आवयो रग्नियजमानयोः सहैवानुष्ठेयानि कर्म्माणि प्रवर्त्तन्तां। किञ्च—दीक्षापतिः सोमो मम दीक्षामनुमन्यताम्। तथा उपसद्रूपस्य तपसः पातिः सोमः मदीयमुपसद्रूपं तपोऽनुमन्यतामित्याह॥

अथ यजमानषष्ठाः सोममाप्याययन्ति—

"अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधन-
विदे आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायताम् त्वमिन्द्राय
प्यायस्व। आप्याययास्मान् सखीन मन्या
मेधया, स्वस्ति ते देव सोम, सुत्यामशीय।

हे सोम देव ! तव अंशुरंशुः सर्वोऽप्यवयवः सोमरूपैक धनपतिगृहीत्रे इन्द्राय वर्धताम् । हे सोम ! त्वत्पानार्थमिन्द्रो वर्धताम्, इन्द्रस्य पानार्थं त्वमपि वृद्धो भव । किञ्च, हे सोम ! प्रीतिविषयानस्मानृत्विजः धनदानेनार्थधारणशक्त्या च प्रवर्धय । हे सोम देव ! स्वस्ति तेऽस्तु । तव प्रसादादहं सोमाभिषवक्रियां पारयेयम् इत्याह ॥

चिरावस्थानेन यः सोमावयवो म्लानः शुष्कश्च तदुभयमाप्याययितुमुच्यते "अंशुरंशुरिति"–तदाहतित्तिरिः–"यद्वेवस्यशुष्यति यन्म्लायते । तदेवास्यैतेनाप्यायतीति" । यदुक्तंमा तुभ्यमिति–अनेनोभयोरपि वृद्धिर्भवति । तदाह तित्तिरिः–"उभावेवेन्द्रं च सोम चाप्याययति इति" ॥

अथ सर्वेऽपि ऋत्विजः प्रस्तरे निजहस्तानुत्तानान् कृत्वा दक्षिण हस्तं वोत्तान मुपर्य्यनास्थाप्य सोमं परिचरन्ति। हे सोम !

एष्टा रायः प्रेषे भगाय
ऋत मृतवादिभ्यो नमो
द्यावा पृथिवीभ्याम् ।

धनान्यस्माकमपेक्षितानि सन्ति । दक्षिणा वा दास्यन्ते प्रेष्यमाणायैश्वर्य्याय । यद्वा—प्रकर्षेणाम्नायैश्वर्य्याय । किञ्च—ऋतवादिभ्योऽग्निहोतृभ्योऽवश्यंभाविफलोपेतं कर्म संपादय ॥ द्यावापृथिवीभ्यां नमोऽस्तु इत्याह ॥

द्यावापृथिवीभ्यामेव नमस्कृत्यास्मिन् लोके प्रतितिष्ठतीति तित्तिरिः ॥

उपसदं जुहोति स्रुवेण—तत्र प्रथमदिने प्रथमां द्वितीये द्वितीयां तृतीये तृतीयाम्

या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचोऽपावधीत् त्वेषं वचोऽअपावधीत्स्वाहा ।
या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषंवचो अपावधीत् स्वाहा ।

या ते अग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा ॥"

हे अग्ने ! या तव लोहमयपुरव्यापित्वेन लोहमयी रजतमयपुरव्यापित्वेन रजतमयी । हेममयपुरव्यापित्वेन हिरण्मया देवानामतिशयेनाभिमतफलवर्षिणी असुराणां विषमे देशे स्थिता तनूः अस्ति । सा तनूः छिन्धिभिन्धित्यादिकमसुरप्रोक्तं तीव्रं वचनं विनाशितवती । तथा असुरोक्तं देवाधिक्षेपरूपं प्रदीप्तं वाक्यं नाशितवती तथाविधोपकाराय तुभ्यमग्नये हविर्दत्तम् ॥ इत्याह ।

तित्तिरिस्तु—"अशनायापिपासे ह वा उग्रं वचः, एनश्च वै वीरहत्यं च त्वेषं वचः" इति वदन्—असुरैः पराजिता देवा अन्नपाने अलभमानाः क्षुत्पिपासाभ्यां वयं पीड़िता इति यदूचुः तदुग्रं वचः । तथा किंवा वीरहत्यादि महापातकमस्माभिः कृतमिति क्लिश्नन्तो यद्वाक्यं संतापहेतुत्वेन दीप्तमूचुः तत्त्वेषं वच इत्यभिप्रैति ॥

अत्रेयमाख्यायिका । देवैः पराजिता असुरास्तपस्तप्त्वा त्रैलोक्ये त्रीणि पुराणि चक्रुर्लोहमयीं भूमौ, राजतीमन्तरिक्षे, हैमीं दिवि । तदादेवैस्ता दग्धुमुपसदाग्निराराधितः । तत उपसद्देवतारूपोग्निर्यदा तासु पूर्षु प्रविश्य ता ददाह तदा तिस्रः पुरोऽग्नेस्तनवोऽभूवन्निति । तथा च श्रुतिः ३ । ४ । ४ । ३ । ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे अयस्मयीमेवास्मिन् लोके रजतामन्तरिक्षे हरिणीं दिवीत्यादि ॥

इत्यग्निनयनम् ।

अथोत्तरवेदिमंत्राः ।

उत्तरवेदिनिचयार्थं यत्र भूप्रदेशे मृदं खनति स प्रदेशश्चात्वाल उच्यते । तत्रोत्करात् पूर्वस्यां संचरपरिहारेणोदगग्रां शम्यां निधाय तत्प्रमाणां तत्पूर्वपार्श्वे स्फ्येन रेखां कुर्य्यात् । तथा तत्पूर्वपार्श्वे तथैव शम्यां निधाय रेखां कुर्य्यात् । अभ्यन्तरे एवं दक्षिणोत्तरयोरपि प्रागग्रां शम्यां निधाय रेखाद्वयं कुर्य्यात् । तत्र प्रतिमन्त्रं परिलिखति—हे पृथिवि !

तप्तायनी मेऽसि । १ । वित्तायनी मेऽसि ।२ ।
अवतान्मा नाथितात् । ३ । अवतान्मा व्यथितात् । ४ ।

त्वं ममानुग्रहार्थं संतप्तपुरुषं तापोपशान्त्यै गच्छसि । यो हि दरिद्रः क्षेत्ररहितोऽहमिति संतप्यते । यद्वा-तप्तः सन्नरो यस्यामयति सा त्वमसि । १ । तथा सस्य निष्पत्ति-द्वारा धनवृद्धयर्थं निर्धनं पुरुषं गच्छसि । यद्वा धनार्थं नरो यस्यामेति सा त्वमसि । २ । हे पृथिवि ! यथाहं कमपि न याचे तथा मां रक्ष । ३ । एवं भयाच्चलनात् स्थानभ्रंशाच्च मां रक्षेत्याह । ४ ।

चात्वाले स्फ्येन मृदं खनति—हे मृत्तिके !

विदेदग्निर्नभोनाम ।

नभः संज्ञस्त्वदधिष्ठाताग्निर्मया खन्यमानां त्वां जानीयात् । इत्याह । स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हरतीति श्रुतेः (३।५।१।३१॥) अग्निनामोच्चारण पूर्वकमेव खनेत् ॥

अथ पुरीषं प्रहरति । खाता मृत् पुरीषमित्युच्यते—

अग्ने अङ्गिर आयुना नाम्ने हि ।

हे अग्ने ! हे अङ्गिरः ! त्वमायुना नाम्नाऽभिहितः सन्नागच्छेत्याह ।

उत्तरवेदि स्थाने मृदं निवपति पूर्वार्द्ध शङ्कुसहितम् । हे अग्ने !

योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे । १ ।

यस्त्वमस्यां भूमौ वर्तसे । यच्च तव केनापि याज्ञिकेनातिरस्कृतं यज्ञयोग्यमग्निरिति प्रसिद्धं नामास्ति । तेन नाम्ना त्वां स्थापयामीत्याह ।

अथ यथापूर्वैस्त्रिभिर्मन्त्रैः खात्वा हृत्वा मृत्प्रक्षिप्य वेद्यर्थमेतत्त्रितयं पुनरपि द्विः कुर्य्यात् । द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च पृथिव्याअनुरोधेन—तत्र द्वितीया पृथिवी अन्तरिक्षं तृतीया पृथिवी द्यौ रित्यवधेयम्—

विदेदग्निर्नभो नाम ॥
अग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि ।
यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि । यत्तेनाऽधृष्टं नाम
यज्ञियं तेन त्वा दधे । २ ।

विदेदग्निर्नभो नाम ।
अग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि ।
यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि । यत्तेऽनाधृष्टं नाम
यज्ञियं तेन त्वा दधे ॥ ३ ॥

अथैतत्पर्यायत्रयानुसारेणैव चतुर्थमपि प्रक्षेपणपर्य्यन्तं मृदाहरणं कुर्यात् । हे मृत्तिके !

अनु त्वा देववीतये ॥ ४ ॥

देवानां प्रीतये पूर्वकृतमाहरणत्रयमनुसृत्य त्वामाहरामीत्याह । ४ ।

उत्तरवेदिं शम्यामात्रीं * व्यूहति, प्रोक्षति, सिकताश्च प्रकिरति मन्त्र भेदेन । हे उत्तरवेदे !

सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व । १ ।
सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धश्च । २ ।
सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व । ३ ।

त्वं सिंहसमाना भूत्वा शत्रूणामभिभवित्री भवसि । अतोदेवोपकारार्थमुत्तरवेदिरूपेण क्लृप्ता भव । १ । शुद्धा भव । २ । सिकताप्रक्षेपेण च शोभिता भवेत्याह ।

वाक् पूर्वमसुरेभ्यः क्रुद्धा सिंही भूत्वा चचारेति श्रूयते (३ । ५ । १ । ३२ ।) सेह वेदि मन्त्रे षूच्यते ।

अथ वेद्यन्तरे स्थितोदङ्ङुत्तरवेदिं प्रोक्षति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम् । हे उत्तरवेदे !—

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु । १ ।
प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात् पातु । २ ।
मनोजवास्त्वा पितृभि र्दक्षिणतः पातु । ३ ।
विश्वकर्मा त्वा ऽऽदित्यै रुत्तरतः पातु । ४ ।

* व्यूहनं पांसुभिर्विशिष्य समीकरणम् ।

इन्द्र इति शब्देन विस्पष्टं कथ्यते यो देवः स वसुभिर्गणदेवैः पूर्वस्यां दिशि रक्षतु । १ । प्रकृष्टप्रज्ञो वरुणो रुद्रैर्गणदेवैः पश्चिमायां दिशि रक्षतु । २ । मनोवद्वेगयुक्तो यमः पितृभिः स्वर्लोकवासिदेवविशेषैर्दक्षिणस्यां दिशि रक्षतु । ३ । विश्वानि कर्म्माणि जगदुत्पत्त्यादीनि यस्य सोऽयं देवः आदित्यैर्गणदेवैरुत्तरस्यां दिशि रक्षतु । ४ ।

एकदा असुरा देवान् हन्तुमागताः तदा देवसेनाधिपतयः इन्द्रप्रभृतयश्चतसृषु दिक्षु तानसुरानपाकुर्वन्निति-तित्तिरिराह । तस्मादेतै र्मन्त्रै र्दिक्चतुष्टेय रक्षा प्रार्थनीया ॥

प्रोक्षणशेषं बहिर्वेदि निषिञ्चति—

इदमहं तप्तं वार बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥

असुर निवारणाय येनोदकेन प्रोक्षितं तदुग्ररूपत्वात्तप्तमित्युच्यते । तदिदं तप्तं जलं प्रोक्षणशेषभूतं यज्ञप्रदेशाद्बाह्यप्रदेशेऽहं निःक्षिपामि—इत्याह ॥

अथ योऽयमुत्तरवेदेर्नाभ्याख्यो मध्यदेशस्तस्य * श्रोण्यंसेषु मध्ये च हिरण्यं निधाय तदवलोकयन् जुह्वां पञ्चवारं गृहीतेनाज्येन कोणसूत्रप्रदेशेन जुहुयात् । तत्र प्रथमं दक्षिणेंऽसे १, तत उत्तर श्रोणौ २, ततो दक्षिण श्रोणौ ३, तत उत्तरांसे ४ ततो मध्ये ५ इति क्रमः । क्रमेण मन्त्राः– हे उत्तरवेदे !

सिंह्यसि स्वाहा । १ ।
सिंह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा । २ ।
सिंह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा । ३ ।
सिंह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा । ४ ।
सिंह्यस्यावह देवान् यजमानाय स्वाहा । ५ ।

त्वं सिंहरूपा भवसि तादृश्यै तुभ्यं हविर्दत्तम् । तथा आदित्यानां प्रीणयित्री, ब्राह्मण क्षत्रियजात्योः प्रीणयित्री, पुत्रपौत्रादिरूपायाः शोभनप्रजायाः संपादयित्री, सुवर्ण-रजतादि धनपुष्टेः संपादयित्री, त्वमसि । सा त्वं यजमानोपकारार्थं देवान् आनयेत्याह ॥

---

* आग्नेयैशकोणावंसौ । वायव्यनैर्ऋतकोणौ श्रोणी ।

पुरा कदाचिदुत्तरवेदि देवता केनापि निमित्तेन देवेभ्योऽपक्रम्य असुरानप्राप्य उभयोर्देवासुरसेनयोर्मध्ये सिंहरूपं धृत्वा तस्थौ। तदुक्तं तित्तिरिणा—

"तेभ्योऽपक्रम्योत्तरवेदिः सिंही रूपं कृत्वोभयानन्तरा तिष्ठदिति ॥"

स्रुचमुद्यच्छति। हे होमविशेषाज्ययुक्ते जुहूः !

भूतेभ्यस्त्वा ।

जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतग्रामप्रीत्यर्थं त्वामुद्यच्छामीत्याह "भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद्गृह्णाति, य एव देवा भूतास्तेषां तद्भागधेयं भवति तानेव तेन प्रीणाति" इति तित्तिरिः ॥

अथ पैतुदारवैः परिधिभिरुत्तरवेदेर्मध्यदेशरूपां नाभिं दर्शपौर्णमासेष्टिवत् पश्चिम दक्षिणोत्तरेषु परिदध्यात्—हे मध्यम परिधे !

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृंह। १।

हे दक्षिणपरिधे !

ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृंह। २।

हे उत्तरपरिधे !

अच्युतक्षिदसि दिवं दृंह। ३।

अथ निवपति गुग्गुलु-सुगन्धितेजन, वृष्णेस्तुकाश्चोपरि शीर्षण्याः अभावेऽन्याः। तत्र गुग्गुलुधूपद्रव्यं, सुगन्धितेजनं तृणविशेषः। वृष्णेस्तुका अविरोमाणि। हे गुग्गुलु—प्रभृतिसम्भारसमूह ! त्वम्—

अग्नेः पुरीषमसि ।

अग्निपूरकमसीत्याह ॥ "अग्नेर्ह्येतत् पुरीषं यत्संभाराः"- इति तित्तिरिः ॥

इत्युत्तर वेदि मंत्राः।

अथ हविर्धान मन्त्राः

अस्ति तावत् प्राचीनवंशा शाला। तस्यामाहवनीयाद्यग्नित्रयमैष्टिकवेदिश्चास्ति। तस्याः शालायाः पुरतः षट्त्रिंशत्पददीर्घा सौमिकी वेदिर्विधेया। तद्वेद्या अग्रभागे पूर्वोक्तोत्तरवेदिः। ततः पश्चान्मध्यभागे हविर्धानाख्यो मण्डपो विधेयः। ततोऽपि पश्चात् सदोऽभिधाना उदग्वंशा शाला निर्मातव्या। तस्याः स्थाने प्राचीनशालायाः पुरतो दक्षिणोत्तरभागयोर्हविर्धानसंज्ञके द्वे शकटे स्थापिते स्थः। तच्छकटद्वयं पुरतः प्रवर्त्य तदावरकत्वेन हविर्धानाख्यमण्डपो विधेयः। तच्छकटद्वयं सावित्रहोमादूर्ध्वं प्रवर्तनीयम्। तं च होमं, प्राचीनशालाया द्वारसमीपे पूर्वसिद्ध आहवनीयो यो वर्तते स पूर्वमाहवनीयोऽपि सन् उत्तरवेद्याख्येऽन्यस्मिन्नाहवनीये निष्पन्ने सति तदपेक्षया स्वयं गार्हपत्यो भवतीति तत्र कुर्यादनया सावित्र्यर्चा—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा ॥

महतोऽभिज्ञस्य च ब्राह्मणस्य यजमानस्य सम्बन्धिनो ब्राह्मणा ऋत्विजो होमकर्तारो लौकिकचिन्ताभ्यो मनो निवार्य्य यज्ञचिन्तायां नियमयन्ति। तदिदं विप्राणां मनोनियमनादिसामर्थ्यमेक एव सर्वधीसाक्षी ससर्ज। यतस्तस्य प्रेरकस्यान्तर्यामिणो देवस्य सर्वदोक्ता स्तुतिर्महती अस्ति। इत्याह ॥

दक्षिणशकटसंबन्धिदक्षिणचक्रमार्गे हिरण्यं निधाय तत्राभिजुहोति—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे—स्वाहा—१।५।१५

विष्णुस्त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विभज्य क्रमते स्म। तथाहि—भूमावेकं पदमन्तरिक्षे द्वितीयं पदं दिवि तृतीयं पदमिति क्रमादग्निवायुसूर्य्यरूपेण त्रेधा पदं निदधे।

अस्य विष्णोः पदे भूम्यादिलोकात्मकपांसुवति सम्यगन्तर्भूतं विश्वमिदम्। तस्मै विष्णवे हविर्दत्त मित्याह ॥

अथोत्तरशकटसम्बन्धयुत्तरचक्रमार्गे प्रति प्रस्थाता स्रुक्स्थाल्यौ प्रतिगृह्य जुहुयात्।

इरावती धेनुमती हि भूतं।
सू यवसिनी मनवे दशस्या ॥
व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवे ते।
दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः—स्वाहा २। ५। १६

हे रोदसी! द्यावापृथिव्यौ! युवाम् अन्नवत्यौ वहुधेनुयुक्ते शोभनाभ्यवहार्य्य—वस्तुमती ज्ञानवते यजमानाय दशस्याविति यज्ञसाधनानां दात्र्यौ भवतं हि। हे विष्णो! एते रोदसी त्वं विभज्य स्तम्भितवानसि किञ्च—स्वतेजोरूपैर्नानाजीवैः पृथिवीं सर्वतो धारित—वानसि। तस्मै विष्णवे हविर्दत्तम्—इत्याह ॥

अथ दक्षिणया द्वारा प्रतिप्रस्थात्रा समानीता पत्नी होमशेषेणाज्येनाक्षस्योभावग्र—भागौ—अञ्ज्यात्—

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतम्।

देवेषु प्रसिद्धौ हे अक्षधुरौ! यजमानोऽयं यक्ष्यतीति वृत्तं देवेषु उच्चध्वनिना कथयतम् ॥

हविर्धानाख्ये यदा प्रवर्तेते तदा यजमानं वाचयेत्—

प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती,
ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं, मा जिह्वरतम् ॥

हे उभे शकटे! प्रस्तुतमध्वरकर्म्म समर्थं कुर्वाणे युवां प्राङ्मुखे प्रकर्षेण गच्छतम् किञ्च—यज्ञमिममुपरिवर्त्तिदेवान् प्रति प्रापयतम्, मा कुटिले भवतम् इत्याह ॥

अथप्रवर्त्यमानयोः शकटयोरक्षे ध्वनिं कुर्वति सति यजमानं वाचयेत्—

स्वं गोष्ठमावदतं, देवी दुर्य्ये आयुर्मा।
निर्वादिष्ट, प्रजां मा निर्वादिष्टम् ॥

हे देवी दुर्य्ये! गृहसदृशशकटद्वयरूपे देवते! स्वकीयं गोस्थानं सर्वतः कथयतम्। किञ्च—यजमानस्य यावदायुरस्ति तावत्सर्वं मा निराकार्ष्टम्! यजमानस्य प्रजां पुत्रादि-रूपां मा निराकार्ष्टमित्याह ॥

"वरुणो वा एष दुर्वागुभयतो बद्धो यदक्षः" इति श्रुतेः ३। ५। ३ १८। उभयबद्धाक्षशब्दस्य दुष्टत्वात्तादृशशापरूपदुर्वाक्यपरिहारायाशीर्वादरूपं सुवाक्यमनेन मन्त्रेण प्रार्थ्यते ॥

अथ पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेषु मत्या वा नभ्यस्थे उभे शकटेऽभिमन्त्रयते—हे शकटे!

अत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः ५। १७

भूमेः शरीरे अस्मिन् देवयजने युवां क्रीडतम्। इत्याह।

"वर्ष्म ह्येतत् पृथिव्या यद्देवयजनम्" इति—तित्तिरिः ॥

उत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणशकटस्याग्रं वोढुं आधारभूतं काष्ठं स्थापयति—

विष्णोर्नुकं वीर्य्याणि प्रवोचं यः,
पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं,
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोरेव कर्म्माण्यहं प्रब्रवीमि। यो विष्णुः पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थानानि निर्ममे। यद्वा—यः पार्थिवपरमाणून् परिगणितवान्। यश्च विष्णुः उपरितनं देवानां सहवासस्थानं द्युलोकरूपं यथाधो न पतति तथा स्तम्भितवान्। यश्च त्रिषु लोकेषु अग्नि-वायुसूर्य्यरूपेण पदत्रयं निदधानः। तथा बहुगतिर्बहुभिर्गीयमानो वा, इत्याह ॥

दक्षिणतः स्थूणमुपनिहन्ति—हे स्थूणे! काष्ठ!

विष्णवे त्वा १ । ५ । १८

हविर्धानशकटाभिमानिविष्णुप्रीत्यर्थं त्वां निखनामि इत्याह ॥ अथ यथाध्वर्यु-र्दक्षिणशकटमुपष्टभ्य स्थूणां निखातवान् एवं प्रतिप्रस्थाता उत्तरशकटे कुर्य्यात्—

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या-
महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा
प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥ २ ॥
विष्णवे त्वा ॥ २ ॥ ५ । १६

हे विष्णो ! द्युलोकात्-अपि च भूलोकात् वा महतो विस्तीर्णादन्तरिक्षलोकात् समानीतेन द्रव्येण उभावपि स्वकीयौ हस्तौ पूरयस्व । ततो धनपूर्णाद्दक्षिणात् तथा वामाद्धस्ताद्व बहुकृत्वः देहीत्याह ॥ २ ॥ हे स्थूणे ! विष्णवे त्वां निहन्मीत्याह ॥ २ ॥

मध्यमं छदिरालभ्य वाचयति—

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्य्येण,
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति,
भुवनानि विश्वा ॥ १ ॥ ५ । २०

पर्वतस्थितः प्राणिवधादिकुत्सितचारी भयङ्करः सिंह इव स विष्णुरसाधारणवीर-कर्म्मणा प्रस्तूयते यस्य विष्णोः प्रभूतेषु त्रिषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपणस्थानेषु सर्वाणि भूत-जातानि अधिनिवसन्ति । इत्याह ॥

हविर्धानाख्ये द्वे शकटे दक्षिणोत्तरभागयोः स्थापयित्वा तदावरकत्वेन परितो हवि-र्धानाख्ये मण्डपं कुर्य्यात् । स च मण्डपो विष्णुदेवताकत्वाद्विष्णुरित्युपचर्य्यते । विष्णोश्च मूर्त्तिधरस्य सर्वावयवसद्भावाल्ललाटाख्योऽवयवोऽस्ति । तद्वद्धविर्धानमण्डपस्यापि पूर्वं द्वार-

वर्त्तिस्तम्भयोर्मध्ये काचिद्दर्भमाला ग्रथ्यते । तां मालां तद्बन्धनाधारतिर्य्यग्वंशं वा संबोध्य पुरुषललाटत्वेनोपचर्य्यते । हे दर्भमयमालाधार वंश ! त्वम्—

विष्णो रराटमसि । १ ।

विष्णु मूर्तित्वेनोपचरितस्य हविर्धानमण्डपस्य ललाटस्थानीयोऽसि—इत्याह ।

उच्छ्राय्यौ रराटी प्रान्तावुपस्पृश्य वाचयेत् । ६ ।

विष्णोः श्नप्त्रे स्थः । २ ।

हे रराट्यन्तौ ! युवां विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य ओष्ठसन्धिरूपे भवथ—इत्याह ॥

बृहत्सूचि समर्पितया रज्ज्वा द्वारशाखा सीव्यति हे—लस्सूजनि ! त्वम्—

विष्णोः स्यूरसि । ३ ।

हविर्धानस्य सूचिरसीत्याह ॥ ३ ॥

ग्रन्थिं करोति । हे रज्जुग्रन्थे ! त्वम्—

विष्णोर्ध्रुवोऽसि । ४ ।

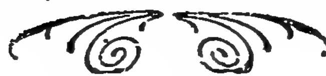
हविर्धानस्य ग्रन्थिर्भवसीत्याह ॥ ४ ॥

प्राग्वंशं हविर्धानमण्डपं निर्मायालभते हे हविर्धान ! त्वम्—

वैष्णवमसि । ५ । विष्णवे त्वा । ६ । ५ । २१ ।

विष्णुदेवताकत्वेन तत्सम्बन्धि भवसि । तस्माद्विष्णुप्रीत्यर्थं त्वां स्पृशामीत्याह ॥ ६ ॥

इति हविर्धानमन्त्राः ॥



(इत उत्तरमुपरव मन्त्राः)



अथ यथा यूपस्यावटः क्रियते तथाऽत्रापि दक्षिणस्यानसोऽधःप्रउगं खनति, उपरवनामकांश्चतुरो गर्तान् करोति। तत्र तावदवटखननार्थं खननसाधनं काष्ठनिर्मितमभ्रिनामाददानो जपति। हे अभ्रे!

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहूभ्यां
पूष्णोहस्ताभ्यां आददे नार्य्यसि। १।

त्वं खननसाधनत्वेन कर्म्मोपयोगित्वादनुष्ठातॄणां नराणां सम्बन्धिनी भवसि। ततः सवितुर्देवस्यानुज्ञायां वर्तमानोऽहमश्विनोः पूष्ण चहस्तद्वारा त्वां गृह्णामीत्याह ॥ १ ॥

यूपावटं परिलिखन्नाह। यदहं चतुरोऽवटान् परिलिखामि तत्—

इद महं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। २।

अनेन परिलेखनेन यज्ञघ्नानां कण्ठप्रदेशान् छिनद्मीत्याह ॥ २ ॥

इत्थमाग्नेयीं विदिशमारभ्य चतसृषु विदिक्षु चतुर उपरवान् खातुं भूमिः परिलिखिता। अथ तेनैवक्रमेणावटान् खनति हे उपरवाख्य! गर्त! त्वम्—

बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद ५। २३
रक्षोहणं बलगहनं वैष्णवीम् ॥ ३ ॥

प्रादेशपरिमाणेन विस्तृतत्वाद्बाहुपरिमाणेन खातत्वाच्च महान् भवसि। तथा खातुं भूमौ प्रहारे महान् ध्वनिर्भवतीति महाशब्दोऽसि। तस्मात्त्वमिन्द्रप्रीत्यर्थं प्रौढां रक्षोवधविषयां वलगनिहन्त्रीं यज्ञसम्बन्धिनीम् वाचं वदेत्याह ॥ ३ ॥

पराजितैरसुरैरिन्द्रादिवधार्थमभिचाररूपेण भूमौ निखाता अस्थिकेशनखादिपदार्थाः कृत्याविशेषा वलगाः। ते च बाहुमात्रे खाता इत्यतस्तदुद्धारार्थमुपरवस्य तावन्मात्रं खननम्।

तदाह—तित्तिरिः—"असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन्, तान् बाहुमात्रे त्वविन्दन् तस्माद्बाहुमात्राः खायन्ते" इति ॥ तान् बाहुमात्रान् खनेदिति श्रुतिः (३ । ५ । ४ । ६) ॥

अथ येन क्रमेण चत्वारो गर्त्ताः खाताः तेन क्रमेण चतुर्भ्यो गर्तेभ्यः खातं मृत्तृणादिकं चतुर्भिर्मन्त्रैरुत्किरति पञ्चमेन तु साधारणेन मन्त्रेण सर्वेभ्य उत्किरति—

इदमहं तं वलगमुत्किरामि ।
यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखान ॥ १ ॥
इदमहं तं वलगमुत्किरामि ।
यं मे समानो यमसमानो निचखान ॥ २ ॥
इदमहं तं वलगमुत्किरामि ।
यं मे सबन्धुर्य्यमसबन्धुर्निचखान ॥ ३ ॥
इदमहं तं वलगमुत्किरामि ।
यं मे सजातो यमसजातो निचखान ॥ ४ ॥
उत्कृत्यां किरामि ॥ ५ ॥ ५ । २३

नितरां संघातचारी दस्युर्वा पुत्रादिर्वा चाण्डालादिर्वा निष्ट्यः, धनगृहादिनिर्वाहकोऽमात्यः । धनकुलादिभिः सदृशः समानः । कुलशीलादिभिः समानो मातुलपैतृष्वसेयादिः सबन्धुः । समानजन्मा भ्राता सजातः तेष्वेतेषु य एव कश्चित्कुपितो मदनिष्टार्थं यं वलगं निखातवान् तमहमिदमुद्वपामि ॥ ४ ॥ येयं कृत्या शत्रुभिरभिचरद्भिः प्रयुक्ता तां वलगरूपामुद्धृत्य दूरे क्षिपामीत्याह ॥ ५ ॥

खननक्रमेण चतुर्षु गर्त्तेषु यजमानहस्तस्पर्शं चतुर्भिर्मन्त्रैः कारयेत् ।

स्वराडसि सपत्नहा । १ ।

सत्रराडस्यभिमातिहा । २ ।
जनराडसि रक्षोहा । ३ ।
सर्वराडस्यमित्रहा । ४ । ५ । २४

हे प्रथमगर्त्त ! स्वयमेव राजमानो भवसि । अतः शत्रुघाती भव । १ । हे द्वितीयगर्त्त ! सत्रेषु द्वादशाहादिषु राजसे स त्वं शत्रुघाती भव । २ ॥ हे तृतीयगर्त्त ! यजमानेषु राजसे स त्वं यज्ञविनाशकराक्षसघाती भव । ३ । हे चतुर्थगर्त्त ! सर्वेषु राजसे स त्वं शत्रुघाती भवेत्याह । ४ ।

चतुरो गर्त्तान् प्रतिगर्त्तोच्चरितमन्त्रेण प्रोक्षति हे गर्त्ताः !

रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् । १ ।

राक्षसहन्तॄन् अभिचारसाधनहन्तॄंश्च विष्णुदेवताकान् युष्मान् प्रोक्षामीत्याह । १ ।

अवनयति । गर्त्तेषु प्रोक्षणशेषोदकसेचनमवनयनम् हे गर्त्ताः !

रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान् । २ ।

अवस्तृणाति । गर्त्तेषु दर्भैराच्छादनं संस्तरणम् । हे गर्त्ताः !

रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान् । ३ ।

ययोः फलकयोरुपरि सोमोऽभिषूयते ते द्वे अधिषवणफलके उच्येते । तन्नुपरि कुशान् कृत्वा द्व्यङ्गुलान्तरिते प्रक्षालिते प्राची अरत्निप्रमाणे संतृणे ईषद्बन्धनोपेते । ते द्वे फलके चतुर्णां गर्तानामुपरि स्थापयति । हे अधिषवण फलके !

रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवी । ४ ।

अथ तयोः परितो मृदा छिद्रपिधानं च करोति । हे अधिषवणफलके !

रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्य्यूहामि वैष्णवी । ५ ।

तयोः फलकयोरुपरि सोमाधिपवणं परिकृत्तं अग्रभागेऽछिन्नं सर्वलोहितं निदधाति। हे चर्म्म ! त्वम्—

वैष्णवमसि । ६ ।

अथ तस्मिंश्चर्म्मणि सोमाभिपवहेतून् पञ्च पाषाणान् स्थापयति । हे ग्रावाणः ! यूयम्—

वैष्णवाः स्थः । ७ । ५ । २५

यज्ञरक्षकविष्णुसम्बन्धिनो भवथेत्याह ॥ ७ ॥

इत्युपरवमन्त्राः प्रकृताः ॥

इत उत्तरमौदुम्बरी मन्त्राः ॥

औदुम्बरीं शाखां यजमानदेहमितां सदोमण्डपमध्ये निखनेत् । सा च शाखा निखननात्पूर्वं यूपवद्भूमौ शेते । तत्र यूपावटवदभ्र्यादि अवस्तरणान्तं सर्वं कार्यम् । तथाहि-अभ्रिमादत्ते । हे अभ्रे !

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे, अश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्याम्, आददे नार्य्यसि ॥ १ ॥

परिलिखति ।

इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि ॥ २ ॥

अप्सु यवानोप्येति । हे धान्यविशेष ! त्वम्—

यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीः ॥ ३ ॥

यतस्त्वं यवनार्थासि । अतः शत्रून दौर्भाग्यं वा अदानानि चास्मत्तः पृथक्कुरु । इत्याह ॥ ३ ॥

अथ प्रतिमन्त्रमग्रमध्यमूलानि प्रोक्षति । हे औदुम्बर्य्यग्रभाग !

१ दिवे त्वा ॥ ४ ॥

द्युलोकप्रीत्यर्थं त्वां प्रोक्षामीत्याह ॥ ४ ॥

हे औदुम्बरी मध्यभाग !

२ अन्तरिक्षाय त्वा ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षलोकप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामीत्याह ॥ ५ ॥

हे औदुम्बरी मूलभाग !

३ पृथिव्यै त्वा ॥ ६ ॥

पृथिवीप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामीत्याह ॥ ६ ॥

अवटे शेषमासिञ्चति ।

शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः ॥ ७ ॥

येषु पितरः सीदन्ति ते लोका अनेनोदकसेचनेन शुद्धा भवन्तुइत्याह ॥ ७ ॥

"क्रूरमिव वा एतत्करोति यत् खनति यत्पयोऽवनयति शान्त्यै तद्" इति तित्तिरिः ॥

तस्मिन्नवटे प्रागग्रानुदगग्रांश्च दर्भानास्तृणाति । हे वर्हिः ! त्वम्—

पितृषदनमसि ॥ ८ ॥ ५ । २६

पितृणामुपवेशनस्थानमसीत्याह ॥ ८ ॥

उच्छ्रयति । हे औदुम्बरि ! त्वम्—

उद् दिवं स्तभानान्तरिक्षं पृण दृंहस्व पृथिव्याम्।

द्युलोकमुत्तम्भय, अन्तरिक्षं पूरय, पृथिव्यां दृढा भवेत्याह ॥

शाखां गर्ते मिनोति । हे औदुम्बरि !—

द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा ।

दीप्यमानो वायुः स्थिरेण धारणेन त्वां गर्ते प्रक्षिपतु । मित्रावरुणौ चेत्याह ॥

पांसुभिः पर्य्यूहति यूपवत् । हे औदुम्बरि !

ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्य्यूहामि ।

ब्राह्मणं क्षत्रियं धनुपुष्टिं च सम्भजमानां त्वां परितो मृत्तिकां क्षिपामीत्याह ॥

मैत्रावरुणदण्डेन समन्त्रं त्रिः पर्य्यूहति ! औदुम्बरि !

ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां दृंह । ५ । २७

ब्राह्मणं क्षत्रियं जीवनं सन्तर्ति च दृढीकुरु इत्याह ॥

औदुम्बरीमालम्भ्यवाचयति । हे औदुम्बरि ! त्वम्—

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने
प्रजया पशुभिर्भूयात् ।

शाखा यत्र द्विधा भूता स प्रदेशो विशाखः । तत्र स्रुवेण जुहोति—

घृतेन द्यावापृथिवी पूर्य्येथाम् ।

हूयमानेनानेन घृतेन द्यावापृथिव्यौ पूरिते भवेतामित्याह ॥

औदुम्बरीनिखननादूर्ध्वं सदोनामकं मण्डपं निर्म्माय तस्योपरि प्रावरणाय मध्यं कटमारोपयेत् । हे तृणमय कट ! त्वम्—

इन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया २ । ५ । २८

इन्द्र सम्बन्धी कटो भवसि । अतस्त्वं सदो मध्यवर्त्तिनः सर्वजनस्य यजमानर्त्विग्गादेः प्राणिनः प्रावरणाय छाया भवेत्याह ॥

परितः कुड्य्वदावरणं कुर्य्यात्—

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः ।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥ ५ । २९

हे गिर्वण ! इन्द्र ! शनैः प्रातःसवनं, तत उच्चैर्म्माध्यन्दिनं सवनं, तानस्वरेण तृतीयं सवनमिति सवनक्रमेण वृद्धिमत्यः इमाः स्तोत्रशस्त्ररूपा वाचो वृद्धमनुष्यं वृद्धमनुतं महामनुष्यं वा त्वां सर्वतः कटरूपेण परिगृह्णन्तु। किञ्च—अस्मत्कृताः सेवास्तव प्रिया भवन्तु—इत्याह ॥

परिषीव्यति । हे रज्जो ! त्वम्—

इन्द्रस्य स्यूरसि । १ ।

इन्द्रस्य सदोऽभिमानिदेवस्य सीवनमसीत्याह ॥ १ ॥

ग्रथ्नाति । हे ग्रन्थे !—त्वम्—

इन्द्रस्य ध्रुवोऽसि । २ ।

इन्द्रसम्बन्धी भूत्वास्थिरो भवसीत्याह ॥ २ ॥

अभिमर्शति । हे सदः !—त्वम्—

ऐन्द्रमसि । ३ ।

इन्द्रसम्बन्धि भवसीत्याह ॥ ३ ॥

हविर्धानमण्डपस्यापरान्तो वायव्यकोणः, तस्योत्तरभागे किञ्चिदाग्नीध्रनामक मग्निस्थानं कृत्वा तदालभते —

हे आग्नीध्र !-त्वम्

वैश्वदेवमसि ॥ ४ ॥ ५ । ३०

सर्वदेवसम्बन्धि भवसीत्याह ॥ ४ ॥

इत्यौदुम्बरी मन्त्राः प्रकृताः ॥

इत उत्तरं षोडश धिष्णयमन्त्राः ।

अग्नीनांमाश्रयभूता मृदा निर्म्मिताः स्वल्पवेदिका धिष्णयान्युच्यन्ते । धिष्णयान्निवपति उद्धतावोक्षिते पुरीपं निवपति स्फेयनान्तारभ्य उदङ्ङुपविश्य—। तत्राग्नीध्रीयं पूर्वम् । ततः षट् सदसि प्रत्यङ्मुखो द्वारमपरेण होतुः-दक्षिणपूर्वेणौदुम्बरीं मैत्रावरुणस्य होतृ-धिष्ण्यमुत्तरेण चतुरः समान्तरान् ब्राह्मणाच्छंसि-पोतृनेष्ट्रच्छावाकानाम् । हे आग्नीध्रीय धिष्ण्य !—त्वम् —

विभूरसि प्रवाहणः । १ ।

हे होतृधिष्ण्य !-त्वम्—

वन्हिरसि हव्यवाहनः ।

हे मैत्रा वरुणधिष्ण्य !—त्वम्—

श्वात्रोऽसि प्रचेताः । ३ ।

हे ब्राह्मणाच्छंसि धिष्ण्य !—त्वम्—

तुथोऽसिविश्ववेदाः । ४ । ५ । ३१

हे पोतृधिष्ण्य !—त्वम्—

उशिग सि कविः । ५ ।

हे नेष्टृधिष्ण्य !—त्वम्—

अङ्घारिरसि बम्भारिः । ६ ।

हे अच्छावाक् धिष्ण्य !—त्वम्—

अवस्यूरसि दुवस्वान् । ७ ।

एवं होत्रादिधिष्ण्यान् सदसि निर्म्माय वेदेराग्नीध्राद्दक्षिणभागे सम्प्रतिवेद्यन्ते दक्षिणामुखो मार्जालीयम्—तत्राह—हे पात्र प्रक्षालन ! त्वम्—

शुन्ध्यू रसि मार्जालीयः । ८ ।

सदोद्वारं पूर्वेण तिष्ठन्ननुदिशति आहवनीय वहिःपवमानदेशचात्वाल-शामित्रौ-दुम्वरी-ब्रह्मासन-शालाद्वार्य्य-प्राजहितान् हे उत्तरवेदिगताहवनीय ! त्वम्

सम्राडसि कृशानुः ॥ १ ॥

हे वहिः पवमानदेश ! त्वम्—

परिषद्योऽसि पवमानः ॥ २ ॥

हे चात्वाल ! त्वम—

नभोऽसि प्रतक्वा ॥ ३ ॥

हे शामित्र ! त्वम—

मृष्टोऽसि हव्यसूदनः ॥ ४ ॥

हे औदुम्बरि ! त्वम्—

ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः । ५ । ५३२

हे ब्रह्मासन ! त्वम्—

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः ॥ ६ ॥

हे प्राचीनवंश शालाद्वारवर्तिन्नग्ने !–त्वम्–

अजोऽस्येकपात् । ७ ।

पत्नीशालापश्चिमभागवर्ती पुरातनो गार्हपत्योऽग्निः प्राजहित उच्यते । हे प्राजहित !–त्वम्–

अहिरसि बुध्न्य । ८ ।

सदोऽभिमृशति । हे सदः !–त्वम्–

वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसि । १ ।

सदोद्वारशाखे अभिमृशति ।

ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम् । २ ।

हे यज्ञस्य द्वारदेशस्थापिन्यौ शाखे ! युवां प्रवेशनिः क्रमणे स्खलनादिना मां मा सन्तापयतमित्याह ॥ २ ॥

अथोत्तरैस्त्रिभिर्मन्त्रैः क्रमेणाभिमन्त्रयते सूर्यं मित्रं धिष्ण्यांश्च ।-

अध्वनामध्वपते प्र मा तिर,
स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् । १ ।

हे मार्गपाल सूर्य ! मार्गाणां मध्ये वर्तमानं मां त्वं प्रवर्द्धय ॥ तथा अस्मिन् देवयाने मार्गे मम कल्याणं भूयात्—इत्याह ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः !

"मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वम्" । २ ।

मित्राख्यस्यादित्यस्य नेत्रेण मां पश्यध्वमित्याह । यद्वा—यथा सखा सखायं हितचक्षुषा पश्यति तथा मां पश्यध्वमित्याह ॥ २ ॥

"अग्नयः सगराः, सगराः स्थ सगरेण नाम्ना,
रौद्रेणानीकेन पात मा, अग्नयः पिपृत मा,
अग्नयो गोपायत मा, नमो वोऽस्तु, मा मा हिंसिष्ट । ३ । ५ । ३४

हे सगरा अग्नयः ! यूयं स्तुतिसहितेन धिष्ण्या इति नाम्ना व्यवह्रियमाणत्वात् सगरा भवथ । हे अग्नयः ! तादृशा यूयं उग्रेण सैन्येन मां रक्षत, यद्वा रुद्रदैवत्येन मुखेन मां रक्षत । हे अग्नयः ! धनादिभिर्मां पूरयत मां रक्षत युष्मभ्यं नमोऽस्तु मां मा वधिष्ट इत्याह ॥ ३ ॥

ध्रुवायाः पुरस्तात् पृषदाज्यमाज्यं दधिमिश्रं पञ्चगृहीतम् हे आज्य ! त्वम्—

"ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित् । १ ।

बहुष्वाहुतिषूपयुक्तत्वात्सर्वरूपं सर्वेषां देवानां संदीपकं ज्योतिरसीत्याह ॥

प्रदीप्तमिध्मं प्रचरण्याभिजुहोति । जुहूरिव सोमसाधना काचित् स्रुक् प्रचरणीत्युच्यते ।

"त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य
उरु यन्तासि वरूथं स्वाहा ॥ १ ॥

हे सोम ! त्वं राक्षसेभ्योऽन्यकृतेभ्यो दौर्भाग्येभ्यश्च नियन्तासि यथा तादृशा

अस्मान् मा बाधन्ते। त्वमेव चास्माकं प्रभूतं बलमसि, तस्मै तुभ्यमिद हुतमस्तु इत्याह ॥ १ ॥

द्वितीयां जुहोति—

"जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा। २। ५। ३५

प्रीयमाणः सोम आज्यं पिबतु, तस्मै सुहुतमस्तु इत्याह ॥ २ ॥

अथ वाचयति—

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् ॥
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ॥
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो ॥
भुयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥ १ ॥ ५। ३६

हे अग्ने ! हे देव ! सर्वाणि विज्ञानानि सर्वान् मार्गान् वा जानानस्त्वमस्मान-नुष्ठातॄन् धनाय यज्ञफलाय शोभनमार्गेण प्रापय। किञ्च-अस्मत्तोऽनुष्ठातृभ्यः पापमभि-लषितक्रियाप्रतिबन्धकं पृथक्कुरु। किञ्च तव बहुतमं हविषां वचनं याज्यापुरोऽनुवा-क्यालक्षणं करवाम। यद्वा-नमस्कारविषया मुक्तिसंपादयामेत्याह ॥ १ ॥

शालामुखीय मग्निं ग्रावद्रोणकलससोमपात्राणि च सद उत्तरेण नीत्वा आग्नीध्र-मण्डपे निधाय तत्रत्यधिष्ण्यगतेऽग्नौ घृतेन जुहुयात्।

"अयं नो अग्नि र्वरिवस्कृणोतु
अयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्
अयं वाजान् जयतु वाजसोता
वयं शत्रूञ्जयतु जहृषाणः—स्वाहा। १। ५। ३७

अयमग्निरस्माकं धनं करोतु । अयमग्निः संग्रामान् विदारयन् अग्रतो यातु । अयमग्निरन्नानां समजने निमित्ते शत्रुसम्बन्धीन्यन्नानि अस्मभ्यं दातुं जयतु । अयमग्निरत्तथं हृष्यन् शत्रून् जयतु । तुभ्यं सुहुतमस्त्वित्याह ॥ १ ॥

इत्येवमाग्नीध्रीये हुत्वा, अथाहवनीये जुहोति—

"उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर– स्वाहा" । २ ।

हे विष्णो ! व्यापिन्नाहवनीय ! शत्रुषु बहुलं पराक्रमंकुरु ! किञ्च-ब्रह्मगृहनिवासाय अस्मान् बहु कुरु । हे घृतयोने अग्ने ! हूयमानमिदमाज्यं भक्षय । किञ्चयजमानमतिशयेन प्रवर्द्धय । तस्मैतुभ्यं सुहुतमस्तु- इत्याह ॥ २ ॥

दक्षिणेऽनसि कृष्णाजिनमास्तीर्य्य तस्मिन् सोमं निदधाति ।

"देव सवितरेष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन्" ॥

हे सर्व प्रेरक देव ! एष सोमस्तत्रार्पितः । तं सोमं पालय ॥ सोमस्य रक्षितारं त्वामसुरा मा विहिंसिषुः इत्याह ॥१॥

कृष्णाजिने स्थापितं बद्धं सोमं विस्रस्य उपतिष्ठते ।

२॥
"एत त्वं देव सोम देवो देवान् उपागाः
इदमहं मनुष्यान् सह रायस्पोषेण" ॥

हे सोम ! देव ! त्वं देवः सन् भवदीयान् देवान् एतदिदानीं प्राप्तोऽसि । अहं मनुष्यो यजमानो मदीयान् मनुष्यान् इदमिदानीं पश्वादिधनेन सह प्राप्तोऽस्मीत्याह ॥

हविर्धानमण्डपान्निर्गच्छति—

स्वाहा· निर् वरुणस्य पाशान् मुच्ये । ५ । ३९

स्वस्य न हानिः। यद्वा—सोमरूपमन्नं देवेभ्यो दत्तमस्तु। अहं वरुणस्य पाशान्निर्मुक्तोऽस्मीत्याह ॥

आहवनीये समिधमाधत्ते। पूर्वं यजमानोऽग्नि शरीरेण आत्मशरीरस्य कृतव्यत्ययोऽधस्तनं कर्म्मकपालं कृत्वाऽथ यथास्वशरीरं कुर्वाणो जपति—

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा,
या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि,
यो मम तनूस्त्वय्यभूदियं सामयि,
यथायथं नौ व्रतपते व्रता न्यनु मे दीक्षां
दीक्षापतिरमंस्तानु तपस्तपस्पतिः। ५। ४०

हे अग्ने! सर्वेषां व्रतानां पालकोऽसि। अतस्त्वं मदीयव्रतस्यापि पालको भव! व्रतप्रार्थनकाले तव या तनूः मयि अवस्थिता एषा तव तनूः त्वयि भवतु। या च मम तनूस्त्वय्यभूत् सो इयं मयि भवतु। हे व्रतपालक! अग्ने! आवयोः कर्म्माणि यथास्वं सन्तु—अनुष्ठानरूपं व्रतं ममास्तु। तत्पालनरूपं व्रतं तवास्तु इति ॥ किञ्च—दीक्षा पालकोऽग्निः मम दीक्षार्थं नियममङ्गीकृतवान्। तपः पालकोऽग्निः मदीयामुपसदमनुमतवान्। इत्याह ॥

इति षोडशधिष्ण्य मन्त्राः

अथ यूपसंपादनमन्त्राः ॥

यूपं छेत्तुं गमिष्यन् चतुर्गृहीतमाज्यमाहवनीये जुहोति।

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर—स्वाहा ॥ ५। ४१

ततः शेषमाज्यमादाय यूपतक्षणार्थं स तक्षा वनं गत्वा यूपमभिमृशति, प्राङ् तिष्ठन्नभिमन्त्रयते वा—

अत्यभ्यान् अगां नान्यान् उपागा,मर्वाक् त्वा
परेभ्योऽविदं, परोऽवरेभ्यः । तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते
देव यज्यायै देवास्त्वा देव यज्यायै जुषन्ताम् ॥

हे पुरोवर्ति यूपवृक्ष ! त्वत्तोऽन्यान् काँश्चिद्‌ यूप्यवृक्षानपि समप्रदेशजन्मादि-लक्षणरहितान् अतिक्रान्तवानस्मि । अन्यांश्च अयूप्यवृक्षान् नोपागाम् । किञ्च-परेभ्यो वृक्षेभ्यो दूरवर्तिभ्यो निकटं त्वां लब्धवानस्मि । निकटेभ्यः परस्तादविदम् ॥ हे वनस्पते ! हे देव ! तादृशं त्वां देवयागार्थं वयं सेवामहे । देवा अपि देवयज्यायै त्वां सेवन्तामित्याह ॥ १ ॥

पलाश—खदिर—विल्वादयो यूप्याः, निम्बजम्बीरादयस्त्वयूप्याः ॥

स्रुवेणोपस्पृशति । हे यूपवृक्ष !

"विष्णवे त्वा ।

त्वां यज्ञायोपस्पृशामीत्याह ॥

यूपवृक्षस्य कुशतरुणमन्तर्द्धानं कुर्य्यात्—

"ओषधे त्रायस्व ।

हे ओषधे ! त्वं स्वधितिभयात् मां रक्षेत्याह ॥

परशुना प्रहरति—

"स्वधिते मैनं हिंसीः ॥ ५ । ४२

हे परशो ! एनं यूपं मा वधीरित्याह ॥

पतन्तमभिमन्त्रयते । हे यूपवृक्ष ? त्वम्—

"द्यां मा लेखी, रन्तरिक्षं मा हिंसीः, पृथिव्या संभव ।

द्युलोकं मा हिंसीः । अन्तरिक्षं च मा हिंसीः । पृथिव्या सह सङ्गतो भवेत्याह ॥

शोधयति । हे छिन्नवृक्ष ?

"अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः
प्रणिनाय महते सौभगाय ॥

अतितीक्ष्णोऽयं कुठारो महते सौभाग्याय यज्ञाय वा त्वां यूपत्वं मापयति । यस्मादेवं तस्मात्त्वया छेदान्न भेतव्यमित्याह ॥

आवृश्चने जुहोति यूपे वा ।

"अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह
सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ॥ ५ ।४३

हे देव ? वनस्पते ! त्वम् अस्मात् स्थाणोः बहङ्कुरः सन् विजायस्व । वयमपि पुत्रपौत्रादिवहुशाखोपेताः प्रजायेमहि इत्याह ॥

॥ इति यूप संपादनम् ॥



❀ अथ यूपसंस्कारः ॥

औदुम्बरीवदिहापि तत्तन्मन्त्रैः क्रमेण [१] अभ्रिमादाय यूपावटं [२] परिलिख्य अप्सु [३] यवानोप्य अग्रमध्यमूलानि [६] प्रोक्ष्य अवटे [७] शेष मासिञ्च्य [८] बर्हींषि प्राञ्च्युदञ्चि च प्रास्यति—

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे नार्य्यसि । १ ।
इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि । २ ।
यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीः । ३ ।
दिवे त्वा, [१] अन्तरिक्षाय त्वा, [२] पृथिव्यै त्वा, [३] । ६ ।
शुन्धन्तां लोकाः पितृ षदनाः । ७ ।
पितृ षदन मसि" । ८ ।

यूपावटे प्रथमशकलं निक्षिपति । हे यूपशकल ! त्वम्—

अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतॄणामेतस्य
वित्तादधि त्वा स्थास्यति ॥

यूपस्य छिद्यमानस्य प्रथममपनीयमानतया प्रथमावयवभूतो भवसि । यद्वा । अवटं प्रति यूपमग्रे नयसीति । किञ्च—उन्नयन कर्तॄणामध्वर्य्यूणां सुखेनावेशयितुं शक्योऽसि । स त्वमेतस्य कर्म्मणो जानीहि । यदयं यूपः त्वदुपर्य्यवस्थानं करिष्यसीति । इत्याह ॥

❀ अत्र संहितायां षष्ठाध्याय प्रारम्भः ।

अथानक्ति यूपम् । हे यूप !

देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु ॥

सविता देवो मधुरेणाज्येन त्वा मनक्तु-इत्याह ॥

चषालमुभयोऽक्तं यूपाग्रे प्रतिमुञ्चति । हे चषाल !

सुपिप्पलाभ्य स्त्वौषधीभ्यः ।

शोभन फलयुक्ताभ्यो व्रीह्याद्योषधीभ्यस्त्वां यूपस्याग्रे प्रतिमुञ्चामीत्याह ॥

अथ यूप मुच्छ्राययति । हे यूप ! त्वम् —

द्यामग्रेणास्पृक्ष, अन्तरिक्षं मध्येनाप्राः,
पृथिवी मुपरेणादृंहीः । ६ । २

अग्रभागेन दिवं स्पृष्टवानसि । मध्यभागेनान्तरिक्षमापूरितवानसि । अधो भागे नानिष्ट प्रदेशेन भूमिंदृढीकृतवानसीत्याह ॥

अवटे यूपं मिनोति । हे यूप !

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः
परमं पदमवभारि भूरि ॥ १ ॥

यानि तव स्थानानि गन्तुं वयं कामयामहे । येषु तवस्थानेषु रश्मयो बहुदीप्तयो गन्तारः । अत्रैव महागतेर्महाजनस्तुतस्य वा विष्णोस्तदादित्य मण्डल लक्षणमुत्कृष्टं पदं बहुप्रकार मवभाति । तादृशस्थान प्राप्ति हेतुभूत कर्म्मणे अत्रावटे त्वं तिष्ठ इत्याह ॥ १ ॥

पांसुभिः पर्य्यूहति। हे यूप!

ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्य्यूहामि।

मैत्रा वरुण दण्डेन समन्तं त्रिःपर्य्यूहति।

ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह। ६। ३

यूपं स्पृष्टवन्तं यजमानं वाचयति।

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि
पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ ६। ४

हे ऋत्विजः! विष्णोर्यज्ञाधिष्ठातुः सृष्टिसंहारादिचरितानि यूयं पश्यत। यैः कर्म्मभिर्भवदीयानि लौकिकवैदिक कर्म्माणि बद्धवान। स विष्णु रिन्द्रस्य वृत्रवधादिकर्म-सुयोज्योऽनुरूपः सखा भवति इत्याह। यद्वा—यज्ञस्य वीर्य्याणि पश्यत। यैर्वीर्य्यैराधान पशु सोमादीनि कर्म्माणि आत्मनि बद्धवान्। इत्याद्याह॥

यूप कटकं चषालं नाम प्रेक्षमाणं यजमानं वाचयति—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ २॥ ६। ५

विष्णोः तत्परमं स्वरूपं विद्वांसः सदा पश्यन्ति। यदाकाशे निरावरणे चक्षुरिव व्याप्तम्। यद्वा-यदाकाशे आदित्य मण्डलं विस्तारितम्। इत्याह॥

त्रिगुणा त्रिव्यामा कौशी रशना, तया नाभिमात्रे त्रिवृत्तं परिव्ययति। हे यूप! त्वम्—

परिवीरसि परित्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां
परीमं यजमानं रायो मनुष्याणाम्॥

परितो रशनया वेष्टितोऽसि, अस्माभिः परिवारितोऽसि वा । किञ्च—देव सम्बन्धिन्यः प्रजा मरुद्गणादयः त्वां परिव्ययन्ताम् । यद्वा—पशवस्त्वां परितो वेष्टयन्तु, किञ्च—मनुष्याणां धनानि इमं यजमानं वेष्टयन्तु इत्याह ॥

"दैव्यो वा एता विशो यत्पशव"-इति श्रुतिः ॥

अष्टास्रे यूपस्य यास्रि रग्नि समीपे स्थिता साग्निष्ठा । तस्या उत्तरभागे रशनायां स्वरुनामकं शकल मवगूहति । हे स्वरो ! त्वम्—

दिवः सूनुरसि ।

द्युलोकस्य पुत्रोऽसि- इत्याह ॥ द्युलोकाद्वर्षं । ततोयूपः । ततः स्वरुरिति कृत्वा पुत्रत्वोपचारः । यूपैकादशनीपक्षे वर्षिष्ठा धूपाद्दक्षिणभागे अतष्टास्रिं द्वादशं यूपं स्थापयति न तु निखनति हे यूप !

एष ते पृथिव्यां लोक, आरण्यस्ते पशुः ६ । ६

पृथिव्यां तवै तदाश्रयस्थानम् । वने वर्तमानः पशुस्तवैवेत्याह ॥

॥ इति यूप संस्कारः ॥

अथाग्नीषोमीय पशुप्रयोगः

"पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ती" ति श्रुते यूपे पशुसंवन्धो ज्ञायते ॥ पशूपस्पर्शनाय तृणमादत्ते । हे तृण विशेष ! त्वम्—

उपावी रसि ।

पशोर्द्वितीयः सखासीत्याह ॥

अथ तेन पुरस्तात् प्रत्यञ्चं स्थितं पशुमुपस्पृशति ॥

उप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥ ६ । ७
रेवती रमध्वं, बृहस्पते धारया वसूनि ॥

पशवो मेधाविनो हवींषि कामयमानान् वा स्वर्गप्रतिमापयतां देवानां मध्ये श्रेष्ठतमान् देवानग्नीषोमादीन् उपगच्छन्तु ॥ हे देव ! हे त्वष्टः ! त्वं पशुलक्षणं धनं रमय ॥ हे पशो ! तव हवींषि स्वादूनि भवन्तुः हवींषि देवा आस्वादयन्तु वा । हे रेवन्तः ! क्षीरादिधनवन्तः ! पशवः ! यूपं यजमानगृहे संक्रीडध्वम् ॥ हे बृहस्पते ! हे ब्रह्मन् ! पशुलक्षणानि वसूनि निश्चलीकुरु । इत्याह ॥ "दैव्यो वा एता विशो यत्पशवः" इतिश्रुतिः । "रेवन्तोहि पशव" इति श्रुतिः । "ब्रह्मवै बृहस्पतिः पशवो वसु" इति श्रुतिः ३ । ७ । ३ । १३ ॥

व्यामद्वयपरिमितया कौश्या द्विगुणरशनया नागपाशं कृत्वा शृङ्गयोरन्तराले ऽभिदक्षिणशृङ्गं पशुं बध्नाति ।

ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि-
धर्षा मानुषः ॥ ६ ॥

हे देवहविः ! पशो ! सत्यस्य यज्ञस्य पाशेन त्वां बध्नामि । शमिता मानुषः शमयितुं शक्नोतु पाशेन बद्धत्वादित्याह ॥

यूपे पशुं बध्नाति । हे पशो !

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां-

पूष्णो हस्ताभ्याम् । अग्निषोमाभ्यां
जुष्टं नियुनज्मि ॥

पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षति । हे पशो !

अद्भ्य स्त्वौषधीभ्योऽनुत्वा माता मन्यता
मनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः ।
अग्निषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । ६ । ६ ।

अग्नी षोमाभ्यां प्रीतं त्वां अद्भिरोषधीभिश्च मेध्यं करोमि । किञ्च—हे पशो ! एवं प्रोक्षितं त्वां भूमिर्माता द्यौः पिता, सोदरो भ्राता, समानयूथवर्त्ती सखा चानुजानातित्वित्याह ॥

त्वमातृभक्षिताभ्यां तृणोदकाभ्यां पशोरुत्पत्तेस्तेनोभयेन प्रोक्षणं युक्तम् । तदाह—तित्तिरिः "अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामीत्याह अद्भ्यो ह्येष ओषधीभ्यः संभवति"इति॥

पशोर्मुखे प्रोक्षणी धारयति । हे पशो ! त्वम्—

अपां पेरुरसि ।

उदकानां पानशीलो भवसि तत इदं पिबेत्याह ।

पशो रधो भागे हृदि प्रोक्षति । हे पशो !

आपो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देव हविः ।

आपो देव्यस्त्वा मास्वादयन्तु । यतो देवानां हविः पशु लक्षण मास्वादितं सत् देवयोग्यं भुयात् । इत्याह ॥

इत्थं प्रोक्षण त्रयेण पशोः सर्वाङ्गम् मेध्यं करोतीत्याह तित्तिरिः । "उपरिष्टात् प्रोक्षति उपरिष्टादेवैनं मेध्यं करोति । पाययति-अन्तरत एवैनं मेध्यं करोति । अधस्ता दुपोक्षति सर्वमेवैनं मेध्यं करोतीति" ॥

उत्तराधार होमानन्तरं ध्रुवासञ्जनादग्रगेव भाले[1] अंसयोः[2] श्रोण्योश्च जुह्वेव पशुं समनक्ति प्रतिमन्त्र क्रमेण । हेपशो !

सं ते प्राणो वातेन गच्छताम् १
समङ्गानि यजत्रैः २
सं यज्ञपति राशिषा ३ । ६ । १०

तव प्राणो बाह्येन वातेन सङ्गच्छताम्, इति भालाञ्जन माह[1] । तवाङ्गानि अंसादीनि यागैः सङ्गच्छ तामिति—अंसाञ्जन माह[2] । यजमानो यज्ञफलेन सङ्गच्छता मिति श्रोण्यञ्जन माह[3] ॥

विशसित्रा दत्तं शासं गृहीत्वा स्वयमेव यूपात् स्वरुमादाय तावसिस्वरू जुह्वग्रे घृतेनाक्त्वा ताभ्यामसिस्वरुभ्यां पशोर्ललाट मुपस्पृशति । हे स्वरुशासौ ! युवाम्—

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाम् ॥

घृतेनाक्तौ सन्तौ एतं पशुं पालयेथाम् इत्याह ॥

यजमानं वाचयति ।

रेवती यजमाने प्रियं धा, आविश,
उरोरन्तरिक्षात् सजूर्देवेन वातेनास्य हविषम्
त्मना यज, समस्य तन्वा भव ।

हे रेवति ! धनवति ! वाग्देवते ! अस्मिन् यजमाने अभिप्रेतंधेहि । ज्ञान प्रदानेन यजमानं प्रविश । किञ्च—वातेन देवेन समान प्रीतिर्भूत्वा विस्तीर्णादन्तरिक्षाद् यजमानं गोपाय । किञ्च अस्य पशुलक्षणस्य हविष आत्मना यज । किञ्चास्य पशोः शरीरेण संभव । इत्याह ॥

हस्तस्थ तृणद्वयमध्ये एकं तृणं शामित्रस्य पश्चात् प्रागग्रं मुपास्यति । येन विश-सनीयस्य पशो भूमिस्पर्शो मा भूत् ।

वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः ।

हे वर्ष प्रसव ! तृण ! त्वं विस्तीर्णतरे यज्ञे यजमानं धेहीत्याह ॥

अथ जुहोति—

स्वाहा देवेभ्यः । देवेभ्यः स्वाहा ६ । ११ ।

पुरस्तात् स्वाहा कृतयोऽन्ये देवाः-उपरिष्टात् स्वाहाकृतयोऽन्ये, स्वाहादेवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति तित्तिरिः ॥

वपाश्रपणीभ्यां काष्ठविशेषाभ्यां नियोजनीं नाम पशुबन्ध नरज्जुं द्विगुणां चात्वाले प्रास्यति । हे रज्जो ! त्वम्—

माहि भूर्मा पृदाकुः ।

सर्पाकारा मा भूयाः, तथा-अजगराकारापि माभूरित्याह ॥ पान्नेजनहस्तां—(पादाद्यङ्ग प्रक्षालनार्थं जलकलशयुक्त हस्तां) पत्नीं गार्हपत्य समीपात् पशुशोधनाय नयन प्रतिप्रस्थाता तां वाचयति—

नमस्त आतानानर्वा प्रेहि
घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु । ६ । १२ ।

हे आतान ! यज्ञ ! तुभ्यं नमोऽस्तु । त्वं शत्रु रहितः सन् समाप्ति पर्य्यन्तं प्रकर्षेण गच्छ । किञ्च यज्ञस्य पथि भवाः घृतनदीरनुलक्ष्य उपप्रेहीत्याह ॥

"यज्ञो वा आतानो यज्ञं हि तन्वते" इति श्रुतिः ३ । ८ । २ । २ ।

"अनर्वा प्रेहीत्य सपत्नेन प्रेहीति" श्रुतिः । अनर्वा प्रेहीत्याह

"भ्रातृव्यो वा अर्वा, भ्रातृव्यापनुत्त्यै" इति—तित्तिरिः। अत्र घृतकुल्याग्रहणं सान्नाय्य पृषदाज्य कुल्योपलक्षणार्थम् ॥

एवं यज्ञं स्तुत्वा अपः स्तौति—

देवीरापः शुद्धा वोढ्वं सुपरिविष्टादेवेषु।
सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म ६।१३।

हे आपो देव्यः! स्वभावतः शुद्धाः, पान्नेजनीपात्रे च साधुसर्वतो निविष्टा यूयमेनं पशुं देवान् प्रति प्रापयत। किञ्च—वयमपि देवेषु मध्येऽवस्थितास्तैरेव देवैस्तर्पिताः सन्तस्तेषामेव देवानां परिवेषण कर्तारो भूयास्म इत्याशीराह॥

पत्नी पशुसमीप उपविश्य मृतस्य पशोर्मुखं[१] नासिके[२] चक्षुषी[३] कर्णौ[४] नाभिं[५] मेढ्रं[६] पायुं[७] पादान्[८] इत्यष्टौ प्राणायतनानि शोधयितुं प्रतिमन्त्रक्रमेणाद्भिः स्पृशति। यथा—हे पशो!

वाचं ते शुन्धामि १ प्राणं ते शुन्धामि २
चक्षुस्ते शुन्धामि ३ श्रोत्रं ते शुन्धामि ३
नाभिंते शुन्धामि ५ ढ्रमें ते शुन्धामि ६
पायुं ते शुन्धामि ७ चरित्रांस्ते शुन्धामि ८।६।१४।

ततः पान्नेजनशेषेण यजमानोऽध्वर्युश्च पशोः शिरो मुखं[१] नासिके[२] चक्षुषी[३] कर्णौ[४] [५] चानुषिञ्चतः। हे पशो!

मनस्त आप्यायताम्[१] वाक् त आप्यायताम्[२]
प्राणस्त आप्यायताम्[३] चक्षुस्त आप्यायताम्[४]
श्रोत्रं त आप्यायताम्[५]॥

अथ—सर्वाण्यङ्गान्यविशिष्टानि[६]। हे पशो !

यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायताम्

निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु[६]।

ततः पशोः पश्चाज्जघनदेशे निषिञ्चतः[७]।

शमहोभ्यः[७]।

दिवसादिकालविशेषेभ्यः सुखमस्माकं पशोर्वा भूयादित्याह ॥ ७ ॥

उत्तानं पशुं कृत्वा नाभेरग्रेऽङ्गुलचतुष्टये तृणं निदधाति ।

ओषधे त्रायस्व ।

अथ प्रज्ञातया कृतचिह्नया घृताक्तयाऽसिधारया तृणोपरिघृतया तूष्णीं सतृणामुदर त्वचं छिनत्ति ।

स्वधिते मैनं हिंसीः ॥

यत्तृणं नाभ्यग्रे स्थापितं तस्य छिन्नस्य तृणस्याग्रं वामहस्तेन धृत्वा दक्षिणहस्तेन मूलं धृत्वा तद्द् द्विगुणी कृत्य अग्रे मूले च पशुच्छेदननिष्पन्नेन लोहितेनाञ्ज्यात् । हे लोहिताक्त तृण ! त्वम्—

रक्षसां भागोऽसि । १ ।

ततस्तल्लोहिताक्तं तृणमुत्करेऽपास्यति ।

निरस्तं रक्षः । २ ।

तत उत्करे क्षिप्तं रुधिराक्तं तत्तृणं यजमानोऽभितिष्ठति ।

इदमहं रक्षोऽभितिष्ठामि
इदमहं रक्षोऽवबाधे
इदमहं रक्षोऽधमं तमो नयामि । ३ ।

अहं यजमान इदं तृणरूपमध्वर्युणा निरस्तं रक्षोऽभितः पादेनोत्क्रम्य तिष्ठामि । तथाचाहमिदं रक्षोऽवाचीनं यथा भवति तथा नाशयामि । किञ्च–अहमिदं रक्षोऽत्यन्तनिकृष्टं नरकं प्रापयामीत्याह ॥ ३ ॥

अथ पशूदराद्वपामुत्खिद्य तया वपाश्रपण्यौ प्रोर्णौति वपाश्रपण्यो द्यावा पृथिव्या वध्यस्ते उच्येते—

घृतेन द्यावा पृथिवी प्रोर्णुवाथाम् । ४ ।

हे द्यावापृथिवी ! युवामुदकेनात्मानमाच्छादयेथाम् । इत्याह ॥ ४ ॥

वामहस्तेधृतं तृणाग्रमाहवनीयेऽध्वर्युः क्षिपति ।

वायो वेः स्तोकानाम् । ५ ।

हे वायो ! त्वं वपा सम्बन्धिनां विप्रुषां जानीहि । तेऽत्र तिष्ठन्तीति ज्ञात्वा पिवेत्याह ॥ ५ ॥

वपां स्रुवेणा भिघारयति ।

अग्नि राज्यस्य वेतु स्वाहा । ६ ।

आहवनीय आज्यं पिवतु सुहुतमस्तु इत्याह ॥ ६ ॥

वपां हुत्वा उत्तरत उपविश्य वपाश्रपण्यावाहवनीये एव क्षिपति । तत्र विशाखामग्रां क्षिपति (विशाखा द्विशृङ्गा) एकशृङ्गां तु प्रत्यगग्राम् ।

स्वाहा कृते ऊर्ध्वनभसं मारुत गच्छतम् ।

स्वाहाकारेणाहुतिभावमुपगते सत्यौ युवां नभोमध्ये वर्तमानं वायुं प्राप्नुता-मित्याह ॥ वायुर्हि प्रतिष्ठा यज्ञस्य ॥

अथ सर्वे ऋत्विजः चात्वालसमीपे अद्भिरात्मनमभ्युक्षन्ति ।

इदमापः प्रवहतामद्यं च मलं च यत्
तच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु । ६ । १७ ।

हे आपः ? इदं पशुसंज्ञपननिमितं पापं प्रवहत । यच्चावदनीयमभिशापादि यच्चमलं शरीरे तदप्यपनयत किञ्च—यदहमसत्यमुक्त्वा द्रुग्धवानस्मि, यच्चाहमनपराधित्वान्निर्भयं शपितवानस्मि । हे आपः ! तस्मात् सर्वस्मादेव पापाद् मां पृथक् कुर्वन्तु । पावमानश्च सोमो वायुर्वा तस्मात् पापात् मां मुञ्चतु । इत्याह ॥

अथ जुहूस्थेन पृषदाज्येन पूर्वं हृदयमभिघार्य्य तूष्णीं सर्वं पशुमभिघारयेत् । हे हृदय !

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् । १ ।

तव पशोर्मनः पृषदाज्येनाभिघारितं सद्देवानां मनसा संगच्छताम् । तव प्राणो-ऽप्यभिघारितो देवानां प्राणेन सङ्गतोऽस्तु—इत्याह ॥ १ ॥

मांसपाकभाण्डे स्थितः स्नेहात्मको द्रवविशेषो वसा । तां गृह्णीयात् । हेवसे ? त्वम्—

रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापसत्वा समरिणन्
वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत् ॥

हिंसि तेवाभासि । अग्निः त्वां पाचयतु, आहवनीयो वा त्वां स्वीकरोतु । आपः त्वां समभरन्नपुष्णन्, । आपो हि पच्यमानेभ्यः पश्वङ्गेभ्यो वसां नाम रसमुत्पादयन्ति ।

यद्वा—आपः त्वां सम्यक् प्राप्नुवन्तु । यथा ते शोषो नस्यात् । तथाविधां त्वां वाय्वादित्ययोरप्रतिहतगमनसिद्ध्यर्थं गृह्णामि । किञ्च-इयं वसा ब्रह्मोष्मणोऽन्तरिक्षस्य तृप्तिं कृत्वातिरिक्ता भवत्वित्याह ॥

इत्थं वसां द्विरभिघार्य्य पार्श्वेनासिना वा आज्यं वसां च मिश्रयति ।

प्रयुतं द्वेषः । ६ । १८

घृतमिश्रणेन वसायाः सकाशात् दौर्भाग्यं पृथग्भूतमित्याह ॥

वासाहोमहवन्या वसाया एकदेशं जुहोति ।

घृतं घृतपावानः पिवत, वसां वसापावानः पिवत,
अन्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा ॥

हे घृतस्य पातारो देवाः ! यूयं घृतं पिवत । हे वसायाः पातारो देवाः । यूयं वसां पिवत । हे वसे ! त्वमन्तरिक्षस्य हविरसि । सुहुतमस्तु—इत्याह ॥

वसा शेषेण वाजिनवद् दिशो व्याधारयति प्रदक्षिणम्—

दिशः । प्रदिशः । आदिशः ।
विदिशः । उद्दिशः । दिग्भ्यः—स्वाहा ॥ ६ । १९

दिग्भ्यः स्वाहा[१] । प्रदिग्भ्यः स्वाहा[२] । आदिग्भ्यः स्वाहा[३] । वि दिग्भ्यः स्वाहा[४] । उद्दिग्भ्यः स्वाहा[५] । सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सुहुतमस्तु—इत्याह ॥

अथ पशुरूपं हविः संमृशति ।

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत्
ऐन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः ॥ १ ॥

देव त्वष्टर्भूरि ते सं समेतु
सलक्ष्मा यद् विषुरूपं भवाति—
देवत्रा यन्तमवसे सखायो
ऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ २ ॥

इन्द्र आत्मा, तत्सम्बन्धी प्राणवायुरस्य पशोः सर्वेष्वङ्गेषु निहितः । तथा इन्द्र सम्बन्धी उदानवायुः पशोः सर्वेष्वङ्गेषु निक्षिप्तः ॥ १ ॥ हे त्वष्टः देव ! यत् पश्वङ्ग जातं समानलक्षणं सत् छेदनेन नानारूपं भवति तत्सर्वं तवानुग्रहेण बहुलमत्यन्तं सम्यगेकीभवतु ॥ हे पशो ! एवं प्राणैः स्वाङ्गैश्च दृढीकृतं देवान् प्रति गच्छन्तं त्वां प्रीणयितुं मित्रभूता इतरे पशवो माता पितरश्च अभ्यनुजानन्तु—इत्याह ॥

अनुयाजेषु हूयमानेषु प्रतिप्रस्थाता पूर्वं स्थापितं गुदतृतीयभागमेकादशधा तिर्य्यक् प्रच्छिद्य प्रतिमन्त्रं जुहोति—

"समुद्रं गच्छ स्वाहा ।१। अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा ।२। देवं सवितारं गच्छ स्वाहा ।३। मित्रा वरुणौ गच्छ स्वाहा ।४। अहोरात्रे गच्छ स्वाहा ।५। छन्दांसि गच्छ स्वाहा ।६। द्यावा पृथिवी गच्छ स्वाहा ।७। यज्ञं गच्छ स्वाहा ।८। सोमं गच्छ स्वाहा ।९। दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा ।१०। अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा । ११ ।

इत्थं प्रतिवषट्कारमेकैकं गुदकाण्डं हुत्वा सर्वान्ते मुखम् स्पृशति । हे समुद्रादि देवता समूह !

"मनो मे हार्दि यच्छ ।"

हृदयसम्बन्धि मनो मे निबध्नीहि । निबद्धं मनो हि स्वादायतनान्न च्यवते इत्याह ॥

अनुयाजान्ते स्वरुं जुहोति । हे स्वरो !

"दिवं ते धूमो गच्छतु, स्वर्ज्योतिः,
पृथिवीं भस्मना पृण स्वाहा,, ॥ ६ । २१

तव धूमो द्युलोकं गच्छतु वृष्ट्यै । तव ज्वाला आदित्यं गच्छतु । भस्मना पृथ्वीं समन्तात् पूरय । सुहुतमस्तु इत्याह ॥

जले प्रविश्य आलब्धस्य पशोर्हृदयस्थं मांसं यस्मिन् श्रितं तं हृदयशूलं शुष्कार्द्रभूम्योः सन्धौ भूमावधोमुखं क्षिपेत् । हे हृदयशूल ! त्वम्

"मापो मौषधीर्हिंसीः ।"

जलान्योषधीश्च मा हिंसीरित्याह ॥

अथ सर्वे ऋत्विग्यजमाना जलं स्पृशन्ति ।

"धाम्नो धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च ॥
यदा हुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ॥१॥
"सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु
दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः । २ । ५ । २२

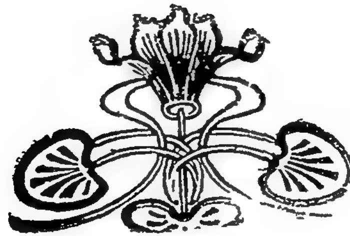
हे राजन् ! वरुण ! यस्माद् यस्मात् त्वदीयपाशसमन्वितात् स्थानात् वयं बिभीमः, तस्मात्तस्मात् स्थानात् अस्मान् मोचय । हे वरुण ! अघ्न्याः पूजनीयाः इति यदाहुः, तदिति हिंस्मः । हे वरुण ! तस्मादवध्याघजातादेनसोऽस्मान् मोचय ॥ १ ॥

आप ओषधयश्चास्माकं साधुमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु । अथ यः शत्रुरस्मान्

द्वेष्टि, वयं च यं शत्रुं द्विष्मः, तस्मै चोभयविधाय शत्रवे आप ओषधयश्चामित्रत्वेना वस्थिताः सन्तु इत्याह ॥ २ ॥

केचित्तु धाम्नो धाम्ना इति मन्त्रं शूलोपगूहनमन्त्रशेषभूतम् सुमित्रिया इति मन्त्रं तु अपामभिमन्त्रणमाचक्षते इत्यलम् ॥

॥ इत्यग्नीषोमीयपशुयागप्रकरणम् ॥



॥अथ सोमाभिषवोपयुक्तानां वसतीवरीसंज्ञानामपांग्रहणम् ॥



अग्नीषोमीयस्य पशोर्वपामार्जनपर्यन्ते कर्म्मणि कृते यजमानस्तज्ज्ञो रविस्यन्दा वहन्तीनामपामेकदेशाद् वसतीवरीसंज्ञानां सोमार्थानामपां ग्रहणं कार्य्यम्। यदि रवि रस्तंगतो यजमानश्च पुरा ईजानः सोमयाजी तदा गृहे एव मणिकाद्वसतीवरीग्रहणम्। यदि तु यजमानः पुरानीजानः तर्हि समीपस्थितस्य यष्टुर्मणिकाद्ग्राह्यम्। उभयाभावे तु उल्कां कनकं वा वहन्तीनामपां समीपे धारयन् वहन्तीभ्य एव वसतीवरीर्गृह्णीयात्—

'हविष्मतीरिमा आपो हविष्मान् आविवासति ॥
हविष्मान् देवो अध्वरो हविष्मान् अस्तु सुर्य्यः ॥ १॥ ६। २३

हविषा संयुक्तो यजमानो हविषा संयुक्ता इमा अपो वसतीवरीः परिचरति। ततो द्योतमानो यागोऽपि स्वशरीरनिष्पत्तये आभिरद्भिर्हविष्मानस्तु। तथा सूर्य्यदेवोऽपि यजमानस्य फलदानाय तृप्त्यर्थं च हविः संपन्नो भवतु इत्याह ॥ १ ॥

"यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत तस्य रसो द्रुत्वाऽपः प्रविवेश" ३।९।२।१। इति श्रुतेरपां हविष्मत्वम्। "एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति" ३।६।२ १२। इति श्रुतेः वसतीवरीभिः सूर्य्यस्य हविष्मत्वम् ॥

नूतनगार्हपत्यात् पश्चिमभागे ता वसतीवरीरासादयति। हे आपः!

"अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामि ॥ १ ॥

अविनश्वरगृहस्याग्नेः शालाद्वार्य्यस्य निकटस्थाने युष्मान् स्थापयामीत्याह॥ १॥

शालाद्वार्य्य समीपस्था वसतीवरीरादाय शालादक्षिणद्वारेण नीत्वा उत्तरवेर्देद्क्षिणश्रोणौ निदधाति। हे वसतीवर्य्यः! यूयम्—

"इन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ। १।

इन्द्राग्निदेवतयोर्भागरूपा भवथ इत्याह ॥ २॥

उत्तरवेदेरुत्तरश्रोणौ वसतीवरीर्निदधाति। हे वसतीवर्य्यः! यूयम्

"मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ ॥ ३ ॥

अथोत्तर वेदिश्रोणेः सकाशाद्वसतीवरीरादायाग्नीध्रीयस्य पश्चान्निदधाति। हे वसतीवर्य्यः! यू-यम्—

'विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ ॥ ४॥

अथाभिनयेन दर्शयन् मन्त्रयति।

"अमूर्य्या उप सूर्य्ये, याभिर्वा सूर्य्यः सह।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ ५ ॥। ८। २४

या अमूर्वसतीवर्य्यः सूर्य्यसमीपे स्थिताः। याभिश्चाद्भिः सह सूर्य्यो याति। ता आपोऽस्माकं यज्ञं तर्पयन्तु इत्याह ॥ ५॥

आज्यासादनपर्य्यन्तं कर्म कृत्वा सोममादाय हविर्धाने गत्वा सोमं विस्रस्य तदर्द्धं दक्षिणशकटेषान्तरालेन संमुखेष्वभिषवार्थपाषाणेषु निदधाति। हे सोम!

"हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्य्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा ययच्छ। १। ६। २५

निश्चयात्मिकायै बुद्धै च संकल्पविकल्पात्मकाय मनसे द्युलोकप्राप्तये सूर्य्यमुखेभ्यो देवेभ्यस्तत्तृप्तये च त्वामुपावहरामि। यद्वा हृदयवद्भ्यो मनुषेभ्यो मनस्विभ्यः पितृभ्यो द्युलोकवासिभ्यो देवेभ्यो विशेषतः सूर्य्याय च त्वामुपावहरामि॥ एव मुपावहृतोऽभिषुतश्च त्वमिमं मदीयं यज्ञमुत्कृष्टं कृत्वा द्युलोकवर्तमानेषु देवेषु वषट्कारवादिनः सप्त होतृकान् निवध्नीहीत्याह॥ १॥

"स वा अध्वर्य्युः सोममुपावहरन सर्वाभ्यो देवताभ्य उपावहरेदिति हृदे त्वेत्याह, मनुष्येभ्य एवैतेन करोति। मनसे त्वेत्याह पितृभ्य एवैतेन करोति। दिवे त्वा सूर्य्याय त्वेत्याह देवेभ्य एवैतेन करोति। एतावतीर्वै देवतास्ताभ्य एवैनं सर्वाभ्य उपावहरति" इतितित्तिरिः॥

"सोम राजन् विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोह।२।
विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु॥ ३॥

हे सोम! राजन! सर्वाः प्रजा अधितिष्ठ। इत्याह। २।

ततो ग्रावसु स्थापितं सोमं विसृज्योपतिष्ठते। हे सोम! सर्वाः प्रजाः त्वां प्रत्युत्थानाभिवादनादिभिः प्राप्नुवन्तु इत्याह॥ ३॥

"अभूदुषा रुशत्पशुरिति मन्त्रे होत्रा शस्यमाने चतुर्गृहीतमाज्यं प्रचरणीसंज्ञया स्रुचा अध्वर्य्युरतिप्रणीते—जुहोति।

"शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे
शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः।
श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञं
शृणोतु देवः सविता हवं मे–स्वाहा ६।२६

अग्निः समित्पूर्विकया आहुत्या ममाह्वानं शृणोतु। आपः शृण्वन्तु। वाचो देव्यः

शृण्वन्तु । हे ग्रावाणः ! अभिषवार्थमिहोपस्थिता यूयं यज्ञं शृण्वन्तो विद्वांस इव ममाह्वानं शृणुत । सविता देवो ममाह्वानं शृणोतु । सुहुतमस्तु—इत्याह ॥

यच्चतुर्गृहीतमाज्यं सहनीतं तज्जले गत्वा जुहोति ।

देवीरापो अपांनपाद् यो व ऊर्मिर्हविष्य
इन्द्रियावान् मदिन्तमः ।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो-
येषां भागस्थ स्वाहा । ६ । २७ ।

हे आपो देव्यः ! युष्माकमपत्यरूपो यो ऽयमूर्मिः हविष्य इन्द्रियवीर्य्यवृद्धिकारी तर्पयितृतमश्च तं देवान् प्रति यायिनं शुक्रादिसोमग्रहपातृभ्यः । दीप्तसोमपातृभ्यो वा देवेभ्यः प्रयच्छत । येषां देवानां यूयं भागरूपा भवथ। इदमाज्यं युष्मभ्यं हुतमस्तु-इत्याह ॥

ग्रहीष्यमाणानामपां मूल्यभूतयमाहुतिरित्याह तित्तिरिः ।

"देवीरापो अपांनपादित्याह आहुत्या वै निष्क्रीय गृह्णातीति" ॥

अप्सु हुतमाज्यं मैत्रावरुणचमसेन दूरीकरोति हे आज्य ! त्वम्—

कार्षिरसि ।

आकृष्टोऽसि देवतया भक्षितोऽसीत्याह । यद्वा अन्तर्गतशमलापनेतासि इत्याह ॥

अथ-मैत्रावरुणचमसेन तडागादिस्था अपो गृह्णाति । हे जल !

"समुद्रस्य त्वा क्षित्या उन्नयामि ।

आपो वै समुद्र इति श्रुतेः" ३ । ६ । ३ ।२७। वसतीवरीलक्षणस्य समुद्रस्य अक्षीणत्वाय त्वां गृह्णामि इत्याह ॥

जलाशयात् प्रत्यागत्य चात्वालोपरि मैत्रावरुणचमसस्था अपो वसतीवरीभिः संयोजयति—

"समापोऽअद्भिरग्मत, समोषधीभिरोषधीः ६ । २८ ।

मैत्रावरुणचमसस्था आपो वसतीवरीभिरद्भिः संगच्छन्ताम् । मुद्गमसूरादिका ओषधयो व्रीहियवादिभिरोषधीभिः संगच्छन्ताम् इत्याह ॥

अग्निष्टोमसंस्थे क्रतौ प्रचरणीपात्रलिप्तमाज्यशेषं जुहुयात् शेषाज्यस्य होमपर्य्याप्त्यभावे चतुर्गृहीतमादाय जुहोति—

"यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥१ ॥ ६ । २९ ।

हे अग्ने ! संग्रामेषु यं मनुष्यं रक्षसि । तथा हविर्लक्षणान्ननिमित्तं यं पुरुषं गच्छसि । स मर्त्यस्त्वदनुग्रहेण नित्यान्यन्नानि धनरूपाणि प्राप्स्यति । सुहुतमस्तु इत्याह॥१॥

"उक्थसंस्थे त्वनेन यमग्ने" इति मन्त्रेण आग्रं परिधिं स्पृशति । षोडशिसंस्थे ररार्टीं स्पृशति । अतिरात्रे छदिः स्पृशति । अन्यसंस्थासु हविर्धानं प्रविशति ॥

सोमाभिषवहेतुमश्मानं गृहीत्वा हिङ्कारात् प्राक् मौनी स्यात् । सोऽश्मा उपांशुसवनसंज्ञः । तेन हि उपांशुग्रहाय सोमः सूयते ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या-
पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आददे रावासि गभीरमिममध्वरं—
कृधीन्द्राय सुषूतमम् ।
उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तम् ॥

हे अभिषवसाधन ! पाषाण ! त्वमाहुतीनां दक्षिणानां च दाता भवसि । तत इमं मदीयं यागं गम्भीरं कुरु । उत्कृष्टेन वज्रसदृशेन त्वया अहं सोममिन्द्रार्थमभिषुततमं रसवन्तं मधुस्वादेन रसेनोपेत पयः स्वादुना च रसेनोपेतं सोमं कारोमीत्याह ॥

अभिषोतव्यस्य सोमस्य सेवनीया आपो निग्राभ्या उच्यन्ते । तासु गृह्यमाणासु वाचयेत् । यजमानश्च स्वोरसि निग्राभ्या निगृह्य ब्रूते । हे आपः ! यूयम्—

"निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा । ६ । ३०
मनो मे तर्पयत, वाचं मे तर्पयत,
प्राणं मे तर्पयत, चक्षुर्मे तर्पयत,
श्रोत्रं मे तर्पयत, आत्मानं मे तर्पयत,
प्रजां मे तर्पयत, पशून्मे तर्पयत,
गणान् मे तर्पयत, गणा मे मा वितृषन् ६ । ३१ ।

अस्माभिर्नितरां ग्रहीतव्या भवथ । यस्मादिन्द्रेणोरसि यूयं गृहीतास्ततो निग्राभ्याः देवेषु प्रख्याता यूयं मां प्रीणयत । तथा मम मनो वाचं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं तर्पयत । तथा मम शरीरं पुत्रादिसंपत्तिं गवादीन पशून् . मनुष्यसंघांश्च तर्पयत । मदीया मनुष्य-संघा मया द्रव्यदानेन पूरिता अपि सन्तो विगततृष्णा मा भवन्तु, किन्तु ते मामपेक्षन्ता मित्याह ॥

अथ तमुपांशुसवनमश्मानमधिषवणचर्मणि निधाय तदुपरि पञ्चमन्त्रैः पञ्चवार-मभिषोतव्यसोममुष्टिं प्रक्षिपति । हे सोम !

"इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते । १ ।
इन्द्राय त्वा ऽऽदित्यवते । २ ।
इन्द्राय त्वा भिमातिघ्ने । ३ ।
श्येनाय त्वा सोमभृते । ४ ।
अग्नये त्वा रायस्पोषदे । ५ ।

वसुसंज्ञक प्रातः सवनदेवतायुक्ताय रुद्रनामक माध्यान्दिन सवन देवतायुक्ताय इन्द्राय त्वां मिमे।१। हे सोम! आदित्याख्य तृतीयसवनदेवतायुक्ताय इन्द्राय त्वां मिमे।२। हे सोम! शत्रुहन्त्रे इन्द्राय।३। सोमाहरणकर्त्र्यै श्येनपक्षिरूपायै गायत्र्यै।४। धनपुष्टिदात्रे अग्नये त्वां मिमे॥ ५॥

उपांशुसवने पंचवारं प्रक्षिप्त सोममालम्भते।

"यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत् पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः।१। ६।३३

हे सोम! द्युलोके तव यत्तेजः, तथा विस्तीर्णे अन्तरिक्षे यत्तेजः, तेन तन्वाख्येय ज्योतिषा अस्य यजमानस्य यज्ञे ऋत्विजां दक्षिणाप्राप्तये विस्तीर्णं स्वशरीरं कुरु। किञ्च दात्रे यजमानाय कृत्स्नशरीरोऽहमागत इत्यधिकं ब्रूहीत्याह॥ यद्वा—हे सोम! त्रिलोकेषु यत्त्वदीयं ज्योतिरस्ति। तेनज्योतिषा अस्मै यजमानाय धनेन समृद्धं विस्तीर्णं स्थानं कुरु। तथा फलदाय इन्द्राय अधिकोऽयं यजमानो भवत्विति ब्रूहीत्याह॥

सोमस्योपरि होतृचमसेनैव निग्राभ्या आसिञ्चति, हे आपः! यूयम्—

"श्वात्राः स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ता अमृतस्य पत्नीः।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत।६।३४।

क्षिप्रकारिण्यः शिवा वा वृत्रासुरघातिन्यो धनदात्र्यः सोमस्य पालयित्र्यश्च भवथ। हे देव्यः! तथा विधा यूयमिमं यज्ञं देवान् प्रतिप्रापयत। तथा यूयमनुज्ञाताः सत्यः सोमं पिबतेत्याह॥

उपांशुसवनेनाश्मना सोमे प्रहरति। हे सोम! त्वम्—

मा भेर्मा संविक्था, ऊर्जं धत्स्व, धिषणे
वीड्वी सती वीडयेथा मूर्जं दधाथाम् ।
पाप्मा हतो न सोमः ॥ ६ । ३५ ।

मा भैषीः । कम्पनं च मा कुथाः । यतो देवतर्पणायाहं त्वामभिषुणोमि अतो रसं धेहि । हे धिषणे ! द्यावापृथिव्यौ ! युवाम् दृढे मत्यावात्मानं दृढं कुरुतम् । तथा अस्मिन् सोमे रसं धत्तम् । अनेन तु वज्रसंस्तुतेन ग्राव्णा यजमानस्य पाप्मा हतो नतु सोमः इत्याह ॥

प्रतिप्रहारवर्गं होतृचमसमध्ये स्वल्पान् सोमांशून्निधाय यजमानं निग्राभं वाचयति । सोमो दिग्भिर्मिथुनमैच्छत । तच्च देवाः समपादयन्त । तदेतदर्थबोधक मृग्द्वयं निग्राम मित्युच्यते । यथा—

प्रागपागुदगधराक् सर्वतस्त्वा दिश आधावन्तु,
अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् । १ । ६ । ३६ ॥
त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः । २ । ६ । ३७॥

हे सोम पूर्वाः, पश्चिमाः, उत्तराः, दक्षिणाः इत्येताः सर्वादिशः सर्वतः स्वस्वप्रदेशान् त्वामभिगच्छन्तु "हे मातः ! स्वैर्भागैः सोमं पूरय । प्रजाः संविदताम्"—इत्येवं मिथो भाषमाणा दिश आगच्छन्तु ॥ १ ॥

हे बलिष्ठ ! इन्द्र ! देवस्त्वं मनुष्यं यजमानं प्रशंससि । किञ्च हे धनवन् ! इन्द्र ! त्वदन्यः सुखयिता न विद्यते । अतः हे इन्द्र ! तुभ्यमिदं वचनं ब्रवीमीत्याह ॥ २ ॥

॥ ❀ ॥ इति वसतीवरीणामपांसंग्रहणम् ॥ ❀ ॥

(अत्र शतपथ ब्राह्मणस्य तृतीयकाण्ड पूर्तिः ।)

॥ ❀ ॥ अथातो ग्रहसुत्यायाग उच्यते ॥ ❀ ॥



सुत्या सवः। अग्नि संयोगेन वायोर्दाहः सवः। दाह्यश्चेति वायुर्द्विधिः, अग्निरग्निं न दहतीत्यदाह्यावयव अग्नेयारुद्रा इति संज्ञायन्ते। ते चास्यां पृथिव्या मन्तरिक्षे दिवि च विभज्यत्रैलोक्ये विभवति। तत्र पुराण गार्हपत्यो नूतनगार्हपत्य इति गार्हपत्याग्नी द्वौ पार्थिवौ। अथ धिष्ण्याग्नयोऽष्टावान्तरिक्ष्याः। आहवनीयाग्निरेको दिव्य इत्येव मेकाद–शेष्यन्ते। ते चामी उत्तरतश्चितिसंचिति विद्यायां धारयितव्याः। अथ येऽग्नि संयोगेन दाह्या वायव स्ते सौम्याग्रहा इति संज्ञायन्ते। ते च "षट्त्रिंशांश्च चतुरः कल्पयन्त" इति मन्त्र श्रवणाच्चत्वारिंशत्। तत्रापि–षट्त्रिंशदन्ये चत्वारोऽन्ये इति द्वेधाविभागः। तथाहि–

१	उपांशु ग्रहः	प्राण लक्षणः
२	उपांशुसवनग्रहः	व्यान लक्षणः
३	अन्तर्यामग्रहः	उदान लक्षणः

४	ऐन्द्रवायवग्रहः	वागिन्द्रियलक्षणः
५	मैत्रावरुण ग्रहः	कामसमृद्धि साधनलक्षणः
६	आश्विन ग्रहः	श्रोत्रेन्द्रिय लक्षणः



७	शुक्र ग्रहः	चक्षुः पाटवलक्षणः
८	मन्थिग्रहः	"

९	आग्रयण ग्रहः	जीव स्वास्थ्यलक्षणः
१०	उक्थ्य ग्रहः	देहारम्भक बलरूपः
११	ध्रुव ग्रहः	जीवनकाल लक्षणः

इति चतुर्दश प्रात सवनीयाः । ते पूत भृदाधवनीयाभ्यां षोडशोक्ताः ।

१२	पूतभृद्द ग्रहः	सर्वविध प्रजालक्षणः
१३	आधवनीयग्रहः	"

(१३+१२=२५)१४ ऋतु ग्रहा द्वादश (१२)–मधुमाधवौ, शुक्रशुची, नभोनभस्यौ, इषोर्जौ, सहसहस्यौ, तपस्तपस्यौ ॥

(२६) १५ ऐन्द्राग्न ग्रहः

(२७) १६ वैश्वदेवग्रहः—इति षोडश प्रातःसवनीयाः तेऽमी पूर्वाह्णे सूर्यरश्मिषूप-लब्धाः संगृह्णन्ति । तदेतत् सवनाद्बहवो यजमानस्य कामाः साध्यन्ते ॥

उपांश्वन्तर्य्यामौ प्राणोदानौ

इन्द्रवायू इन्द्र तुरीया वाक्

मित्रावरुणौ क्रतूदक्षौ ब्रह्मक्षत्रे

श्रोत्रे अश्विनौ

चक्षुषी शुक्रामन्थिनौ

आत्मा आग्रयणः

आत्मैवोक्थ्यः स आयुः सो ऽनिरुक्त आत्मा = अनिरुक्तः प्राणः

{ पुरस्तात् प्राणो वैश्वानरः । पश्चाद्ध ध्रुवः ।
ध्रुववैश्वानरौद्वौग्रहौ । यदवाचीनं नाभेरायुः स आत्मनः ।

शुक्रामन्थिनौ

आग्रयणः

(२८) १ मरुत्वतीयग्रहः

(२९) २ स शस्त्रमरुत्वतीयग्रहः

(३०) ३ कुण्ड मरुत्वतीयग्रहः

(३१) ४ माहेन्द्रग्रहः—इति माध्यन्दिनीया ग्रहा । तेऽमी मध्याह्ने सूर्य्यरश्मिषूपलब्धाः संगृह्यन्ते । तत्सवनाच्च बहवो यजमानस्य कामाः सिध्यन्ति ।

आदित्यग्रहः

(३२) १ दधिग्रहः— दधिग्रहमिश्रित आदित्य ग्रहः ।

(३३) २ सावित्रग्रहः

(३४) ३ पत्नीवत ग्रहः–२

(३५) ४ वैश्वदेवग्रहः–१ महावैश्वदेवग्रहः

(३६) ५ हारियोजनग्रहः— इति पञ्चैते प्रातः सवनीयाः । तेऽमी सायाह्ने सूर्य्यरश्मिषूपलब्धाः संगृह्यन्ते । तेषां सवनादपि यजमानस्य कामाः साध्यन्ते ॥

अथातिरिक्ताश्चत्वारो ग्रहाः—

(३७) १ षोडशिग्रहः

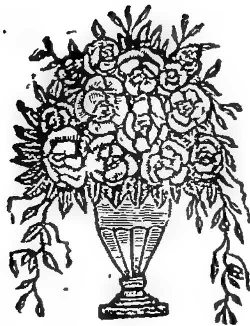
(३८) २ अतिग्राह्य ग्रहः (३)

(३९) ३ अंशुग्रहः

(४०) ४ अदाभ्य ग्रहः

॥ तदित्थं चत्वारिंशद् ग्रहा व्याख्याताः ॥

इन्द्राग्नी प्राणोदानौ द्यावा पृथिवी । ऋतुपुहितौ ।



॥ ❀ ॥ अथोपांशुग्रहः ॥१॥ ॥ ❀ ॥

उपांशुग्रहं त्रिर्गृह्णाति, प्रतिमन्त्रमेकैकवारम्। हे सोम !

"वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः ।१।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि । २ ।
मधुमतीर्न इषस्कृधि" ३ ॥ ७ । १

वर्षितुस्तव संबन्धिभ्यामंशुभ्यामध्वर्योः पाणिभ्यां च पूतस्त्वं प्राणाय गच्छ, यद्वा पतये देवाय वाचो मन्त्रेण शुद्धो भवेत्याह ॥ १ ॥

हे सोम ! देवः सन् तेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय प्रवर्तस्व येषां देवानां त्वं भागोऽसीत्याह ॥ २ ॥

हे सोम ! त्वमस्माकमन्नानि मधुरसोपेताः कुरु इत्याह ॥ ३ ॥

प्राणो वै वाचस्पतिरिति श्रुतिः । ४ । १ । १ । ६ ॥ पाणी वै गभस्ती इति श्रुतिः । ४ । १ । १ । ६ ॥"

आत्तानंशून् सोमे निदधाति ।

"यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा,, ॥

हे सोम ! तव यद् अहिंस्यं जागरणशीलं नामास्ति सोमेति । हे सोम ! तादृशनामवते तुभ्यं सोमाय सुहुतमस्तु इत्याह ॥

निष्क्रमति ।

"स्वोहा उर्वन्त रिक्ष मन्वेमि ॥ ७ । २ ।

विस्तीर्ण मन्तरिक्ष मनुगच्छामीत्याह ॥

उपांशुग्रहं हुत्वा पात्रमार्जनं कुर्य्यात् । हे प्राणरूपोपांशुग्रह ! त्वम्—

"स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः ।
पार्थिवेभ्यो,मनस्त्वाष्टु,,स्वाहा त्वा सुभव सूर्य्याय ॥"॥

सर्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः सकाशात् दिव्येभ्यो देवेभ्यः सकाशात् पार्थिवेभ्यो द्विपद-चतुष्पदेभ्यः सकाशात् स्वयमुत्पन्नोऽसि यस्त्वमेवमकृतकः स्वतन्त्रस्तं त्वां मनः प्रजापति-र्व्याप्नोतु । हे सुभव उत्तमजन्मन् । ग्रह सूर्य्यार्थं त्वां सुजुहोमीत्याह ॥

यद्वा—हे प्राणरूप ! ग्रह ! देवजन्मनि स्थितेभ्यो मनुष्यजन्मनि स्थितेभ्यः सर्वे-भ्य इन्द्रियेभ्यो मया स्वीकृतोऽसि । मनश्च तेषामिन्द्रियाणामधीश्वरं त्वां व्याप्नोतु । हे सुभव प्राणरूपोपांशुग्रह ! तादृग्रूपं त्वां बहिःप्राणरूपाय सूर्य्याय स्वाहाकारेण जुहोमीत्याह ॥

प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातः इति श्रुतिः ४ । १ । १ । २२॥ प्रजापतिर्वै मनः, प्रजापतिष्ठ्वाश्नुताम् इति श्रुतिः ४ । १ । १ । २२ ॥ आदित्यो ह वै वाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येन चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णीते इत्याथर्वणिक श्रुतिः ॥ स्वाङ्कृतो-ऽसीत्यास । प्राणमेव समकृत, विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इत्याह । उभयेष्वेव देवमनुष्येषु प्राणान् दधातीति तित्तिरिः ॥

पश्चिमस्थे परिधौ सोमलिप्तमुत्तानं पाणिं कृत्वा प्रागभिमुखं यथातथोपमार्ष्टि । हे लेप !

देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः ।

मरीचिपालकेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां परिधौ माजमीत्याह ॥

तासउरोबाहुषु शिलष्टं सोमांशूमभिचारार्थं जुहुयात् ।

देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमु–परिप्रुता भङ्गेन हेतोऽसौ फट् ॥

हे सोमांशो ! देव ! यस्मै वधाय त्वां प्रार्थयामि तद्वधकर्म सत्यमस्तु । उपर्य्यागतेनामर्द्देन असौ द्वेषो निहतः सन् विशार्णो भवतु इत्याह ॥

यस्मिन् प्रदेशे पूर्वमुपांशुपात्रं निहितं तत्रैवासादयेत् । हे उपांशुपात्र !

प्राणाय त्वा ।

प्राणदेवतासन्तोषार्थं त्वामासादयामीत्याह ॥

येनाश्मना सोमोऽभिषुतस्तमुपांशुसवनं पाणिना प्रमृज्योदगभिमुखग्रहसंलग्नं सादयेत् । हे उपांशुसवन !

व्यानाय त्वा ।

व्यानदेवताप्रीत्यर्थं त्वामासादयामीत्याह ॥

अथाऽन्तर्य्यामग्रहः ॥ २ ॥

उदिते सूर्य्येऽन्तर्य्यामग्रहं गृह्णीयात् । हे सोमरस ! त्वम्—

उपयाम गृहीतोऽसि ।
अन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् ।
उरुष्य राय एषो यजस्य । ७ । ४ ।

ग्रहगृहीतोऽसि । हे मघवन् ! इन्द्र ! तादृशं रसं ग्रहपात्रमध्ये निगृह्णीष्व । यद्वा-शत्रुभ्यो यथान्तर्धानं तथा नियमय । ततः सोमं पालय तथा धनानि पशून् वा रक्ष । अन्नानि आयजस्व, यद्वा प्रजा याजयस्वेत्याह ॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्य्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ७ ५ ।

हे मघवन् ! तवानुग्रहाद्द्यावापृथिवी अन्तर्दधामि । यद्वा—हे अन्तर्य्याम ! प्राणरूपापन्नस्य तव शरीरमध्ये द्यावापृथिव्यौ दधामि । किञ्च—विस्तीर्णमन्तरिक्षं द्यावा-पृथिव्योर्मध्ये स्थापयामि । हे मघवन् ! अवरैः पृथिवीस्थानैः देवैः, परैश्च द्युस्थानैर्देवैः सहितः सन्नन्तर्य्यामे ग्रहे हर्षयस्वात्मानम् । इत्याह ॥

निश्शेषस्यैव होमस्तिष्ठतः-

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो देवेभ्यः ।
पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्य्याय ॥

प्रथमे परिधौ न्युब्जेन पाणिना प्रत्यक्संस्थंमार्ष्टि । हे लेप !

देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः ।

अथ पात्रासादनम् । हे ग्रह !

उदानाय त्वा । ७ ६ ।

सादयामीत्याह ॥

अथ ऐन्द्रवायवग्रहः ॥ ३ ॥

ऐन्द्रवायवं गृह्णाति ।

आ वायो भूष शुचिपा उप नः
सहस्रं ते नियुतो विश्ववार ।
उपो ते अन्धो मद्यमयामि ।
यस्य देव दधिषे पूर्वपेयम् । १ । वायवे त्वा ॥

हे शुचिपाः ! पवित्रसोमपान ! त्वमस्माकं समीपे आगच्छ । हे विश्ववार ! सर्वव्यापक ! तवासंख्याता वाहनभूता मृगाः सन्ति तैरागच्छ । किञ्च मादकं सोमलक्षणमन्नं तव समीपे गमयामि । हे देवः वायो ! यस्य सोमस्य प्रथमवषट्कारलक्षणपूर्वपानं त्वं धारयसि । हे सोमरस ! वायुदेवतार्थं त्वां गृह्णामीत्याह ॥

एकवारमर्द्धमादाय पृथक्कृत्य पुनरैन्द्रवायवं गृह्णाति ।

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम् ।
इन्दवो वामुशन्ति हि ।
उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वा ॥

हे इन्द्रवायू ! युष्मदर्थमिमे सोमा अभिषुताः । एतैः सोमरसरूपैरन्नैर्निमित्तैः समीपे युवामागच्छतम् । यद्वा—प्रयद्भिः शीघ्रैरश्वैरागच्छतम् । यस्मात् सोमाः युवां कामयन्ते । हे सोमरस ! त्वमुपयामेन पात्रेण वायुदेवतार्थं गृहीतोऽसि । इन्द्रवायु-देवतार्थं च त्वां गृह्णामीत्याह ॥

ग्रहग्रहणे पात्राद्बहिर्निर्गतं सोमं दशापवित्रेण मार्जयित्वा ग्रहसादनं करोति। हे पात्र।

एष ते योनिः। सजोषोभ्यां त्वा ॥ ७। ८।

एष खरस्यैकदेशः तव स्थानम् अतोऽत्र समानप्रीतिभ्यामिन्द्रवायूभ्यां त्वां सादयामीत्याह ॥

❁ अथ-मैत्रावरुणग्रहः ॥ ४ ॥ ❁

मैत्रावरुणं ग्रहं गृह्णीयात्।

अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा।
ममेदिह श्रुतं हवम् ॥
उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा। ७। ९।

हे मित्रावरुणौ! हे यज्ञस्य सत्यस्य वा वर्द्धयितारौ युवयोरर्थाय अयं सोमोऽभिषुतः। तस्मादस्मिन् यज्ञे ममैवाह्वानं युवां शृणुतम्। हे सोमरस! त्वमुपयामेन मैत्रावरुण ग्रहपात्रेण गृहीतोऽसि। मित्रावरुणाभ्यामर्थे त्वां गृह्णामित्याह ॥

मैत्रावरुणपात्रे कुशद्वयमन्तर्द्धाय तत्र स्वं सोमरसं क्षीरेण मिश्रीकुर्यात् ॥



" यया वयं ससवांसो मदेम

हव्येन देवता यवसेन गावः ।

तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो ।

विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम् ॥ १ ॥

एष ते योनिः । ऋतायुभ्यां त्वा ॥ ७ । १० ।

यया धेन्वा गृहे सत्या वयं धनेन सम्भक्ताः सम्पन्नाः सन्तो हृष्टाः स्याम । यथा हविषा संभक्ता । देवा हृष्यन्ति यथा वा घासेन गवाह्निकादिना गावो हृष्यन्ति । हे मित्रावरुणौ ! युवां तां धेनुमनन्यपुरुष संचारिणी मस्मभ्यं सर्वदा धत्तमित्याह ॥ १ ॥

हे ग्रहः एष तव स्थानम् । मित्रावरुणाभ्यामर्थे त्वां सादयामीत्याह ॥

ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो, ब्रह्मो ध्रुतं, वरुण एवायुः इति श्रुतिः ॥

अथ–आश्विनग्रहः ॥ ५ ॥



आश्विनं गृह्णाति यजमानेऽन्वारब्धे वा ।

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती ।

तया यज्ञं मिमिक्षतम् ।

उपयामगृहीतोऽसि अश्विभ्यां त्वा ॥
एष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा । ७ ११ ।

हे अश्विदेवौ ! मधुब्रह्मणोपनिषत्प्रशंसायुता सत्यप्रियवचनोपेता या युवकोर्वाक् अस्ति । तया वाचा हे अश्विनौ ! अस्मदीयं यज्ञं सेक्तुमिच्छतम् ॥ हे ग्रह ! त्वमुपयामेन गृहीतोऽसी । अश्विभ्या मर्थे त्वां गृह्णामीत्याह ॥

हे ग्रह ! एष तव स्थानम् मधुब्राह्मणाध्येतृभ्यामश्विभ्यामर्थे त्वां सादयामीत्याह॥

"दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाचेति श्रुतिः" ।४ । ५ । १ ।

अथ शुक्रग्रहः ॥ ६ ॥



विल्व पात्रेण वैकङ्कतेन वा शुक्रग्रहं गृह्णाति ! हे इन्द्र !

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ।
ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम् ।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनि ।
माशु जयन्तमनु यासु वर्द्धसे ।
उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वा ।
एष तेयोनिर्वीरतां पाहि ॥ १ ॥

त्वं यासु यज्ञक्रियासु पुनः पुनः सोमपानेन वृद्धिं प्राप्नोषि तासु चिरन्तनानां भृग्वादीनामिव पूर्वेषामृषीणां साध्यादीनामिव, सर्वेषां ऋषिपुत्राणामिव इदानीन्तनानां यजमानानामिव, बलवत् यज्ञफलं यजमानाय क्षारयसि त्वं ज्येष्ठप्रशस्यं यज्ञेषु बर्हिषि सीदन्तं स्वर्गलोकवेत्तारम् आत्मनोऽभिमुखं शत्रुकम्पितारं शीघ्रं जयन्तं त्वां स्तुम इत्याह ॥ यद्वा—हे इन्द्र ! यस्त्वमस्मत्प्रतिकूलं वर्जनीयालस्याश्रद्धादिकं रिक्तीकरोषि। किञ्च यासु क्रियासु त्वदनुग्रहाच्छत्रून् कम्पयन्तं क्षिप्रकारिणं सम्यगनुष्ठानेन यजमानान्तराण्यतिशयानमेनं यजमानमनुसोमपानेन स्तुत्या च यस्त्वं वर्द्धसे तासु क्रियासु ज्येष्ठं यागे सन्निहितत्वेन तिष्ठन्तं यजमानाय दातव्यस्वर्गवेत्तारं तं त्वां पुरातना भृग्वादय इव, पूर्वे पित्रादय इव, अतीताः सर्वे यजमाना इव इदानीन्तना यजमाना इव च वयं स्तुमः। इत्याह ॥ हे सोम ! हे शुक्रग्रह ! त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। शुक्रपुत्राय शण्डनाम्नेऽसुराय त्वां गृह्णामि। हे ग्रह ! एष स्वरप्रदेशः तत्र स्थानम्। स त्वं यजमानस्य शूरत्वं पालय इत्याह ॥ ५ ॥

अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातारौ शुक्रामन्थिग्रहाभ्यां यथाक्रममनुतिष्ठेताम्। तत्प्रकारः। प्रोक्षिताभ्यां द्वाभ्यां यूपशकलाभ्यां महाप्रोक्षितौ द्वौ यूपशकलावादाय प्रोक्षिताभ्यां तयोर्ग्रहयोः क्रमेणाच्छादनं कृत्वा अप्रोक्षिताभ्यां ग्रहावपमृज्यात्। तत्र प्रोक्षितेन शकलेन ग्रहं पिधाय अप्रोक्षितेनाध्वर्युः शुक्रग्रहमपमार्ष्टि—

अपमृष्टः शण्डः ॥ २ ॥

शण्डनामकोऽसुरपुरोहितः शुक्रपुत्रोऽपमार्जनीकृतः इत्याह ॥

ततोऽध्वर्यु प्रतिप्रस्थातारौ क्रमेण शुक्रमन्थिलिङ्गमन्त्रेण हविर्धानमध्यान्निर्गच्छतः। तत्र शुक्रलिङ्गेनाध्वर्यु र्निष्क्रामति हे शुक्रग्रह !

देवस्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्तु। ३।

शुक्रनामकग्रहस्थं सोमं ये पिबन्ति ते देवाः त्वां यजतिस्थानं प्रापयन्तु इत्याह ॥

अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ वेदिपश्चाद्भागे अरत्नी संयोज्य ग्रहयोर्विसर्गमकुर्वन्तौ उत्तरवेदिश्रोण्योर्ग्रहौ सादयतः तत्र दक्षिणश्रोणावध्वर्युः शुक्रम्, उत्तरवेदिश्रोणौ तु प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं सादयति ॥ हे उत्तरवेदिश्रोणे ! त्वम्—

अना धृष्टासि । ४ । ७ । १२।

अनुपहिंसितासीत्याह ॥

अथाध्वर्युर्दक्षिणं यूपदेशं गच्छति हे शुक्रग्रह ! त्वम्—

सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परी—
ह्यभिरायस्पोषेण यजमानम् । ५ ।

शोभनवीर्योपेतः सन् शौर्योपेतान् यजमानस्य भृत्यादीन् उत्पादयन् धनस्य पुष्टिया यजमानमभिलक्ष्य परितो गच्छेत्याह ॥

अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यूपपश्चिमभागे तत्तद्ग्रहवाचकपदलिङ्गेन मन्त्रेण अरत्न्योः सन्धानं कुर्य्याताम् । तत्राध्वर्युः शुक्रलिङ्गेन ।

सं जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा । ६ ।

धुलोकेन भूलोकेन च संगच्छमानः—शुक्रो ग्रहः शुद्धदीप्त्या कृत्वा यूपं बिभर्त्ति इत्याह ॥

अथाध्वर्युरप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्यति ।

निरस्तः शण्डः । ७ ।

शण्डोऽयमसुरपुरोहितः शुक्रपुत्रो यज्ञाद्बहिर्निक्षिप्तः इत्याह ॥

अध्वर्युराहवनीये प्रोक्षितं यूपशकलं प्रास्यति। हे यूपशकल! त्वम्—

शुक्रस्याधिष्ठानमसि। ८।। ७। १३

शुक्रग्रहस्याधिकरणमसीत्याह ॥

यजमानो जपति—

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य
रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ॥ ९ ॥

हे दीप्यमान! सोम! अखण्डितस्य सन्ततस्य कल्याणप्रभावस्य तव दातारो वयं स्याम। धनपोषस्य च दातारो भवेम। यद्वा—हे सोम! देव! तव प्रसादाद्वयमखण्डितस्य सुप्रभावस्य धनपोषस्य दातारो भवेमेत्याह ॥

अथाध्वर्यु प्रतिप्रस्थातारौ यूपोभयपार्श्वयोः स्थित्वा पश्चिमाभिमुखौ जुहुयाताम्। तत्राध्वर्युरादौ शुक्रं, ततः प्रतिप्रस्थाता मन्थिनम्।

सा प्रथमा संस्कृति विंश्ववारा
स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः। ७। १४।
स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वांस्तस्मा इन्द्राय
सुतमाजुहोत स्वाहा ॥ १० ॥

यत्र सोमः सर्वैं ऋत्विग्भिरनृत्विग्भिश्च व्रियते यत्र वा सोमः क्रियमाणः जगदुत्पत्तिवीजत्वाद्विश्वं वृणोति सोऽयं मुख्यः सोमसंस्कारो यस्येन्द्रस्य कृते क्रियते। तथा प्रसिद्धो वरुणो मित्रोऽग्निश्च यस्येन्द्रस्य प्रधानो भृत्यः। अयं चोत्कृष्टधीर्बृहस्पतिर्य्यस्येन्द्रस्य मुख्यो मन्त्री। तस्मै इन्द्राय। यद्वा—विश्वैर्देवैर्वरणीया सा समीचीना कृतिर्देवानां मध्ये

यस्येन्द्रस्य मुख्या। वरुणमित्राग्नयोऽपि स इन्द्र एव चेतनावान् बृहस्पतिरपि स इन्द्र एव। हे ऋत्विजः! तस्मै इन्द्राय अभिषुतं सोमं स्वाहाकारेणाजुहोत। इत्याह ॥ ❋

अथ जपति—

तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः
सुहुता यत् स्वाहा ॥ ११ ॥

होत्रा इति याज्याछन्दांस्युच्यन्ते। या होत्रा मधुस्वादस्य सोमस्य साधु इष्टाः सन्ति तद्धोमे नियुक्तत्वात् याश्च होत्राः सुष्ठुप्रीताः, यतः स्वाहाकारेण साधु होमार्थं नियुक्ताः। ताश्छन्दोऽभिमानिन्यो देवतास्तृप्ता भवन्तु इत्याह ॥

अध्वर्युर्होतृसमीपे प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठति-होतुः कथयति च—

अयाडग्नीत्।१२।७।१५।

अग्निया यागः कृत इति जानीहीत्याह ॥

❋ वस्तुतस्तु—इमौ अर्थौ न समीचीनौ। किन्तु—"इन्द्र एव सर्वस्य जगतः प्रथमः संस्कारः सर्ववस्तूत्पत्तौ प्रथममिन्द्रः प्रभवति ततोऽन्ये देवाः। ततः किञ्चिद्वस्तुजातं संभवति। तथा-इन्द्र एव प्रथमावस्थायां वरुणस्य मित्रस्याग्नेश्च। इन्द्र एवान्यथान्यथा विपरिवर्तमानो वरुणादिरूपेण संभवति। एवं बृहस्पतिरपि इन्द्रस्यैवापरः परिवर्तः। तस्मै इन्द्राय सोमं जुहोत हे मनुष्याः। सोमहवनेन स इन्द्रो वः प्रसीदेत्" ॥

अथ मन्थिग्रहः ॥ ७ ॥

अथ मन्थिग्रहं गृह्णाति ।

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा
ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां सङ्गमे सूर्य्यस्य
शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥ १ ॥
उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ॥ ७ । १६ ।

अयं कान्तश्चन्द्र उदकस्य निर्माणकाले ग्रीष्मान्ते प्राप्ते विद्युल्लक्षणज्योतिर्वेष्टनः सन् द्यु गर्भस्था रविस्था वा अपो वर्षति । तथाच अपां सूर्य्यस्य सङ्गमे निमित्ते इत्युदकसूर्य्यसमागमनिमित्तं वृष्टिगर्भनिष्पत्त्यर्थं ब्राह्मणा इमं सोमं स्तुवन्ति । यथा कश्चिद्बालकं कस्यचिद्वस्तुनो लाभाय स्तौतीत्याह (इत्यर्माधिदैवं सोमश्चन्द्रात्मना स्तुतः, अथाधियज्ञ लतात्मना स्तूयते) ।

"ता वै वहन्तीनां स्यन्दमानानां गृह्णीयाद्दिवा गृह्णीयादिति" श्रुतेः । अपां सूर्य्यस्य च सङ्गमे वसतीवर्य्य आपः सोमाभिषवार्थं गृह्यन्ते । तदाह-सूर्य्यस्य अपां च संगमे गृहीताभिरद्भिरभिषुतमिमं सोमं बालकमिव मतिपूर्वाभिः स्तोत्रशस्त्ररूपाभिर्वाग्भिर्लालयन्ति । इदृश ! हे सोम ! त्वमुपयामेन ग्रहंपात्रेण गृहीतोऽसि । मर्काय शुक्रपुत्रायासुरपुरोहिताय त्वां गृह्णामि इत्याह ॥

अथैनं मन्थिग्रहं सक्तुभिः श्रीणाति, यवपिष्टैर्मिश्रीकरोति इति महीधरः ॥

"यद्यप्यत्राध्वर्य्युप्रतिप्रस्थातारौ समानकर्म्माणौ तथापि यः सक्तुभिः श्रपणं करोति स एव प्रधान इत्याशयः" इतिमहीधरः ॥

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं
विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता ।
आ यः शर्य्याभिस्तुविनृम्णो
अस्या श्रीणीता दिशं गभस्तौ ॥ २ ॥

विप इति विप्रश्चितौ मेधाविनौ, अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातारौ येषु सोमहोमेषु कर्म्मणा कृत्वा कर्म्मनिमित्तं वा मनइवोत्साहयुक्तं यथा स्यात्तथा युगपत् शुक्रामन्थिग्रहौ व्याप्नुतः । तेष्वेव कर्त्तव्येषु होमेषु प्रचरन्तौ । यश्च महादक्षिणत्वाद्बहुधनोऽध्वर्य्युः" पाणौ स्थितस्य अस्य मन्थिग्रहस्य प्रतिदिशं समन्तादङ्गुलीभिरश्रीणीत इत्याह ॥

अथ सादयति हे मन्थिग्रह !

एष ते योनिः प्रजाः पाहि ।

तव अयं प्रदेशोऽस्ति त्वं प्रजाः यजमानसंबन्धिनीः पालयेत्याह ॥ प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितेन यूपशकलेन मन्थिनमाच्छाद्य अप्रोक्षितेनापमार्ष्टि ।

अपमृष्टो मर्कः ।

मर्को नामासुरपुरोहितो ऽपमार्जनीकृत इत्याह ॥

प्रतिप्रस्थाता हविर्धानान्निष्क्रामेत् । हे मन्थिग्रह !

देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्तु ।

मन्थिग्रहपानकर्तारो देवाः त्वां यजतिस्थानं प्रापयन्तु इत्याह ॥

हेउत्तरवेदिश्रोणे ! त्वम्—

अनाधृष्टासि ॥ ७ । १७ ।

प्रतिप्रस्थता उत्तरं यूपदेशं गच्छति हे मन्थिग्रह !

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि
रायस्पोषेण यजमानम् ॥

शोभनप्रजाशाली त्वं यजमानसम्बन्धिनीः प्रजाः उत्पादयन् धनस्य पुष्टया सह यजमानसम्मुखं परिगच्छ इत्याह ॥

प्रतिप्रस्थाता अरत्निं सन्धत्ते ।

सं जग्मानो दिवा पृथिव्या ।
मन्थी मन्थि शोचिषा ॥

मन्थी नाम ग्रहो द्यु लोकभूलोकाभ्यां संगच्छमानः सन् मन्थिनः स्वस्यैव दीप्त्या यूपं विभर्त्ति—इत्याह ॥

प्रतिप्रस्थाता अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्येत् ।

निरस्तो मर्कः ।

प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितं यूपशकलमाहवनीये प्रक्षिपेत् हे यूपशकल ! -त्यन्—

मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥ ७ । १८ ।

मन्थिग्रहस्याधिकरणमसीत्याह ॥

॥❋॥ अथ आग्रयणग्रहः ॥ ८ ॥❋॥

धाराद्वये क्षरति सति आग्रयणं ग्रहं गृह्णीयात्—

ये देवा दिव्येकादश स्थ पृथिव्या मध्येकादश स्थ ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥१॥७।१६।
उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः ।
पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं ।
विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं
पाह्यभि सवनानि पाहि । १ । ७ । २० ।

हे देवाः स्वस्वमाहात्म्येन ये यूयं द्युलोके एकादशसंख्याका भवथ । पृथिव्युपरि एकादशसंख्याका भवथ । तथा ये यूयमन्तरिक्षनिवासिनः एकादशभवथ । हे देवाः ! ते त्रिविधा अपि यूयमिमं यजनीयमाग्रयणग्रहं सेवध्वमित्याह ॥ १ ॥

हे आग्रयणग्रह ! त्वमुपयामेन पात्रेण स्वीकृतोऽसि, आग्रयणनामा भवसि, श्रेष्ठ्यमापकश्च । स त्वं यज्ञं यजमानं च रक्ष । यज्ञाधिष्ठाता देवश्च स्वसामर्थ्येन त्वां पातु त्वमपि तादृशं विष्णुं पाहि । प्रातरादीनि सवनानि च सर्वतो रक्षेत्याह ॥

अथ त्रिर्हिङ्कृत्य जपति—

सोमः पवते सोमः पवते
ऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवते,
इष उर्जे पवतेऽद्भ्य ओषधीभ्यः पवते,
द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते,
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः । २ ।

ब्राह्मणार्थं क्षत्रियार्थं यजमानार्थं च, अन्नाय तदुपसेचनक्षीरादिद्रव्याय च, वृष्ट्यर्थं व्रीहियवादिसिद्ध्यर्थं च, लोकद्वयप्रीणनाय सर्वेषां साधुभवनाय च, सोमो ग्रहपात्रेषु, गच्छति स्वकीये कर्म्मणि प्रवर्तते वा । हे आग्रयणग्रह ! तादृशं त्वां सर्वदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामीत्याह ॥

अथ सादयति हे आग्रयणग्रह !

एष ते योनिर्विश्वेभ्य स्त्वा देवेभ्यः । ७ । २१ ।

इदं तव स्थानं सर्वदेवताप्रीत्यर्थं त्वां सादयामीत्याह ॥

अथ उक्थ्यग्रहः ॥ ६ ॥

उक्थ्यं ग्रहं गृह्णीयात् ।

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते
वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि ।

यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा,विष्णवे त्वा।
एष ते योनि रुकथेभ्यस्त्वा।

हे सोम! त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि हे उक्थ्यग्रह! बृहत्सामप्रियाय सोमरूपान्नवते वीर्य्योपेताय वा इन्द्राय मित्रावरुण–ब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकसम्बन्धिशस्त्र–रक्षकं त्वां गृह्णामि ॥ हे इन्द्र! यत् तव सोमरूपं महदन्नमस्ति तत्पानार्थं त्वां प्रार्थये ॥ हे सोम! विष्णुदेवार्थं त्वां गृह्णामि। यद्वा—हे सोम? यदस्येन्द्रस्य महदूर्जितं यौवनलक्षणं तस्मै त्वां, यज्ञाय च त्वां गृह्णामीत्याह ॥ १ ॥

हे उक्थ्यग्रह? इदं तव स्थानमुक्थेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामीत्याह ॥

अथोक्थ्यस्थालीस्थं सोमं प्रशास्तृब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकानां स्वस्वयागसिद्ध्यर्थं त्रेधा विभज्य गृह्णाति। हे सोम?

देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं गृह्णामि
यज्ञस्यायुषे गृह्णामि। ७। २२।

देवतर्पकं देवेभ्योऽर्थाय गृह्णामि। किञ्च अनवच्छिन्ना कर्म्मैकदोषरहिता परिसमाप्तिर्यज्ञस्यायुः, तस्मै फलपर्य्यन्तमवस्थानाय च त्वां गृह्णामीत्याह ॥

अथवोक्थ्यविग्रहेऽधस्तनास्त्रयो मन्त्राः क्रमेण प्रशास्त्रे ब्राह्मणाच्छंसिनेऽच्छावकाय च तत उत्तरे त्रयो मन्त्रा उक्थ्यादिसोमसंस्थेषु मैत्रावरुणादीनां तृतीयसवने उक्थ्यविग्रहविनियुक्ताः ॥

मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि। १।

इन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । २ ।
इन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । ३ ।

इन्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । १ ।
इन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । २ ।
इन्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । ३ । ७ । २३ ।

अथ ध्रुवग्रहः ॥ १०॥

ध्रुवसंज्ञं ग्रहं गृह्णीयात् । तत्र वैश्वानरः स्तूयते—

मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या
वैश्वानर मृत आ जातमग्निं ॥
कविं सम्राजमतिथिं जनाना
मासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः । ॥ १ ॥ ७ । २४ ।

उपयाम गृहीतोऽसि, ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिः

ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमः । १ ।
एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥

द्युलोकस्य शिरोवदुन्नतप्रदेशे सूर्य्यरूपेणावस्थाय भासकं, पृथिव्या उपरि दाह-पाकप्रकाशैरनवरतं वर्त्तमानम् अन्तरिक्षव्यापिनं, वा भुक्तान्नपाचकत्वात्सर्वनरहितं, यज्ञस-मुत्पन्न क्रान्तदर्शनं, सम्यग्दीप्यमानं, यजमानानां हविर्भिः सत्कारयोग्यं, देवमुखे नमम-यितमग्निं देवाः अजनयन्तेत्याह ॥ १ ॥

हे सोम ! त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि ध्रुवनामकोऽसि, स्थिरनिवासः । ध्रुवाणामादित्यस्थाल्यादीनां मध्येऽतिशयेन स्थिरः, क्षरणशून्यानां मध्ये चातिशयेन च्युतिरहितपात्रनिवासी, भवसीत्याह ॥ १ ॥

हे ध्रुवग्रह ! इदं तव स्थानम्वैश्वानराग्नये त्वां सादयामीत्याह ॥

अथ ध्रुवपात्रस्थं सर्वं सोमं होतृचमसेऽवनमयति ।

ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि ।
अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ॥ ६ । २५ ।

एकाग्रेण मनसा मन्त्रोच्चारणप्रवणया वाचा ध्रुवग्रहेऽवस्थितं सोमं होतृचमसेऽभिसिञ्चामि । यद्वा—ध्रुवं ग्रहं सोमं होतृचमसस्थं प्रत्यवनयामि । तदनन्तरमिन्द्र एवास्माकं प्रजाः शत्रुशून्याः स्थिरमनस्काः करोतु-इत्याह ।

अभिषवे ग्रहणे च पतितानां सोमबिन्दुनां ग्रहणाशक्यत्वात् तत्प्रत्यवायपरिहाराय क्रियमाणं विप्रुड्ढोमं नाम घृतहोम मध्वर्य्वादयो जुह्वति । हे सोम !

यस्ते द्रप्सः स्कन्दति यस्ते अंशुर्ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात् ।
अध्वर्य्योर्वा परिवा यः पवित्रात् तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतं स्वाहा ॥

यस्तत्र रसैकदेशो भूमावन्यत्र वा पतति यश्च तत्र खण्डो ग्राव्णः सकाशात् पतितः। यश्चाधिषवणफलकयोरुत्सङ्गात् पतति। अध्वर्य्योः सकाशाद्वा पवित्राद्वा यतः कुतश्चित् परिस्कन्दति, तं तत्र द्रप्समंशुं च मनसा सङ्कलितं स्वाहाकारेण जुहोमीत्याह ॥

अध्वर्य्युणा वेदेर्य्ये तृणे गृहीते, तयोरेकं चात्वाले प्रास्यति। हे चात्वाल! त्वम्—

देवाना मुत्क्रमणमसि। ७। २६।

देवास्त्वत्तः स्वर्गं गच्छन्तीत्याह ॥ तथा च श्रुतिः—

"अतो हि देवाः स्वर्गमुपोदक्रामन्" इति ॥ ४। २। ५। ५।

अथावकाश संज्ञा मन्त्रा उच्यन्ते तान् वाचयन् ग्रहणक्रमेण ग्रहान् यजमानं दर्शयति।

१—प्राणाय	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	१—उपांशुम्।
२—व्यानाय	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	२—उपांशुसवनम्।
३—उदानाय	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	३—अन्तर्यामम्।
४—वाचे	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	४—ऐन्द्रवायवम्।
५—क्रतूदक्षाभ्यां	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	५—मैत्रावरुणम्।
६—श्रोत्राय	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	६—आश्विनम्।
७—चक्षुर्भ्यां	मे वर्चोदसौ	वर्चसे	पवेथाम्।	७—शुक्रामन्थिनौ ७।२७।
८—आत्मने	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	८—आग्रयणम्।
९—ओजसे	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	९—उक्थ्यम्।
१०—आयुषे	मे वर्चोदा	वर्चसे	पवस्व।	१०—ध्रुवम्।

११-विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥ ११—अम्भृणौवैश्वदेवौ ७।२८।

१	हे उपांशो !	मम प्राणाय	प्रवर्तस्व	।
२	हे उपांशुपवन !	मम व्यानाय	प्रवर्तस्व	।
३	हे अन्तर्याम !	ममोदानाय	प्रवर्तस्व	।
४	हे ऐन्द्रवायव !	मम वागिन्द्रियाय	प्रवर्तस्व	।
५	हे मैत्रावरुण !	मम कामसमृद्धिसाधनाय	प्रवर्तस्व	।
६	हे आश्विन !	मम श्रोत्रेन्द्रियाय	प्रवर्तस्व	।
७	हे शुक्रामन्थिनौ !	मम चक्षुषोःपाटवाय	प्रवर्तस्व	।
८	हे आग्रयण !	मम जीवस्वास्थ्याय	प्रवर्तस्व	।
९	हे उक्थ्य !	मम देहारम्भकबलरूपाय	प्रवर्तस्व	।
१०	हे ध्रुव !	मम जीवनकालाय	प्रवर्तस्व	।
११	हे पूतभृदाधवनीयौ !	मम सर्वाभ्यःप्रजाभ्यः	प्रवर्तेथाम्	।

यथा मे प्राणो वर्चस्वी भवेत् तथा वर्चो देहि यतस्त्वं वर्चोदा असीत्याद्याह । वर्चो नाम मौखिकसमस्तेजोविशेषः ॥

अथ द्रोणकलशमवेक्षते । हे द्रोणकलश ! त्वम्—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ॥

प्रजापतिरसि अतिशयेन प्रजापतिरसि । प्रजापतेरसि । प्रजापतिनामासि । यस्य तव नाम वयं विजानीमः । यं च द्रोणकलशरूपं त्वां सोमेन वयमतीतृपाम-स त्वमस्मानपि विदितनाम्नः कुरु,तर्पय च कामैरित्याह ॥

अथ जपति—

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां,
सुवीरो वीरैः, सुपोषः पोषैः ॥ ७ । २९ ।

हे अग्निवायुसूर्याः ! समीचीनाः प्रजाः शोभनः पुत्रः सुष्ठु च धनसम्पत्तयो मे जायेरन् इत्याह ॥

अथ ऋतुग्रहः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशमन्त्राः, षड् वा मन्त्रयुग्माः, तेषु पूर्वः पूर्वोऽध्वर्य्योरुत्तरउत्तरः प्रतिप्रस्थातुः । इत्येवंक्रमेण द्रोणकलशाद् ऋतुग्रहैरनुष्ठितः । हे ऋतुग्रह !

उपयामगृहीतोऽसि	मधवे	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	माधवाय	त्वा	२
उपयामगृहीतोऽसि	शुक्राय	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	शुचये	त्वा	२
उपयामगृहीतोऽसि	नभसे	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	नभस्याय	त्वा	२
उपयामगृहीतोऽसीषे	त्वा		१
उपयामगृहीतोऽस्यूर्जे	त्वा		२
उपयामगृहीतोऽसि	सहसे	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	सहस्याय	त्वा	२

उपयामगृहीतोऽसि	तपसे	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	तपस्याय	त्वा	२
उपयामगृहीतोऽस्यंहसस्पतये		त्वा	१७। ३०

मधुमाधवौ वासन्तौ–शुक्रशुची ग्रीष्ममासौ–नभोनभस्यौ वार्षिकौ–इषोर्जौ शारदौ–सहःसहस्यौ हैमन्तौ–तपस्तपस्यौ शैशिरौ। अंहसस्पतिर्मलमासः॥

तत्राध्वर्युर्यदीच्छेत्तर्हि त्रयोदशमृतुग्रहं गृह्णीयादित्यैच्छिकविकल्पमिच्छन्ति॥

अथ ऐन्द्राग्नग्रहः॥ १२॥



प्रतिप्रस्थाता ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति।

इन्द्राग्नी आगतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्।
अस्य पातं धियेषिता। १।
उपयामगृहीतोऽसि इन्द्राग्निभ्यां त्वा। १।
एष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा॥ २॥ ७। ३१।

हे इन्द्राग्नी! त्रयीलक्षणाभिर्वाग्भिरादित्य इव वरणीयं यद्वा स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिर्युतं स्वर्गस्थैर्देवैः प्रार्थनीयं चेममभिषुतं सोमं प्रति आगच्छतम्। किञ्च यजमानबुद्ध्या प्रार्थितौ

युवामस्य सोमस्य सम्बन्धिनं स्वमंशं पिबतम् ॥ हे सोम ! उपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि । हे ग्रह ! इन्द्राग्निभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि । १ ।

इदं तव स्थानम् । इन्द्राग्निभ्यामर्थे त्वां सादयामि इत्याह ॥ २ ॥

अथैन्द्राग्नग्रह एव शाखान्तरेण मन्त्रविकल्पः—

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्
येषामिन्द्रो युवा सखा । १ ।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वा । १ ।
एष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥ २ ॥ ७ । ३२ ।

ये यजमाना अग्निमादीपयन्ति इष्टिपशुसोमचातुर्मास्यैर्यजन्ति । ये चानुपूर्व्येण बर्हिराच्छादयन्ति । तथा येषां यज्वनां जरामृत्युरहित इन्द्रो मित्रवदुपकारकः । तेषां यज्ञे हे सोम ! त्वमुपयामेन ग्रहेण स्वीकृतोऽसीत्याद्याह ॥

अथ वैश्वदेवग्रहः ॥ १३ ॥

अध्वर्यौ यज्वनान्वारब्धेऽस्पृष्टे वा सति द्रोणकलशात् शुक्रपात्रेण वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णीयात् ।

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत ।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम् । १ ।

उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ।
एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ २ ॥ ७ ।३३ ।

हे विश्वेदेवाः ! रक्षितारो रक्षणीया वा, तर्पयितारस्तर्पणीया वा, मनुष्यपोषका मनुष्यधृता वा, तथा अभिषुतं सोमं दत्तवतो यजमानस्य कामान् पूरयन्तो यूयमागच्छत । हे सोम ! विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामि, इदं तव स्थानमत्र त्वां सादयामीत्याह ॥

अत्र वैश्वदेवग्रहणे मन्त्रान्तरविकल्पः—

विश्वे देवास आगत शृणुता म इमं हवम्
एदं बर्हिर्निषीदत ॥ १ ॥
उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यः ।
एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः २ । ७ । ३४ ।

हे विश्वेदेवाः ! यूयमस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छत । आगत्य च ममेदमाह्वानं शृणुत । श्रुत्वा च अस्य मदीयबर्हिष उपर्य्युपविशत, हे सोम ! त्वमुपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामि । इदं तव स्थानं, विश्वेभ्योदेवेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामीत्याह ॥

॥ एते प्रातः सवनग्रहाः पूर्णाः ॥





१	उपांशु ग्रहः	१	९	आग्रयण ग्रहः	१
२	उपांशुसवन ग्रहः	२	१०	उक्थ्य ग्रहः	२
३	अन्तर्याम ग्रहः	३	११	ध्रुव ग्रहः	३
४	ऐन्द्रवायव ग्रहः	१	१२	पूतभृद् ग्रहः	१
५	मैत्रावरुण ग्रहः	२	१३	माधवनीय ग्रहः	२
६	आश्विन ग्रहः	३	(२५)१४	ऋतुग्रहा द्वादश	१२
७	शुक्र ग्रहः	१	(२६)१५	ऐन्द्राग्न ग्रहः	१
८	मन्थी ग्रहः	२	(२७)१६	वैश्वदेव ग्रहः	२



॥ * ॥ अथ माध्यन्दिन सवनग्रहा उच्यन्ते ॥ * ॥

तत्रादौ—मरुत्वतीयग्रहः ॥ १ ॥

त्रयो मरुत्वतीयाग्रहाः । तत्र ऋतुपात्रेण प्रथमं गृह्णीयात् ।

इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमं यथा शार्य्याते अपिवः सुतस्य ।
तव प्रणीती तव शूर शर्म्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः ॥ १ ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते । १ ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । २ ॥ ७ । ३५ ।

मरुद्भिः सहित ! हे इन्द्र ! यथा शर्य्यातिनाम्नो राज्ञः सम्बन्धिनि यज्ञे अभिषुतस्य सोमस्यांशं पीतवानासीः, तथा इहास्मदीये यज्ञे सोमं पिव । किञ्च—हे शूर ! वीर ! तव प्रणयनेन कल्याणयज्ञाः क्रान्तदर्शनाः तव सुखनिमित्ते तव यज्ञगृहे वा त्वां परिचरन्ति इत्याह ॥ १ ॥

हे सोम ! उपयामपात्रेण स्वीकृतोऽसि । मरुत्वते इन्द्राय त्वां गृह्णामि । इदं ते स्थानम् । इन्द्राय त्वां सादयामीत्याह ॥

रिक्तेन पात्रेण द्वितीयं सशस्त्रां मरुत्वतीयं गृह्णीयात् ।

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम् ॥
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम ॥ २ ॥

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ १ ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ २ ॥

मरुद्गणोपेतं, जलवर्षितारं, वर्द्धनस्वभाव, मकुत्सितशत्रुमुत्कृष्टैश्वर्य्यं वा, द्युलोकस्थं, दुष्टानां शासितारं प्रशामनवन्तं वा, अनलसं स्वधर्म्मच्युतस्य सर्वस्याभिभवितारं वा, नूतनाय यजमानरक्षणाय उद्गूर्णवज्रं बलप्रदं तमिन्द्रमिहास्मदीये यज्ञे वयमाह्वयाम इत्याह ॥२॥

ऋतुपात्रेण तृतीयं कुण्ठमरुत्वतीयं गृह्णीयात् ।

उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे । १ । ७ । ३६ ।

हे मरुत्वतीयग्रह ! मरुतां देवानां बलाय त्वां गृह्णामीत्याह ॥ स्वबलं निधाय इन्द्रं मत्यागता मरुतोऽनेन ग्रहेण गृहीतेन सबला जाता इति श्रूयते ॥ १ ॥

अपरमपि मरुत्वतीयग्रहणे मन्त्रद्वयमुपदिशन्ति ।

सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्
जहि शत्रूँ२॥ रपमृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः । १ ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । ७ । ३७ ।

मरुत्वाँ२॥ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय ।
आसिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रतिपत्सुतानाम्
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । ७ । ३८ ।

हे इन्द्र ! हे शूर ! वीर ! सन्तुष्टः सन् मरुद्गणसहितस्त्वं वृत्रं हनिष्यन् शत्रुहननक्रियां जानानश्चेमं सोमं पिब । शत्रून् मारय सङ्ग्रामादपनुदस्व । तथाचास्माकं रिपुहननादभयं सर्वतः कुरु इत्याह ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! मरुद्गणसंयुक्तो जलवर्षिता च त्वं सङ्ग्रामाय मदाय सोमं पिब । यस्य सोमस्य पश्चात् पुरोडाश–धानामन्थ–दधिपयस्यालक्षणानि स्वधा भवन्ति । सोमपानेन च मधुर स्वादोपेतस्य तस्य कल्लोलमुदरे आसिञ्चस्व । यतस्त्वमेव प्रतिपत्प्रभृतिषु तिथिषु अभिषुतानां सोमानामीश्वरोऽसीत्याह ॥ २ ॥

॥ ❋ ॥ अथ माहेन्द्रग्रहः ॥ २ ॥ ❋ ॥

अथ माहेन्द्रं ग्रहं शुक्रपात्रेण गृह्णीयात् ।

३॥
महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभि ।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्य्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्त्तृभिर्भूत् ।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वा ।
एष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा । ७ । ३९ ।

राजादिमनुष्यवत् समन्तात् मनुष्यानभीष्टकामैः पूरयिता, अपि च द्वयोरपि मध्यमोत्तमयोः स्थानयोः परिवृद्धः, अमितबलश्चायं महानिन्द्रः अस्मदभिमुखो वीरक–

र्म्मणो वर्द्धते । वर्द्धमानश्च स इन्द्रः—यशसा विपुलः, बलेन विस्तृतः, कर्तृभिर्यजमानैः सत्कृतो भवतु । इत्याह ॥ ३ ॥

अथ वा इमं मन्त्रं प्रयुज्य गृह्णीयात्—

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ। इव ।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे। १ ।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वा ।
एष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा । ७ । ४० ।

यः तेजसा महानिन्द्रो वर्षन्मेघ इव वत्सस्थानीययजमानस्य स्तोत्रै वर्धते इत्याह ॥१॥

वस्त्रबद्धं सुवर्णं जुह्वां निधाय शालाद्वार्य्येऽग्नौ चतुर्गृहीताज्येन दाक्षिणसंज्ञं होमं कुर्य्यात् ॥

उदु त्यं जातवेदसं देव वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम्—स्वाहा । ७ । ४१ ।

रश्मयो जगद्द्रष्टुं ज्ञानजनकं धनजनकं वा तं सूर्य्यं देवमुद्वहन्ति । तस्मै सुहुतमस्तु इत्याह ॥

चतुर्गृहीतेनैव शालाद्वार्य्ये द्वितीयामाहुतिं जुहोति ।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा
जगतस्तस्थुषश्च—स्वाहा । ७४ । २।

द्योतनस्वभावानां किरणानां पुञ्जरूपो मित्रादीनां सर्वेषामेव देवमनुष्याणां रूप-प्रकाशकश्चायं सूर्य्यः आश्चर्य्यं यथा तथा उदयमगमत्। उद्गतश्च पुनः स्वतेजसा दिवं भूमिं चान्तरिक्षं चापूरितवान्। अयमेव च सूर्य्यो जङ्गमस्य स्थावरस्य चास्य सर्वस्यान्त-र्य्यामी भवतीत्याह ॥ २ ॥

तत आग्नीध्रीयेऽग्नौ सकृद्गृहीतमाज्यं जुहोति।

अग्ने नय सुपथा राय अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम, स्वाहा।१।७।४३।

आग्नीध्रीये एव द्वितीयामाहुतिं जुहोति।

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिनन्दन्।
अयं वाजान् जयतु वाजसातावयं शत्रून् जयतु जर्हृषाणः,स्वाहा २।७।४४।

सहिरण्यो यजमानः शालां पूर्वेण तिष्ठन् बहिर्वेदि दक्षिणतस्तिष्ठन्तीर्दक्षिणा गा अभितन्त्रयते।

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणाः।

हे दक्षिणरूपा गाः! मर्त्या युष्माकं रूपमहमभ्यागतोऽस्मि। (सर्वे हि स्वरूपभा-गच्छन्तीत्यतो भवतीभिरभ्यागन्तव्यम्)। किञ्च—सर्वज्ञो ब्रह्मरूपः प्रजापतिर्युष्मान् यथा-योग्यमृत्विग्भ्यो विभज्य ददातु ॥ तदेतज्ज्ञात्वा च यूयं सुवर्णं यजमानहस्तस्थं द्वितीयं दक्षिणा यासां तथाविधाः सत्यो यज्ञस्य मार्गेण प्रगच्छत इत्याह ॥

पूर्वं पशवः स्वदानमसहमाना रूपान्तराणिजगृहुः, ततो देवाः स्वैरूपैस्तानु-पागताः। ततस्ते स्वैरूपैराजग्मुरिति मन्त्रवक्तव्यं श्रूयते (४ । ३ । ४ । १४ ॥)

अथ सदोगच्छन् ब्रूते । हे दक्षिणाः !—

वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षम् ।

भवतीभिः सोपानभूताभिरहं देवयानमार्गं विपश्यामि पितृयाणमार्गं च विपश्यामीत्याह ॥

अथासौ यजमान ऋत्विजः प्रेक्षते । हेदक्षिणे ! त्वम्—

यतस्व सदस्यैः । ७ । ४५ ।

तथा यत्नं कुरु येन ऋत्विग्भिः पूरितैरप्यतिरिच्यसे इत्याह ॥

ततः स्वस्थानस्थमाग्नीध्रमृत्विजं प्रति यजमानो गच्छति ।

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्य
मृषिमार्षेयं सुधातु-दक्षिणम् ॥

अहमद्य, यस्य प्रशस्तः पिता यस्य च प्रशस्तः पितामहः तथाविधं मन्त्राणां व्याख्यातारं ऋषिषु विख्यातं सुवर्णदक्षिणायोग्यं ब्राह्मणं लभेय—इत्याह ॥

उपविश्य तस्मै आग्नीध्राय हिरण्यं ददाति ! हे दक्षिणाः !

अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ७ । ४६ ।

अस्माभिर्दत्ता देवान् प्रति गच्छत । ततः पुनर्यज्ञफलं साधयन्त्यो यजमानं माविशत-इत्याह ॥

ततोऽध्वर्य्युप्रतिप्रस्थातारौ चतुर्भिर्मन्त्रैः क्रमेण हिरण्यं गां वस्त्रमश्वं प्रतिगृह्णीतः ॥

अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु–सोऽमृतत्वमशीय
आयुर्दात्र एधि– मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । १ ।
रुद्रायत्वा मह्यं वरुणो ददातु –सोऽमृतत्वमशीय
प्राणो दात्र एधि– वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । २ ।
बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु–सोऽमृतत्वमशीय
त्वग् दात्र एधि–मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । ३ ।
यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु– सोऽमृतत्वमशीय
हयो दात्र एधि–वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । ४ । ७ । ४७ ।

हे हिरण्य ! वरुणस्त्वामग्निरूपापन्नाय मह्यं ददातु । अनेन विधिना गृह्णानः सोऽहमारोग्यं व्याप्नुयाम् । हेहिरण्य ! त्वं दात्रे जीवनं भव, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं तु सुखं भवेत्याह ॥ १ ॥ एवं हे गौः ! गोदात्रे यजमानाय प्राणरूपा भव, मह्यं तु त्वमन्नं पशुर्वा भवेत्याह ॥ २ ॥ हे वासः ! त्वं यजमानाय त्वगिन्द्रियसुखकारी भव, मह्यं सुखं भवेत्याह ॥ ३ ॥ हे अश्व ! दात्रेऽश्वो भव, मह्यमन्नं पशुर्वा भवेत्याह ॥ ४ ॥ पूर्वं वरुणेन कनकाद्यग्न्यादिभ्यो दत्तमतस्तेन तेनात्मना प्रतिगृह्णानो विप्रो न नश्यतीति देवतादेशः ॥

अथ तदन्यन्मन्थौदनतिलादि गृह्णीतः —

कोऽदात्, कस्मा अदात्,
कामोऽदात्, कामायादात्,

कामोदाता, कामः प्रतिग्रहीता,
कामैतत्ते ॥ १ ॥ ७ । ४८ ।

मनुष्येषु कः कस्मै ददाति । केवलं कामाभिमानी देव एव कामाभिमानिने देवाय सर्वत्र ददाति । तस्मात्सर्वत्र काम एव दाता, काम एव च प्रतिग्रहीता, नान्यः । हे काम ! एतद्द्रव्यं तव–इत्याह ॥ १ ॥

इत्थं माध्यन्दिनसवनगता मन्त्रा दक्षिणादानान्ताः उक्ताः



॥ अथ तृतीयसवनगता आदित्यग्रहादिमन्त्राः ॥



। आदित्यग्रहः ॥ १ ॥

द्विदेवत्यैः सह होमाय प्रतिप्रस्थाता आदित्यग्रहपात्रेण द्रोणकलशात् सोमं गृह्णाति । हेसोम ! त्वम्—

उपयामगृहीतोऽसि ।

द्विदेवत्यान् हुत्वा हुतशेषमादित्यस्थाल्यां क्षिपेत् । हेसोम !

आदित्येभ्यस्त्वा ।

आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां सिञ्चामीत्याह ॥

संस्रवमासिच्य तेनादित्यपात्रेण स्थालीं पिदधाति ।

विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन् । ८ । १ ।

हे विष्णो ! यज्ञपुरुष ! हे वहुस्तुत ! एष सोमस्तवार्पितः । तं सोमं गोपाय । हेसोम ! त्वां रक्षांसि मा हन्युरित्याह ॥

होमशेषाः संस्रवाः । तेभ्यः सकाशादादित्यग्रहं गृह्णाति ।

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते । १ ।
आदित्येभ्यस्त्वा ॥ ८ । २ ।

हे इन्द्र ! कदापि हिंसको नासि । हविर्दत्तवतो यजमानस्य समीपे समीपे एव हविः सेवते । हे मघवन् ! पुनरेव च तव देवस्य देयं हविस्त्वया संबध्यते ॥ १ ॥ हे ग्रह ! आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीत्याह ॥ १ ॥

धारातो विच्छिद्य पूतभृतः सकाशादात्मसमीपं नीत्वा तथैव पुनरादित्यग्रहं गृह्णीयात् ॥

कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी ।
तुरीयादित्य सवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिवि । २ ।
आदित्येभ्यस्त्वा ॥ ८ । ३ ।

हे आदित्य ! त्वं कदापि प्रमाद्यसि ? न कदापि । किञ्च—देवमनुष्यसम्बन्धिनी उभे जन्मनी नितरां पालयसि तथा हे आदित्य ! तव चतुर्थं मायातीतं शुद्धं जगत्प्रवर्त्तकम्—नश्वरं यद्वीर्यं तद् द्युलोके मण्डलान्तरे आभिमुख्येन स्थितमित्याह ॥ यद्वा-हे आदित्य ! त्वं कदापि न प्रमाद्यसि । किन्तु उभे वर्तमानभाविनी जन्मनी रक्षसि । हे आदित्य ! तव यत् तृतीयं सवनं तस्मिन् द्युलोकसमाने सवने इन्द्रियवृद्धिकरं सुधासमं हविरातस्थौ ॥ हे आदित्यग्रह ! आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीत्याह ॥

❀ अथ दधिग्रहः ॥ २ ॥ ❀

एनमादित्यग्रहं पश्चिमेऽन्ते मध्ये वा दध्ना मिश्रीकुर्यात् ।

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः

आ वोऽर्वाची सुमति र्ववृत्या दंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्
आदित्येभ्यस्त्वा ८ । ४ ।

यज्ञो देवानां सुखं कर्तुं प्रत्यागच्छति । अतो हे आदित्याः! यूयं सुखयन्तो भवत। किञ्च-युष्माकमनुग्रहपरा बुद्धिरस्मदभिमुखी आवर्ततताम् । तथा पापकारिणोऽपि या सुमतिः धनलब्ध्री भवेत् सा अस्मदभिमुखी आवर्तताम् । इत्याह । हे सोम ! आदित्येभ्यस्त्वां दध्ना मिश्रयामीत्याह ॥

उपांशुसवनेन पाषाणेन दधि सोमं च मिश्रयेत् ।

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन्मत्स्व ।

हे तमोविनाशक ! यद्वा-हे विशिष्टधनशालिन !. हे आदित्य ! एष पात्रस्थस्तव पातव्यसोमः । तस्मिन् तृप्तिं कुरु-इत्याह ॥

अथ पत्नी तमेनं पूतभृतं पश्येत् ।

श्रदस्मै नरोवचसे दधातन,
यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः ।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा,
विश्वाहाऽरप एधते गृहे ॥ ८ । ५ ।

हे ऋत्विग्यजमानाः! आशीर्दातारो यूयमस्मै आशीर्वचनाय श्रद्धां कुरुत । यत् जायापती पत्नी यजमानौ संभजनीयं यज्ञफलं प्राप्नुतः । इहैव च पुंस्त्वविशिष्टः पुत्रो जायते । च धनं लभते । (अधा-अथ) धनलब्ध्यनन्तरं च सर्वदा निष्पापः सन् स्वगृहे वर्द्धते इत्याह ॥

॥ अथ सावित्रहग्रः ॥ ३ ॥



सवनीयपुरोडाशेडां भक्षयित्वा सवनीयसम्बन्धि कर्म समाप्य उपांश्वन्तर्य्यामयोः पात्रयोरन्यतरेण सावित्रं ग्रहं गृह्णाति।

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो
दिवे दिवे वाममस्मभ्यं सावीः
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरे
रया धिया वामभाजः स्याम ॥ १ ॥ ८ । ६ ।
उपयामगृहीतोऽसि, सावित्रोऽसि, चनोधाश्चनोधाअसि,
चनो मयि धेहि। जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं,
भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ २ ॥ ८ । ७ ।

हे सवितर्देव! अस्मदर्थे अद्य वननीयं कर्म्मफलं प्रेरय। तथा उत्तरेद्यु रपि प्रेरय। ततोऽग्रेऽपि प्रतिदिनमस्मभ्यं वामं सावीः। यस्मात्किल अनया श्रद्धायुक्तया बुद्ध्या वयं संभजनीयस्य बहुकालीनस्य स्वर्गनिवासस्य सिद्धये वननीययज्ञकर्म्मानुष्ठातारो भवेमेत्याह ॥ १ ॥ हे सोम! त्वमुपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि। हे ग्रह! त्वं सवितृदेवत्योऽसि। अत्यन्तं चान्नस्य धारयितासि। अतोऽन्नं मयिस्थापय। किञ्च— यज्ञं प्रीणय। यजमानं च तर्पय। ऐश्वर्य्यादिगुणयुक्ताय सर्वप्राणिनां प्रसवादिकर्त्रे देवाय त्वां गृह्णामीत्याह ॥ २ ॥

॥ अथ वैश्वदेवग्रहः ॥ ४ ॥

अभक्षितेनैव सावित्रग्रहपात्रेण पूतभृतः सकाशान्महावैश्वदेवग्रहं गृह्णात्यध्वर्य्युः। हे वैश्वदेवग्रह! त्वम्—

उपयामगृहीतोऽसि, सुशर्म्मासि सुप्रतिष्ठा, बृहदुक्षाय नमः।
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥
एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ८ । ८ ।

प्राणोऽसि। महते सेक्त्रे प्रजापतयेऽन्नं भवितुमर्हसि। विश्वेभ्यो देवेभ्यो ऽर्थाय त्वां गृह्णामि। तेभ्य एव च त्वां सादयामीत्याह ॥

"प्राणो वै सुशर्म्मा सुप्रतिष्ठानः" "प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः" ॥ इति च श्रुतिः। ४। ४। १। १९ ॥

॥ अथ पात्नीवतग्रहः ॥ ५ ॥

उपांश्वन्तर्यामपात्रयोरेकतरेण प्रतिप्रस्थाता पात्नीवतं ग्रहं गृह्णाति।

उपयामगृहीतोऽसि, बृहस्पति सुतस्य देव सोम त इन्द्रो
२॥
रिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ ऋध्यासम् ॥ १ ॥

हे दीप्यमान ! हे सोम ! महते यज्ञकर्म्मणः पत्या यजमानेनाभिषुतस्य, यद्वा— बृहस्पतयो ब्राह्मणास्तैरभिषुतस्य रसरूपस्य वीर्य्यवतः पत्नीसंयुक्तस्य तव सम्बन्धिनोऽन्यान् ग्रहानुपांशुप्रभृतीनहं सथर्द्धयेयम् इत्याह ॥

प्रचरणीशिष्टेनाज्येन पात्नीवतग्रहं मिश्रयेत् ।

अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत् ॥ १ । ८ । ९ ।

अहं परमात्मरूपः सन उपरि द्युलोकादौ अधस्तन्भूलोकादौ च तिष्ठामि । यश्च मध्यवर्ती लोकः स मे पितृवत्पालको भवति । अहं परमात्मरूपः सन्नुपरिष्टादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्य्यं पश्यामि । इन्द्रादीनां देवानां यदत्यन्तं गोप्ये हृदयेऽस्ति तदेवाहमस्मीत्याह ॥

पात्नीवतं ग्रहमग्नेरुत्तरभागे जुहोति—

अग्ना३ इ पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा ॥

हे अग्ने ! हे पत्नीयुक्त ! त्वष्ट्रा देवेन सहितस्त्वं सोमं पिब । सुहुतमस्तु इत्याह ॥

नेष्टा पश्चिमद्वारेण पत्नीं सदः प्रवेश्य उद्गातुरुत्तरतः स्थितां ताम् —"उद्गातारं पश्य" इति प्रेषयेत् । सा च तं पश्येत् ॥ हेउद्गातः ! —

प्रजापतिर्वृषासि, रेतोधा रेतो मयि धेहि ॥
प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधा मशीय ८ । १० ।

प्रजानां पालकस्त्वं सेक्ता भवसि । वीर्य्यस्य धारयिता चासि । स त्वं मयि वीर्य्यं स्थापय । ततो वीर्य्यसेक्तुर्वीर्य्यस्य धारयितुः प्रजापतेस्तवानुग्रहात् प्रजोत्पादनसमर्थं पुत्रं प्राप्नुयाम् इत्याह ॥

॥ अथ हारियोजनग्रहः ॥ ६ ॥

आग्रयणाद् द्रोणकलशे हारियोजनं गृह्णाति । हे ग्रह !

उपयामगृहीतोऽसि, हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा ॥

हरितवर्णोऽसि । हरी" इन्द्राश्वौ, तौ योजयितुरिन्द्रस्य सम्बन्धी चासि । तं त्वां ऋक्साममन्त्राभ्यां गृह्णामि । इत्याह ॥ "ऋक्सामे वै हरी । ऋक्सामाभ्यां ह्येनं गृह्णातीति श्रुतिः । ४ । ४ । ३ । ६ ॥

हारियोजने भ्रष्टयवान्निदध्यात् ।

हर्य्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्राय ॥ ८ । ११ ।

सोमेन सहिता यूयमिन्द्रस्य हरितवर्णयोरश्वयोः सम्बन्धिनो भ्रष्टयवाः स्थेत्याह ॥

सर्वऋत्विजो धाना आदाय मन्त्रेणावघ्राय उत्तरवेदौ क्षिपन्ति । हे धानासहित ! सोम ! भक्षद्रव्य !

यस्ते अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुष-स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि ८।१२।

यत् तव भक्षणमश्वदायकं, यच्च गोदायकम् । इष्टयजुषः, उद्गातृस्तुतस्तोत्रस्य, होतृशस्तशस्त्रस्य तस्य तवाभ्यनुज्ञातस्य तादृग् भक्षणमभ्यनुज्ञातोऽहं भक्षयामीत्याह ॥

अथ सर्वे प्रतिमन्त्रमग्नौ यूपशकलानि निदध्युः । हे शकल !

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ १ ॥

मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ २ ॥

पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ ३ ॥

आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ ४ ॥

एनस एनसोऽवयजनमसि ॥ ५ ॥

यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार, यच्चाविद्वांस्तस्य–

सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ ६ ॥ ८ । १३ ।

❀

अपरेण चात्वालं यथास्वं चमसानुदकपूर्णपात्रानवमृशन्ति हरितकुशानवधाय ।

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।

त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १ ॥ ८ । १४ ।

वयं ब्रह्मवर्चसेन, क्षीरादिरसेन, अनुष्ठानक्षमैः शरीरावयवैः, समीचीनेन कर्म-श्रद्धायुक्तेन मनसा च सङ्गता भवाम । किञ्च–शोभनदानस्त्वष्टादेवो धनानि विदधातु । अथ शरीरस्यास्मदीयस्य यन्न्यूनमङ्गं, तत्परिपूरयत्वित्याह ॥

❀ इमानेव चमसान् पूर्णपात्रानेकेऽप्सुपोढा इत्याचक्षते । इति शातपथी श्रुतिः ।



॥ अथ नव समिष्टयजूंषि ॥





नवभिर्मन्त्रैः समिष्टयजुःसंज्ञा नवाहुतीर्जुहुयात् ।

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः
सं सूरिभिर्मघवन् सं स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति
सं देवानां सुमतौ यज्ञियानां—स्वाहा ॥ १ ॥ ८ १५ ।

सं वर्चसा पयसा सं तनूभि
रगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायो
ऽनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम् ॥ २ ॥ ८ । १६ ।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां
प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया सं रराणा
यजमानाय द्रविणं दधात—स्वाहा ॥ ३ ॥ ८ । १७ ।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म
य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः ।

भरमाणा वहमाना हवींष्य-
स्मे धत्त वसवो वसूनि—स्वाहा ॥ ४ ॥ ८ । १८ ।

२।।
याँ आवह उशतो देव देवां-
स्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वे-
ऽसुं धर्म्मं स्वरातिष्ठतानु—स्वाहा ॥ ५ ॥ ८ । १९ ।
वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्
अग्ने होतारमवृणीमहीह ।
ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः
प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्—स्वाहा ॥ ६ ॥ ८ । २० ।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥
मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा वातेधाः । ७ ८ । २१ ।
यज्ञ यज्ञं गच्छ, यज्ञपतिं गच्छ, स्वां योनिं गच्छ, स्वाहा ।८।
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः
सर्ववीरस्तज्जुषस्व स्वाहा ६ । ८ । २२ ।

हे मघवन् ! हे इन्द्र ! यस्त्वमस्माननुग्रहेण वाग्भिर्गवादिपशुभिर्वा, पण्डितैर्होत्रादिभिः क्षेमेण, वेदेन, यज्ञकर्म्मणा, यज्ञसंबन्धिनां देवानामनुग्रहबुद्ध्या च संनयसि । तस्मै तुभ्यमेतद्धविः सुहुतमस्त्वित्याह ॥ १ ॥

वयं ब्रह्मवर्चसेन, क्षीरादिरसेन, विशिष्टशरीरावयवैः, प्रसन्नेन चेतसा च सङ्गता भवाम। किञ्च—दाता देवस्त्वष्टा धनानि ददातु। यदेव किञ्चिदस्मच्छरीरस्य यः क्षीणो भागस्तस्य क्षीणतां दूरीकरोत्वित्याह ॥ २ ॥

दानशीलो धाता च सविता च, निधिपालकः प्रजापतिश्चाग्निश्च, त्वष्टा च विष्णुश्चेदं दीयमानं हविः सेवन्ताम्। यजमानसम्बन्धिन्या सन्तत्या संरममाणास्ते यजमानार्थं धनं ददतु इत्याह ॥ ३ ॥

हे देवाः! ये यूयमिमं यज्ञं सेवमाना आगताः, तेषां युष्माकं स्थानानि सुखेन गन्तुं योग्यानि वयमकार्ष्म। इमानि च हवींषि पुष्णन्तो नयन्तश्च यूयं वसवोदेवा अस्मासु धनानि स्थापयतेत्याह ॥ ४ ॥

हे अग्ने! देव! हवींषि कामयमानान् यान् देवानाहूतवानसि। तान् तेषां स्वे स्वे सहवासस्थाने प्रस्थापय। यतः सर्वे यूयं देवाः सवनीयपशुपुरोडाशान भक्षितवन्तः, सोमं पीतवन्तश्च अथेदानीं वायुमण्डलमादित्यमण्डलं द्युलोकं वा यथास्थानमनुसरतेत्याह ॥५॥

हे अग्ने! वयं खलु इह दिने स्थाने वा अस्मिन् यज्ञे प्रवर्तमाने त्वां होतारं वृतवन्तः। स त्वं यज्ञं समृद्धयन्नयाक्षीः, समृद्धयन्नेव च विघ्नशान्तिमकार्षीः॥ विद्वानसि। स इदानीं यज्ञं समाप्तमवगच्छन् त्वमपि स्वस्थानं गच्छेत्याह ॥ ६ ॥

हे यज्ञवेत्तारो देवाः! यज्ञं ज्ञात्वा यज्ञं गच्छत। यद्वा हे मार्गवेत्तारो देवाः! यज्ञं समाप्तं विदित्वा मार्गं गच्छत। हे मनसस्पते! प्रजापते! हे देव! इममनुष्ठितं यज्ञं त्वद्धस्ते दधामि। त्वं च तं वायुदेवे स्थापयेत्याह ॥ ७ ॥

हे यज्ञ! त्वं स्वप्रतिष्ठार्थं विष्णुदेवं गच्छ। फलप्रदानेन च यजमानं प्राप्नुहि। स्वनिष्पत्यर्थं च स्वकारणभूतां वायोः क्रियाशक्तिं गच्छेत्याह ॥ ८ ॥

हे यज्ञपते ! यजमान ! सोमः पशुः सवनीयचरुपुरोडाशा वीरा उच्यन्ते । तैः सहितः स्तोत्रैश्च सहितः सोऽयमनुष्ठीयमानो यज्ञस्त्वदीयोऽस्ति । तं यज्ञं फलभोगेन सेवस्व । इदं सुहुतमस्तु—इत्याह ॥ ६ ॥

॥ इति नव समिष्टयजूंषि ॥

॥ अथ अवभृथाभ्यवायः ॥

यजमानहस्तस्था कृष्णमृगविषाणा, मध्येबद्धा मेखला चेत्युभे विस्रंस्य चात्वाले प्रास्यति । हे रज्जो ! त्वम्—

मा हिर्भूर्मा पृदाकुः ।

सामान्यसर्पो मा भूः । अजगरो वा सर्पविशेषो मा भूरित्याह ॥

अथावभृथाय जिगमिषुरध्वर्य्युश्चात्वालसमीपस्थं प्राङ्मुखं यजमानं वाचयेत् ।

उरुं हि राजा वरुणश्चकार
सूर्य्याय पन्थामन्वेतवा उ ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽक
रुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् ॥

यस्माद्द वरुणो राजैव सूर्य्यस्यानुक्रमेणान्वहं गन्तुमपदेऽन्तरिक्षे विस्तीर्णं मार्गं चकार। तस्मादस्माकमप्यन्तरिक्षे पादौ निक्षेप्तुं स्वर्गगमनाय मार्गं करोतु। अपि च पिशुनादिदुर्जनस्यापि तिरस्कर्ता स वरुणोऽवभृथाय मार्गं ददात्वित्याह ॥

अवभृथस्नानार्थमपः प्रवेशयन् यजमानं वाचयेत्—

नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः। ८। २३।

अप्सु समिध प्रक्षिप्य चतुर्गृहीतेनाज्येन तदुपरि जुहुयात्।

अग्नेरनीकमप आविवेशापांनपात् प्रतिरक्षन्नसुर्य्यम्।
दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा ।८।२४।

हे अग्ने! यस्य तवाग्नेरपांनपात्सञ्ज्ञं मुखं जलान्याविवेश, स त्वं तत्तद्यज्ञगृहे असुरैः कृतं यज्ञविघ्नं निवर्त्तयन् समिन्धनसाधनं घृतं यज। ततस्तव जिह्वा ज्वालात्मिका घृतं प्रति उच्चरतु इत्याह ॥ १ ॥

गतसारः सोम ऋजीपः। तेन पूर्णं कुम्भमप्सु प्लावयति। हे सोम!

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः॥
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमो वाके विधेम यत् स्वाहा॥ ८। २५।

यत्तव हृदयं समुद्रवद्बहुलोदकेषु मध्ये वर्त्तते। तत्र त्वां गमयामि॥ तत्रस्थं त्वा मोषधयः संविशन्तु। अपि च—जलानि त्वां संविशन्तु॥ हे यज्ञपालक! सोम! यज्ञस्य शोभनवचनोच्चारणे नमस्कारवचने च त्वां स्थापयामः। सुहुतमस्तु—इत्याह॥ १ ॥

इत्थमृजीपकुम्भं विसृज्योपतिष्ठते।

देवीरोप एष वो गर्भस्तं सुप्रीतं सुभृतं विभृत ।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व । ८ । २६ ।

हे देव्यः ! आपः ! एष सोमो युष्माकं गर्भस्थानीयः । तं साधुतर्पितं सुपुष्टं धारयत। हे सोम ! देव ! तवैष जललक्षणो लोकः । तस्मिन्नवस्थितस्त्वं सुखं वह तथा अस्मत्तः सर्वा आर्त्तीः परिवहेत्याह ॥

"तस्मिन्नः शं चैधि, सर्वाभ्यश्च न आर्तिभ्यो गोपाय" इति श्रुतिः ।४।४।५।२१॥

ऋजीषकुम्भं जलेमज्जयति ।

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ।
अवदेवै र्देवकृतमेनोऽयासिष—
मव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥

हे अवभृथ ! त्वं नितरां मन्दं गच्छ । यद्यपि त्वं नितरां चरणशीलोऽसि । तथाप्यत्र नितरां मन्दं गच्छ । यतो मदीयै रिन्द्रियैर्देवेषु हविःस्वामिषु कृतं पापं जलेऽवनीतवानस्मि । तथा मर्त्यैऋत्विग्भिर्मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं पापमप्यवनीतवानस्मि । तद्यथा त्वां न प्राप्नुयादिति । हे देव ! अवभृथाख्य यज्ञ ! बहुविरुद्धफलदायिनो वधादस्मान् पालयेत्याह ॥

स्नानानन्तरमाहवनीयमेत्य तस्मिन् समिधमादध्यात् । हे काष्ठ ! त्वम्—

देवानां समिदसि । ८ । २७ ।

देवानामुद्दीपनमसीत्याह ॥ अस्माकं वा देवभूतानां समिन्धनं भवसीत्याह ॥

अथअनुबन्ध्याया गर्भिणीत्वे प्रायश्चित्तम् ।

यदि वशा गर्भिणी स्यात्तदा विशसने मातुः सकाशात् पृथक् क्रियमाणं गर्भमभि मन्त्रयेत—

"एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति ।
एवाऽयं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह" । ८ । २८ ।

दशमासकालावच्छिन्न इवायं गर्भो गर्भवेष्टनेन । सह चलतु । येन प्रकारेणायं वायुः प्रचलति, येन चायं समुद्रः प्रचलति, तथैवायमपि गर्भो दशमास्यभावेन जरायुणा समुद्रः निर्गच्छतु—इत्याह ॥

तमेतदप्यदशमास्यं सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति—
इति श्रुतिः । ४ । ५ । २ । ४ ॥

वशावदानानि हुत्वा गर्भरक्तं जुहुयात् हे वशे !

"यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी ॥
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमं—स्वाहा ॥१॥८।२६ ।

यस्यास्तव गर्भो यज्ञार्हः । यस्यास्तव योनिः सुवर्णमयी । तादृशीं त्वां गर्भेण सङ्गमयामि । यस्य च गर्भस्य अङ्गानि अकुटिलान्यखण्डितानि तं गर्भजनन्याऽनुबन्ध्या-रूपया सङ्गमयामीत्याह ॥

प्रचरण्यां स्रुचि प्रतिप्रस्थाता सर्वं गर्भरसमवदायाध्वर्युणा स्विष्टकृद्धोमे कृते सति जुहुयात् ॥

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानञ्ज धीरः ॥
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं
भुवनानु प्रथन्ताम्–स्वाहा ॥ ८ । ३० ।

बहुदानो बहुरूपोऽन्तरुदरस्थो मेधावी चेत्येवं महत्वशीलः सोमः—सोमसदृशोऽयं गर्भो वा महत्त्वं व्यक्तीकरोतु । तस्य गर्भस्य मातरमनुबन्ध्यां भुवनानि भूतजातान्यनु—वपयैकपदीं, वपयाऽङ्गैश्च द्विपदीं, मुख्यइहोमैस्त्रिपदीं, पत्नीसंयाजैश्चतुः पदीं, स्वपादैर्गर्भपादैश्चाष्टापदीं गणयित्वा मख्यातां कुर्वन्तु । सुहुतमस्त्वित्याह ॥

समिष्टयजुर्होमान्ते शामित्राग्नावेव स्वाहान्तेन मन्त्रेणोष्णीषवेष्टितं गर्भं जुहोति । मन्त्रान्ते स्वाहाकारमनुच्चार्यजुहुयात् ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥ ८ । ३१ ।

द्युलोकसम्बन्धिना विशिष्टेन तेजसा युक्ताः ! यद्वा—द्युलोकस्य पूजयितारः ! हे मरुतः ! यस्य यजमानस्य यज्ञगृहे यूयं सोमपान कुरुथ । निश्चितं स जनः अत्यन्तोत्तमरक्षकयुक्तो भवतीत्याह ॥

शामित्रे क्षिप्तं गर्भमङ्गारैश्छादयेत् ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् पिपृतां नो भरीमभिः ॥८।३२॥

महती द्यौरियं पृथ्वी चास्माकमिमं यज्ञं स्वैः स्वैर्भागैः सेक्तुमिच्छताम् । भरणैर्हिरण्यपशुधान्यादिभिश्चास्मदीयं गृहं पूरयतामित्याह ॥

॥ ❀ ॥ इत्यग्निष्टोमाधिकारः ॥ (१) ॥ ❀ ॥

॥ अथ षोडशी स्तोमः ॥



प्रातःसवने आग्रयणग्रहणानन्तरमाग्नेयमतिग्राह्ममादाय चतुःकोणेन खादिरोलूखलेन षोडशिग्रहं गृह्णीयादनेन ।

आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी ।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ १ ॥ ८ । ३३ ।

हे वृत्रहन् ! इन्द्र ! तव हरितवर्णावश्वौ मन्त्रेण रथे संयुक्तौ । अतस्त्वं रथमारोह। सोमाभिषवपाषाणो रथारूढस्य तव मनोऽस्मद्यज्ञाभिमुखं श्रवणीयेन सोमाभिषवशब्देन सुतरां करोतु इत्याह ॥ हे सोम ! षोडशस्तोत्रवते इन्द्राय त्वां गृह्णामि । तस्मै च त्वां सादयामीत्याह ॥ १ ॥

अथवा अनेन षोडशिग्रहं गृह्णीयात् ।

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ १ ॥ ८ । ३४ ।

हे इन्द्र ! प्रलम्बकेसरौ, सेक्तारौ तरुणौ वा, तथा स्थूलावयवत्वा दश्वसन्नाहरज्जु-

पूरकौ त्वदीयौ हरितवर्णाश्वौ निश्चितं रथेन संयोजय ॥ तदनन्तरं सोमपानं कुर्वन् अस्म-दीयानामृग्यजुः सामलक्षणानां वाचामुपश्रवणं प्राप्नुहीत्याह ॥ १ ॥

अथवा अनेन षोडशिग्रहं गृह्णीयात्—

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् ॥
ऋषीणां च स्तुतीरूप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ८ ॥ ३५ ।

हरितवर्णाश्वौ यस्य बलं प्रतिधर्षयितुमशक्यं तमिन्द्रमेव वसिष्ठादीनां मुनीनां स्तुतिसमीपे यजमानानां यज्ञसमीपे च प्रापयत इत्याह ॥ १ ॥

षोडशिग्रहमुपतिष्ठते ॥

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति
य आविवेश भुवनानि विश्वा ॥
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्—
त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ २ ॥ ८ । ३६ ।

यस्मादन्यः संभूत उत्कृष्टो न विद्यते । यश्च सर्वाणि भूतजातानि प्रविष्टवान् । स प्रजापतिः अग्निवायुसूर्य्यलक्षणानि त्रीणि तेजांसि सेवते । प्रजारूपेण सम्यग् रममाणश्च । स षोडशकलात्मकलिङ्गशरीरोपहितः परब्रह्मरूप इत्याह ॥

अथ षोडशिग्रहं भक्षयति । हे षोडशिग्रह !

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा
तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम् ॥
तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि—
वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु
सह प्राणेन स्वाहा ॥ ८ ॥ ३७ ।

वाजपेययाजी इन्द्रः—राजसूययाजी वरुणः—एतौ देवौ तत्र एतं सोमं प्रथमं भक्षं चक्रतुः । तयोरिन्द्रावरुणयोर्भक्षणोत्तरमहं सोमं पिबामि । तेन मदीयेन भक्षेण सेवमाना सरस्वती प्राणदेवतया सह सोमेन तृप्ता भवतु । सुहुतमस्तु—इत्याह ॥

"राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राड् वाजपेयेन" इति श्रुतिः ५ । १ । १ । १३ ॥

इति षोडशि यागसम्बन्धिनो मन्त्राः ॥

इति षोडशियागाधिकारो द्वितीयः ॥ २ ॥



॥ * ॥ अथ द्वादशाहः ॥ * ॥



अस्ति कश्चित् पृष्ठ्यः षडहाख्यः क्रतुः । स च षड्भिरहोभिर्निष्पाद्यते । तत्र पूर्वस्मिन्नहस्त्रये अतिग्राह्यग्रहग्रहणमन्त्रास्तत्तद्ग्रहशेषभक्षणमन्त्राश्च क्रमेणात्र दर्श्यन्ते । तथा च प्रथमं तावदतिग्राह्यग्रहं गृह्णीयादनेन—

(१) अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्य्यम् ।
दधद्रयिं मयि पोषम् ॥
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसे ॥
एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे ॥ ८ । ३७।

हे अग्ने ! सुकर्म्मा त्वमस्मासु शोभनसामर्थ्योपेतं ब्रह्मवर्चसं प्रापय । मयि यजमाने धनं धारयन् पुत्रपश्वादिसमृद्धिं प्रवर्त्तयेत्याह ॥ हे सोम ! तेजस्विनेऽग्नये त्वां गृह्णामि सादयामि चेत्याह ॥ १ ॥

अथैनं भक्षयति—

अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वांस्त्वं देवेष्वसि ।
वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ १ ॥ ८ । ३८ ।

हे विशिष्टतेजोयुक्त ! अग्ने ! त्वमिन्द्रादिदेवगणमध्येऽतिदीप्तिमानसि । त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्यलोकमध्ये ब्रह्मवर्चससम्पन्नो भवेय मित्याह ॥

(२) अथ द्वितीयम् अतिग्राह्यग्रहं गृह्णीयादनेन—

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ॥
सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥२॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसे ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे ॥

हे इन्द्र ! अधिषवणचर्म्मणि अभिषुतं सोमं पीत्वा त्वं बलेन सहोत्तिष्ठन् हनू-नासिके वा कम्पितवानसि—इत्याह ॥

अथैनं भक्षयति—

इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि ।
ओजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् । ८ । ३९ ।

(३) अथ तृतीयमतिग्राह्यग्रहं गृह्णीयादनेन ।

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥
उपयामगृहीतोऽसि सूर्य्याय त्वा भ्राजाय ॥
एष ते योनिः सूर्य्याय त्वा भ्राजाय ॥

अस्य सूर्य्यस्य सर्वपदार्थज्ञानहेतवः किरणाः सर्वजनानुगता अदृश्यन्त । यथा ज्वलन्तो वह्नयो दृश्यन्ते तद्वदित्याह ॥

अथैनं भक्षयति ।

सूर्य्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि ।
भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ८ । ५० ।

इति द्वादशाह गता मन्त्राः पूर्णाः ॥

इति द्वादशाहाधिकार स्तृतीयः ॥ ३ ॥

इति अग्निष्टोमः, षोडशी, द्वादशाहः—

इत्यधिकारत्रयघटितो ज्योतिष्टोमपरिच्छेदो द्वितीयः समाप्तः ॥



अथ गवामयनसत्रम् ॥

॥ विषुवदहः ॥

गवामयनस्य सम्वत्सरसत्रस्य विषुवन्नामके मध्यमेऽहनि सौर्य्यपशूपालम्भादूर्ध्व—मतिग्राह्यग्रहं गृह्णाति ।

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥
उपयामगृहीतोऽसि सूर्य्याय त्वा भ्राजाय ।
एष ते योनिः सूर्य्याय त्वा भ्राजाय ॥ ८ । ४१ ।

किरणाः सर्वस्य दर्शनाय जातप्रज्ञं तं सूर्य्यं देवमुद्गमयन्ति इत्याह ॥

॥ गर्गत्रिरात्रम् ॥

गर्गत्रिरात्रादावहीने त्रिसुत्ये गोसहस्रं दक्षिणाऽस्ति । तत्र सहस्रसंख्यापूरणी धेनुः, तां हविर्धानाग्नीध्रयोर्म्मध्यस्थां द्रोणकलशमाघ्रापयति ।

आजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः ।
पुनरूर्जा निवर्त्तस्व, सा नः सहस्रं धुक्ष्वो—
रुधारा पयस्वती पुनर्म्मा विशताद्रयिः ॥ ८ । ४२ ।

हे महि ! धेनो ! त्वं द्रोणकलशाख्यं पात्रमाजिघ्र । द्रोणकलशस्थाः सोमास्त्वां प्रविशन्तु । विशिष्टरसेन च पयोभूतेन सह पुनरस्मान् प्रति निवर्त्तस्व । सा त्वमस्माकं सहस्रं धनं देहि, यद्वा—अस्माभिर्दत्तं गवां सहस्रं पुनरस्मभ्यं देहि । बहुपयोयुक्ता धेनुर्म्मां पुनरागच्छतु । धनमपि मामाविशतादित्याह ॥

अथास्या धेनोर्दक्षिणकर्णे यजमानो जपति ।

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति ।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ ८ । ४३ ।

हे धेनो ! इडा, रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदितिः, सरस्वती, मही, विश्रुतिः, अघ्न्या,—इत्येतानि तव नामानि भवन्ति । एतैरभिहिता सती त्वं मां शोभन—कर्म्मकारिणं देवेभ्यो ब्रूहि । इत्याह ॥



महाव्रतमहः ।



{ ऐन्द्रग्रहः ॥ १ ॥
{ वैश्वकर्म्मणः ॥ १ ॥

गवामयनस्योपान्त्ये महाव्रतेऽहनि प्राजापत्यपशूपालम्भादूर्ध्वमैन्द्रग्रहं गृह्णीयादनेन

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ १ ॥

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधे ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे ॥ १ ॥ ८ । ४४ ।

हे इन्द्र ! अस्माकं संग्रामान् शत्रून् वा विशेषेण नाशय । सेनाभियोगमिच्छतः शत्रून् न्यग्भूतान् निगृह्णीष्व । यश्चान्योऽस्मानुपक्षयति तं शत्रुं निकृष्टं नरकं प्रापयेत्याह ॥ १ ॥

अथवाऽनेन गृह्णीयात्—

वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्म्मा ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्म्मणे ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्म्मणे ॥ २ ॥ ८ । ४५ ।

समस्तानि जगदुत्पत्त्यादीनि यस्य कर्म्माणि तं वाचोऽधिपतिं मनोवद्वेगयुक्तमिन्द्रं रक्षणाय महाव्रतीयलक्षणान्नविषये अद्य वयमाह्वयामः । सर्वसुखोत्पादकः स इन्द्रोऽस्माकं सर्वाण्याह्वानानि रक्षणायान्नसमृद्ध्यर्थं सेवतामित्याह ॥

अथवा ऽनेन गृह्णीयात्—

विश्वकर्म्मन् हविषा वर्द्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्म्मणे ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्म्मणे ॥ ३ ॥ ८ । ४६ ।

हे विश्वकर्म्मन् ! वर्द्धमानेन वर्द्धयित्रा वा हविषा त्वमिन्द्रं जगतो रक्षकमप्रतिभटं चाकरोः । तस्मै इन्द्राय पूर्वे वसिष्ठादयो मनुष्याः सम्यङ् नताः । यतः कारणात् अयमिन्द्रः उद्गूर्णवज्रो विविधेषु कार्य्येष्वाह्वयमानः समभूत्—इत्याह ॥ ३ ॥

---

१ अंशुग्रहः ॥
२ अदाभ्यग्रहः ॥

यस्मिन्नौदुम्बरे पात्रे अंशुर्गृहीतः, तस्मिन् होतृचमसस्था निग्राभ्यासंज्ञा अप आनीय तस्मिंस्तिस्रः सोमलताः प्रक्षिप्य अग्नये त्वेत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैः क्रमेणादाभ्यं ग्रहं गृह्णाति ॥ मन्त्रैः सोमलताप्रक्षेपो वा ॥ उपयामस्त्रिष्वप्यादावनुषञ्जनीयः सर्वशेषत्वात् ॥

अनुष्टुविति सर्वान्ते पठेत् ॥

उपयामगृहहीतोऽसि ।—
अग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामि । १ ।
इन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि । २ ।
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णामि ॥ ३ ॥
अनुष्टुप् तेऽभिगरः ॥ ८ । ४७ ।

हे सोम ! त्वमुपयामग्रहेण गृहीतोऽसि । हे ग्रह ! गायत्रीछन्दसं त्वामग्नये । त्रिष्टुप्छन्दसं त्वामिन्द्राय । जगतीछन्दसं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय गृह्णामि । हे सोम ! अनुष्टुप्छन्दस्त्वाभिष्टवः—इत्याह ॥

आहवनीयसमीपं गच्छन्नंशुभिरदाभ्यग्रहस्थानि जलानि चालयेत्। ततस्तस्मै त इति जुहोति ॥

ओशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि।
कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि।
भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि।
मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि।
मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि।
शुक्रं त्वा शुक्र आधूनोम्यह्नो रूपे सूर्य्यस्य रश्मिषु ।८।४८।
ककुभं रूपं वृषभस्य रोचते
बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः,
यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि।
तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ॥ ८। ४९।

हे सोम! मेघोदरस्थानामपां, तथा-शब्दं कुर्वाणानां अद्रीभवतां मेघस्थानामपां[२] तथा—कल्याणकारिणीनां सुखयित्रीणां वा मेध्यानामपां[३] तथा—अत्यतं तर्पयन्तीनां मेध्या-नामपां[४] तथा अत्यन्तं मधुस्वादोपेतानां मेध्यानामपां पतनेऽर्थे त्वां चालयामि। शुद्धं त्वां शुद्धे निग्राभ्यालक्षणे जले चालयामि। हे सोम! दिवसस्य रूपे सूर्य्यस्य रश्मिषु त्वां चालयामि ॥ १ ॥ हे सोम! श्रेष्ठस्य तव महदादित्यलक्षणं रूपं दीप्यते। महानयं शुद्ध आदित्यः शुद्धस्य सोमस्य तव पुरोगामी। सोम एव सोमस्य पुरो गामी भवितुमर्हति! हे सोम! त्वदीयमनुपहिंसितं जागरण शीलं यन्नामास्ति तस्मै त्वां गृह्णामि। हे सोम! तादृशाय तुभ्यं सुहुतमस्तु-इत्याह ॥ तत्सोममेवैतत्सोमाय जुहोतीति-श्रुतिः ।११।५।६।११॥

मन्त्रत्रयेणोलूखलस्थानंशून् सोमे क्षिपेत् ।—

उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथो पीहि ॥ १ ॥

वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीहि ॥ २ ॥

असमत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ॥३॥८।५०।

अग्निर्वै प्रातः सवनमिन्द्रो माध्यन्दिनं सवनं विश्वेदेवास्तृतीयं सवनमिति श्रुतेः सवनदेवेभ्योऽर्पणमेतत् ॥

अथ सत्रोत्थानम् ॥

सर्वेषु दीक्षितेष्वध्वर्युस्पृष्टेष्विदानीन्तनगार्हपत्ये घृतं जुहुयात्—

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ॥ १ ॥

अत्रैव शालाद्वार्य्ये पुनर्जुहोति—

उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणे मातरं धयन् ।
रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा ॥ २ ॥ ८ । ५१ ।

हे गावः ! युष्माकमिह यजमाने रमणमस्तु । इहैव यूयं रमध्वम् । युष्माकमिह

यजमाने सन्तोषोऽस्तु—स्वकीयानामपि धृतिरिहैवास्तु इत्याह ॥ १ ॥ मातुः पृथिव्या धारयितारमग्निं समीपं प्रापयन्—मातरं पितरश्चेति पृथिव्युत्पन्नं हविर्भक्षयन् धारयिताग्निरस्मासु पशुपुत्रसुवर्णादिः पुष्टिं धारयतु—इत्याह ॥ २ ॥

सर्वे दीक्षिता उत्तरहविर्धानापरकूबरीमालम्ब्य सत्रस्यर्द्धिं गायन्ति ।

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम ॥
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः ॥८।५।२।

हे सोम ! सत्रस्य समृद्धिस्त्वमसि । अतो वयं यजमाना ज्योतिरादित्यलक्षणं प्राप्ताः । ततश्चामरणधर्म्मा भूताः । पृथिव्याः सकाशाद् द्युलोकमध्यारूढाः । ततो देवानिन्द्रादीन् जानीमः । ज्योतीरूपं स्वर्गं चेत्याह ॥ सर्वे यजमाना दक्षिणहविर्धानाक्षाधोमार्गेण प्राङ्मुखा निःसरन्ति ।

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा
यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धतं, वज्रेण तन्तमिद्धतम् ।
दूरे चत्ताय छँत्सद्गहनं यदि नक्षत् ।
अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्म्मा दर्षीष्ट विश्वतः ॥

हे शत्रूणां पुरतो युद्धस्य कर्तारौ ! हे इन्द्रपर्वतौ ! युवां तं शत्रुं विनाशयतम् । यः शत्रुरस्मान् योधयेत् । तं तमेव विनाशयतम् । वज्रायुधेन तं तमेव विनाशयतम् ॥

हे शूर ! इन्द्र ! त्वदीयोवज्रो यदा अत्यन्तगभीरं वनं जलं वा प्रति दूरे गताय

शत्रवे कामयते तदा तमपि दूरगत माप्नुयात् । ततो विदारणशीलो वज्रोऽस्मदीयान् सर्वतः स्थितान् सर्वान् शत्रून् परिदर्शीष्टेत्याह ॥

नाना कामेषु यजमानेषु सर्वे वाग् विसर्जनं कुर्य्युः-

भूर्भुवः स्वः—सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम ।
सुवीरा वीरैः, सुपोषाः पोषैः ॥ ८ ।५३ ।

हे अग्निवायुसूर्य्याः ! अस्माकं प्रजाः पुत्राः पुष्टयश्च स्युरित्याह ॥

॥ इति सत्रोत्थानम् ॥

॥ ❀ ॥ अथ प्रायश्चित्तानि कथ्यन्ते ॥ ❀ ॥



मृन्मयघर्म्मपात्रभेदे भिन्नमभिमृश्य "परमेष्ठिनेस्वाहा" "प्रजापतये स्वाहा" इत्यादीन्—सलिलाय स्वाहेत्यन्तान् चतुस्त्रिंशद्धोमान् जुहोति । घर्म्मदुहो गोर्मरणे तत्स्थाने उदङ्मुख्याः स्थितायाः पत्नीशालापूर्वभागे प्राङ्मुख्या वा पुच्छाद्दक्षिणेऽस्थनि परमेष्ठिने स्वाहेति चतुस्त्रिंशतमाज्याहुतीर्हुत्वा तां दोहयेत् । केचित्तु स्थालीस्थस्य स्रुकस्थस्य वा पृषदाज्यस्य वा भ्रंशे परमेष्ठ्यादीन् जुहति ॥

परमेष्ठ्यभिधीनः । १ । प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायाम् । २ ।
अन्धो अच्छेतः । ३ । सविता सन्याम् । ४ ।
विश्वकर्मा दीक्षायाम् । ५ । पूषा सोमक्रयण्याम् ।६। ८।५५।
इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितः ।७। असुरः पण्यमानः । ८ ।
मित्रः क्रीतः । ९ । विष्णुः शिपिविष्ट ऊरावासन्नः । १० ।
विष्णुर्नरन्धिषः (८ । ५५ ।)प्रोह्यमाणः ।११। सोम आगत ।१२।
वरुण आसन्द्यामासन्नः । १३ । अग्निराग्नीध्रे । १४ ।
इन्द्रो हविर्धाने । १५ । अथर्वोपावह्रियमाणः । १६ । (८।५६।)
विश्वेदेवा अंशुषुन्युप्तः । १७ । विष्णुराप्रीतपा आप्याय्यमानः ।१८
यमः सूयमानः । १९ । विष्णुः सम्भ्रियमाणः । २० ।
वायुः पूयमानः । २१ । शुक्रः पूतः । २२ ।
शुक्रः क्षीरश्रीः । २३ । मन्थी सक्तुश्रीः । २४ । (८ । ५७ ।)
विश्वे देवाश्चमसेषून्नीतः । २५ । असुर्होमायोद्यतः । २६ ।
रुद्रो हूयमानः । २७ । वातोऽभ्यावृत्तः । २८ ।
नृचक्षाः प्रतिख्यातः । २९ । भक्षो भक्ष्यमाणः । ३० ।
पितरो नाराशंसाः सन्नः । ३१ ।(८ ।५८।) सिन्धुरवभृथायोद्यतः।३२।
समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः । ३३ । सलिलः प्लुतः । ३४ ।

सोमो यजमानेन मनसाभिध्यातः परमेष्ठी भवति । परमेष्ठिने स्वाहा । १ । **सोमेन** यक्ष्ये इति वचस्युच्चारिते सोमः प्रजापतिर्भवति । प्रजापतये स्वाहा । २ । **आभिमुख्येन** प्राप्तः सोमः अन्धो भवति । अन्धसे स्वाहा । ३ । सोमस्य सम्भक्तौ सत्यां

सोमः सविता भवति । सवित्रे स्वाहा । ४ । दीक्षायां सत्यां सोमो विश्वकर्म्मा भवति । विश्वकर्म्मणे स्वाहा । ५ । यया सोमः क्रीयते तस्यां गव्यानीतायां सोमः पूषा भवति । पूष्णे स्वाहा । ६ । द्रव्यदत्वा आत्मसात्कारणायोपस्थापितः सोमः इन्द्रामरुत्सञ्ज्ञो भवति । इन्द्राय मरुद्भ्यश्च स्वाहा । ७ । क्रीयमाणः सोमोऽसुरो भवति । असुराय स्वाहा । ८ । क्रीतः सोमो मित्रो भवति । मित्राय स्वाहा । ९ । यजमानस्योत्सङ्गे स्थितः सोमः शिपिविष्टो विष्णुर्भवति । विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा । १० । शकटेनोह्यमानः सोमो नरन्धिषो विष्णुर्भवति विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहा । ११ । शकटादवरूढः सोमस्सोमो भवति । सोमाय स्वाहा । १२ । मञ्चिकायामुपविष्टः सोमो वरुणो भवति । वरुणाय स्वाहा । १३ । आग्नीध्रे वर्तमानः सोमो अग्निर्भवति । अग्नये स्वाहा । १४ । हविर्द्धाने वर्तमानः सोम इन्द्रो भवति । इन्द्राय स्वाहा । १५ । हृदे त्वा मनसे त्वेति मन्त्रेण कण्डनार्थमानीयमानः सोमोऽथर्वा भवति । अथर्वणे स्वाहा । १६ । सोमखण्डेषु कण्डनं कृतवारोपितः सोमो विश्वदेवो भवति । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । १७ । अंशुरंशुष्ट इत्यादिमन्त्रेण वर्द्धमानः सोम आप्रीतपा विष्णुर्भवति । विष्णवे आप्रीतपाय स्वाहा । १८ । अभिषूयमाणः सोमो यमो भवति । यमाय स्वाहा । १९ । सम्यक् पुष्यमाणः सोमो विष्णुर्भवति । विष्णवे स्वाहा । २० । दशापवित्रेण पूयमानः सोमो वायुर्भवति । वायवे स्वाहा । २१ । पूतः सोमः शुक्रो भवति । शुक्राय स्वाहा । २२ । दुग्धेन मिश्रितः सोमः शुक्रो भवति । शुक्राय स्वाहा । २३ । सक्तुभिर्मिश्रितः सोमो मन्थी भवति । मन्थिने स्वाहा । २४ । ग्रहपात्रेषु गृहीतः सोमो विश्वदेवसंज्ञो भवति । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । २५ । होमार्थमुद्यतः सोमोऽसुसंज्ञो भवति । असवे स्वाहा । २६ । हूयमानः सोमो रुद्रो भवति । रुद्राय स्वाहा । २७ । होमशेषीभूतः सदः प्रति भक्षणार्थमानीतः सोमो वातो भवति । वाताय स्वाहा । २८ । ब्रह्मन्नुपह्वयस्वेत्यादिना भक्षणार्थं पृष्टः सोमो नृचक्षा भवति । नृचक्षसे स्वाहा । २९ । पीयमानः सोमो भक्षो भवति । भक्षाय स्वाहा । ३० । भक्षयित्वा स्वखरेषु सादितः सोमो नाराशंसाः पितरो भवन्ति । पितृभ्यो

नाराशंसेभ्यः स्वाहा । ३१ । अवभृथार्थमुद्यतः सोमः सिन्धुर्भवति । सिन्धवे स्वाहा । ३२ । जलमधि मुखं नीयमानः सोमः समुद्रो भवति । समुद्राय स्वाहा । ३३ । अप्सु निमग्नः सोमः सलिलो भवति । सलिलाय स्वाहा । ३४ ।

एते हि परमेष्ठ्यादयो देवा यज्ञस्य शरीराणि । तस्मात्तत्तदवस्थायां होमे यज्ञ-श्चिकित्सितः प्रतिसंहितो भवति । अत एवाह—

"सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिः । तस्यैतास्तन्वो या एता देवताः । या एता आहुतीर्जुहोति-स, यद्व यज्ञस्यर्च्छेद्, यां तत्पतिदेवतां मन्येत, तामनु समीक्ष्य जुहुयात्-यदि दीक्षोपसत्स्वाहवनीये यदि प्रसुत आग्नीध्रे वि वा एतद्व यज्ञस्य पर्व स्रंसते, यद्धलति । सा यैव तर्हि तत्र देवता भवति, तयैवैतद्देवतया यज्ञं भिषज्यति, तया देवतया यज्ञं प्रतिसन्दधातीत्युपक्रमश्रुतिः । १२ । ५ । १ । १ । २ । ता वा एताश्चतुस्त्रिंशतमाज्याहुतीर्जुहोति । त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः, प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः, एतद्व सर्वैर्देवैर्यज्ञं भिषज्यति, सर्वैर्देवैर्यज्ञं प्रति-सन्दधातीत्युपसंहारश्रुतिश्च । १२ । ५ । १ । ३७ ॥

कालाहुतिहोमं वाचनं च कृत्वा स्कन्नं रसरूपं सोमंजलेन सिञ्चेत् ।

> ययोरोजसा स्कभिता रजांसि—
> वीर्य्येभिर्वीरतमा शविष्ठा ॥
> या पत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णू
> अगन् वरुणा पूर्वहूतौ ॥ १ ॥ ८ । ५९ ।

ययो र्विष्णुवरुणयोर्बलेन लोकाः स्तम्भिताः । किञ्च—बलैरत्यन्तं वीरौ अति-बलैरनन्ययोध्यौ च यौ विष्णुवरुणौ ईशाते । तौ विष्णुवरुणौ वरुणविष्णू वा प्रति पूर्व-स्मिन्नेवाह्वाने स्कन्नं हविर्गतमित्याह ॥ १ ॥

सोमे स्कन्नेऽभिमर्शनं करोति ।

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु ॥ १ ॥
मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु ॥ २ ॥
पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु ॥ ३ ॥
यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ ४ ॥ ८।६०।

अयं यज्ञो देवान् वाय्वादीन् प्राप्य द्युलोकमगच्छत् । ततो द्युलोकस्थाद् यज्ञाद् यज्ञफलभूतं विशिष्टभोगसाधनरूपं धन मां व्याप्नोतु । अथ द्युलोकादवरोहणकाले मनुष्यलोकमागच्छन् यज्ञोऽन्तरिक्षलोकं गतः । तत्र स्थितादपि यज्ञाद् यज्ञफलंद्रविणं मां व्याप्नोतु । दक्षिणायने तु अयं यज्ञो धूमादिमार्गेण पितॄन् प्राप्य भूलोकमगच्छत् । तत्र स्थितादपि यज्ञाद् यज्ञफलभूतं धनं मां व्याप्नोतु । किं बहुना—यं कमपि लोकं यज्ञो गतस्तस्माद्यज्ञात् मम कल्याणं भूयादित्याह ॥

अथ महावीरभेदे घृतहोमः शाखान्तरे ।

चतुस्त्रिंशत् तन्तवो ये वितत्निरे
य इमं यज्ञं स्वधया ददन्ते ॥
तेषां छिन्नं सम्वेतद्दधामि—
स्वाहा घर्म्मो अप्येतु देवान् ॥ १ ॥ ८ । ६१ ।

ये परमेष्ठ्यादयश्चतुस्त्रिंशत्संख्याका देवा इमं यज्ञं वितेनिरे । ये चेमं यज्ञमन्नेन धारयन्ति । तेषां यज्ञं वितन्वतां देवानां यत् छिन्नं, तदेतदहं सन्दधामि । अनेन घृतहोमेन महावीरः संहितो भवतु । संहितश्चायं घर्म्मो महावीरो देवान् प्रति गच्छतु-इत्याह ॥

सोमयागे यज्ञाङ्गविनाशे परमेष्ठ्यादिचतुस्त्रिंशदाहुतीनां मध्ये यथाकालमेकैकामाहुतिं हुत्वा यजमानं वाचयेत् ॥

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा
सो अष्टधा दिवमन्वाततान
स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायां
रायस्पोषं विश्वमायुरशीय, स्वाहा । १ । ८ । ६२ ।

हे यज्ञ ! यस्य यजनीयस्य तवाहुतिपरिणामः स प्रसिद्धो यज्ञ फलरूपो बहुप्रसृतः सन् दिग्भेदेनाष्टधा भिद्यमानो भूमिमन्तरिक्षं च व्याप्य स्वर्गमनुव्याप । ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य भूतग्रामस्य यज्ञपरिणामत्वादिति । स त्वं मम सन्ततौ महिमानं देहि—महान्तं दोहं वा धुक्ष्व । अहं च त्वत्प्रसादाद्—धनपुष्टिं सर्वमायुश्च व्याप्नुयामित्याह ॥

पशौ सोमे च यूपस्य काकारोहणे उद्गाता होमं कुर्यात्—

आपवस्व हिरण्यवदश्ववत् सोम वीरवत् ॥
वाजं गोमन्तमाभर—स्वाहा ॥ १ ॥ ८ । ६३ ।

हे सोम ! त्वं सुवर्णयुक्तमश्वयुक्तं वीरयुक्तं च यथा भवति तथा आगच्छ । तथा धेनुयुक्तमन्नमाहर । मह्यं स्वर्णाश्ववीरान् अन्नं धेनूंश्च देहीत्याह ॥

इति प्रायश्चित्तानि समाप्तानि ॥

इति गवामयनयागसम्बन्धिमन्त्राः कृतार्थाः॥

॥ द्वितीयं मण्डलं समाप्तम् ॥

संहितायामष्टमाध्याय पूर्तिः ॥ ८ ॥

॥ शिवम् ॥

❁ अथ तृतीयमण्डले ❁

वाजपेयाधिकारः ॥ १ ॥

संहितायां नवमाध्यायारम्भः ।

तत्र वाजपेयाङ्गभूतानां यजतीनां दीक्षणीयाप्रायणीयादीनामादिषु सकृद्गृहीतमाज्यं जुहोति—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु
वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु—स्वाहा ॥ ९ । १ ।

हे सवितः सर्वप्रेरकान्तर्यामिन ! हे देव ! वाजतेयलक्षणं यागं प्रवर्तय–यजमानं चैश्वर्य्याय प्रेरय । (एवं मण्डलाधिष्ठातारं पुरुषमुक्त्वेदानीं मण्डलं प्रत्याह ।) त्वत्प्रसादाद् दिवि भवो रश्मीनां धारयिता अन्नस्य पावयिता सूर्य्यमण्डलरूपो देवोऽस्माकमन्नं हविर्लक्षणमास्वादयतु सुहुतमस्तु इत्याह ॥ १ ॥

प्रातःसवने आग्रयणानन्तरं त्रीनतिग्राह्यानादाय षोडशिनं चादाय पञ्चैन्द्रदेवत्यान् ग्रहान् गृह्णीयात्—

ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनः सदम्—
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णामि ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ १ ॥

अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदम्—
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णामि ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ २ ॥
पृथिविसदं त्वान्तरिक्षसदं दिविसदम्—
देवसदं नाकसदम्—
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णामि
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ३ ॥ ६ । २ ।

हे सोम ! उपयामो ग्रहः तेन त्वं गृहीतोऽसि—इन्द्रस्य प्रियं त्वां ध्रुवेऽस्मिन् लोके सीदन्तं मनुष्येषु सीदन्तं मनसि सीदन्तं तथा उदके घृते व्योम्नि च सीदन्तम्—एवं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि देवेषु स्वर्गेषु च सीदन्तं त्वां गृह्णामि ॥ १ ॥ (अथ सादयति)हे ग्रह ! एष खरप्रदेशस्तव स्थानम्—इन्द्रस्य–प्रियंतमं त्वां सादयामीत्याह ॥ २ ॥

अपां रसमुद्वयसं सूर्य्ये सन्तं समाहितम् ।
अपां रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तमम् ॥
उपयामगृहीतोऽसि इन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णामि–
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ४ । ६ । ३ ।
ग्रहा ऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम् ।
तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जं समग्रभम् ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णामि—
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ५ ॥

सूर्ये संस्थापित सन्तमुदकानां सारं वायुमहं गृह्णामि यतोऽन्नान्युद्गच्छन्ति। किञ्च—अपां रसस्य वायोर्यः सारः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः—सहि यज्ञ—लोक—काला—ऽग्नि–वायु–सूर्य–ऋग्यजुःसामादि शरीरः। हे देवाः! युष्माकमर्थे तं प्रजापतिमुत्कृष्टतममहं गृह्णामि। सोमरूपेण वायु तदाभिमानिनं प्रजापतिं च गृह्णामीत्याह ॥ ४ ॥

हे ग्रहाः! तेषां सम्यगभिषुतानां सुरूतानां वा युष्माकं सम्बन्धिनमन्नं तद्रसं च हं समग्रहम् ये यूयमन्नरमाह्वानप्रयोजकाः सन्ति, तथा मेधाविने इन्द्राय विशिष्टबुद्धिं गमयन्तो भवतीत्याह ॥ ५ ॥

अथाध्वर्य्युः सोमग्रहमक्षोपरि, नेष्टा सुराग्रहमक्षाधस्तात् सहैवै केन मन्त्रेण धारय-तोऽपरेण पुनः स्वं स्वं ग्रहं स्वसमीपमानयतश्च। हे सोमसुराग्रहौ!

सम्पृचौ स्थः—सं मा भद्रेण पृङ्क्तम् ॥ १ ॥
विपृचौ स्थो—वि मा पाप्मना पृङ्क्तम् ॥ २ ॥ ९ । ४ ।

यौ युवां संपृक्तौ भवथः, तौ मां कल्याणेन संयोजयतम्। हे ग्रहौ! यतो युवाँ वियुक्तौस्थः ततो मां पापेन वियोजयतमित्याह ॥ ५ ॥

महामरुत्वतीयान्ते माहेन्द्रात्पूर्व रथवाहनाच्छकटाद्रथमवतारयति।

इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजसा स्त्वयाऽयं वाजं सेत् ॥

हे रथ! त्वमिन्द्रस्य वज्र जातोऽसि अन्नदाता चासि—अत एवाय यजमानस्त्वया वज्रीभूतेन सहायेन अन्नं सनुयात्सनुयाद्वा, संभजेद्धभीयाद्वा, बह्वन्नवान् भूयादित्याह ॥ इन्द्रेण यदा वृत्राय वज्रं प्रहृतं, त्रिधाजातं, तस्यैको भागो रथ इति श्रुतावुक्तम् (१।२।४।१।)

अवतारितं रथं धुरि गृहीत्वा चात्वालादक्षिणेनानीय वेद्यां स्थापयेत्—

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ॥
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविताधर्म्म साविषत् ॥ ९।५॥

अन्नस्यानुज्ञायामेव वर्तमाना वयं यां भूमिं जगन्निर्म्मात्रीं महतीं महनीयां वा

अखण्डितां वेदवाक्येन कुर्म्महे इदं च सर्वं भूतजातं यस्यां भूमौ आविष्टम् ॥ तस्यामेव भूमौ सविता देवोऽस्माकं धारणमवस्थानं प्रेरयतु इत्याह ॥ ६ ॥

अथ स्नानार्थमपो नीयमानान् स्नातान्वागतानश्वान् प्रोक्षति एकेन वा द्वितीयेन वोभाभ्यां वा—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः ॥१॥
देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजं सेत ॥२॥९।६।

उदकेषु मध्ये अमृतमवस्थितम् । उदकेषु आरोग्यपुष्टिकरमौषधं चावस्थितम् ॥ हे अश्वाः ! तत्रामृतभेषजयुतास्वप्सु, अपि च अपां प्रशस्तेषु भागेषु, यूयमन्नवन्तो भवतेत्याह ॥ हे देव्य आपः ! युष्माकं यः कल्लोलः प्रत्वरणशीलः-ककुत्सादृश्यवान् अन्नस्य दाता च । तेन सिक्तोऽयमश्वः अन्नं संभजेद्वध्नीयाद्वा इत्याह ॥ वृषभस्कन्धे उन्नतप्रदेशः ककुत् । तत्सा-मान्यादुदकनिचयैः संयुक्तो बहुलोदकसंघातवानत्र ककुन्मानित्युच्यते ॥ २ ॥ ७ ॥

दक्षिणमश्वं रथे योजयेदाद्येन उत्तरमुत्तरेण—

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः ॥
ते अग्रेऽश्वमयुञ्जंस्ते अस्मिञ्जवमादधुः ॥ १ ॥ ६ । ७ ।
वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि ॥
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस, आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥६॥८।

वायुरिन्द्रियं सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि च गोर्भूमेर्धर्त्तारः । ते वातादयः पूर्वमश्वं रथे योजितवन्तः । त एव च वातादयोऽस्मिन्नश्वे वेगं स्थापितवन्त इत्याह । १ ।

हे वाजिन् ! वेगवन्नश्व ! युज्यमानः सन् त्वं वातवद्वेगयुक्तो भव । दक्षिणभागे स्थितस्त्वमिन्द्रस्याश्व इव शोभया युक्तो भव । किञ्च—हे अश्व ! सर्वज्ञाः सर्वधना वा मरुतो देवास्त्वां रथे नियोजयन्तु । त्वष्टा देवस्तव पादेषु वेगं स्थापयतु इत्याह ॥ २ ॥ ८ ।
तृतीयमश्वं युनक्ति दक्षिणा प्रष्टिम् । स हि दक्षिणाप्रष्टिः यो दक्षिणायां धुरि प्रकृष्टं देशमश्नुते—

जवो यस्ते वाजिन् निहितो गुहा यः,
श्येने परीत्तो अचरच्च वाते ॥
तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन,
वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः ॥ १ ॥

हे वाजिन्नश्व ! यस्तव वेगो हृदयप्रदेशेऽवस्थापितः, यश्च वेगः श्येनाख्ये पक्षिणि त्वयैव परिदत्तः सन् प्रवर्तते । यश्च तव वेगस्त्वया दत्तो वायौ चरति । हे वाजिन् ! तेन त्रिविधेन वेगलक्षणेन बलेन बलवान् वेगवान् त्वमस्माकमन्नस्य जेता भव । किञ्च—संग्रामे पारयिता भवेत्याह ॥

अथ बार्हस्पत्यं चरुमेनानश्वानाघ्रापयेत्—

वाजिनो वाजजितो वाजं सरिष्यन्तो
बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥ १ ॥ ६ । ६ ।

अन्नस्य जेतारः ! अन्नं प्रति गमिष्यन्तो ! हे वाजिनः ! अश्वाः ! यूयं बृहस्पतेर्भागं चरुमवजिघ्रत–इत्याह ॥ १ ॥ ९ ।

अथोत्करप्रदेशे निखातस्य नाभिमात्रकाष्ठस्याग्रे स्थितं रथचक्रं ब्रह्माऽरोहेत्–तत्र ब्राह्मणकर्तृके वाजपेये आद्यो मन्त्रः पाठ्यः—क्षत्रियवाजपेये तु द्वितीयः—

देवस्याहं सवितुः सवे सत्यसवसो
बृहस्पते रुत्तमं नाकं रुहेयम् ॥ १ ॥
देवस्याहं सवितुः सवे सत्यसवस
इन्द्रस्योत्तमं नाकं रुहेयम् ॥ २ ॥

ततो यजमानादीनां सप्तदशरथेषु सप्तदशशरप्रक्षेपप्रदेशे निखातामौदुम्बरीं शाखां प्रदक्षिणीकृत्य देवयजनदेशमागतेषु सत्सु ब्रह्मा रथचक्रादवरोहति विप्रयज्ञे पूर्वमंत्रेण—क्षात्रे उत्तरेण—

देवस्याहं सवितुः सवे सत्यप्रसवसो
बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम् ॥ १ ॥
देवस्याहं सवितुः सवे सत्यप्रसवस
इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम् ॥ २ ॥ ६ । १० ।

सत्याभ्यनुज्ञस्य सवितुर्देवस्यानुज्ञायां वर्तमानोऽहं—बृहस्पतिसम्बन्धिनमुत्कृष्टं स्वर्गमारोहामि—अन्यत्र इन्द्रस्योत्कृष्टं स्वर्गमारोहामि—इत्याचाह ॥ १ । २ ॥—॥ १० ॥

ततोऽनुवेद्युच्छ्रितस्थाणारोपितसप्तदशदुन्दुभीनां मध्ये एकं समन्त्रमाहन्ति तूष्णीमितरान्। तत्र विप्रयज्ञे पूर्वो मन्त्रः क्षात्रे उत्तरः—

बृहस्पते वाजं जय, बृहस्पतये वाचंवदत,
बृहस्पतिं वाजं जापयत ॥ १ ॥
इन्द्र वाजं जय, इन्द्राय वाचं वदत,
इन्द्रं वाजं जापयत ॥ २ ॥ ६ । ११ ।

हे दुन्दुभयः ! यूयं बृहस्पतये— 'हे बृहस्पते ! त्वमन्नं जये'' ति वाचं वदत । किञ्च यूयमेव बृहस्पतिना अन्नजयं कारय। इत्याह ॥ १ ॥ एवमन्यत्रेन्द्राय ॥ २ ॥

ततः सप्तदशदुन्दुभीनां मध्ये मन्त्रवादितं मन्त्रेणावतारयति स्थाणुभ्यस्तूष्णीमितरान् तत्रापि पूर्वो मन्त्रो विप्रयज्ञे उत्तरः क्षात्रे—

एषा वः सत्या सं वागभूद् यया
बृहस्पतिं वाजमजीजपत—
अजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् ॥ १ ॥
एषा वः सा सत्या सं वागभूद् ययेन्द्रं वाजमजीजपत—
अजीजपतेन्द्रंवाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् ॥ २॥६।१२।



हे दुन्दुभयः ! यूयं यया वाचा बृहस्पतिमन्त्रजयं कारितवन्तः, सा युष्माकं वाक् सत्या समभूत् । अतः परं हे वनस्पतयः ! वनस्पतिविकारा दुन्दुभयः ! यूयं विमुच्यध्वम्— यतः कृतकृत्या यूयं जाता, अतः प्रस्तुतादेतस्माच्छब्दानरूपात्कर्म्मणो विमुक्ता भवेत्याह ॥ वाजमजीजपत अजीजपत वाजमित्यभ्यासो भूयस्त्वार्थः ॥ १२ ॥

अथ यजमानो रथं यजुर्म्मन्त्रयुक्तमारोहेत्—

देवस्याहं सवितुः सवे सत्यप्रसवसो
बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम् ॥

सत्याभ्यनुज्ञस्य सवितुर्देवस्यानुज्ञायां वर्त्तमानोऽहं अन्नजेतुर्बृहस्पतेः सम्बन्धयन्नं जयेयमजैषं वा इत्याह ॥

अथ वाचयति—

वाजिनो वाजयितोऽध्वनः स्कम्नुवन्तो
योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत ॥ १३ ॥ ९ । १३ ।

हे अश्वाः ! अन्नस्य जेतारः, मर्गान् रुन्धन्तः क्षोभयन्तः योजनान्यतिशीघ्रतया परिच्छिन्दन्तो, यूयमाज्यन्तं प्राप्नुतेत्याह ॥ १३ ॥

अथ ऋग्द्वयेन प्रत्येकमाज्यं जुहोति अश्वान् अनुमन्त्रयते वा—

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति
ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि ॥
क्रतुं दधिक्रा अनु संसनिष्यदत्
पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्–स्वाहा । १ । ९ । १४ ।
उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न
वेरनुवाति प्रगर्द्धिनः ।

श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः
सहोर्जा तरित्रतः—स्वाहा ॥ २ ॥ ६ । १५ ।

ग्रीवायामुरोवध्रेण, कक्षसमीपे पर्याणदेशे सन्नाहरज्ज्वा, मुखे च कविकया, इत्येवं त्रिधा बद्धः—दधीन् धारकान् मार्गावरोधानद्रिपाषाणगर्त्तकण्टकादीनप्यतिक्रामति तथाविधः–सादिनोऽभिप्रायं सम्यगनुसदन्धानः सादिसंकल्पानुसारेण–गच्छन्–मार्गाणां लक्षणानि कुटिलानि निम्नोन्नतानि अतिशीघ्रं प्राप्नुवन् समत्वमापादयन्–सोऽयमश्वः कशामनु तूर्णमध्वानमश्नुते ॥ १ ॥

अपि च धारकपर्वताद्यतिक्रामिणः—बलेन सह मार्गं भृशं तरतः—अवधिं प्राप्तुं काङ्क्षतः–संचलतः–त्वरयतः अस्य अश्वस्य परितः सर्वस्मिन्नपि देहे वर्तमानं–शृङ्गारचिन्हं वस्त्रचामरादिकं, पक्षिणः पक्ष इव, वेगेन गच्छतः श्येनस्येव च अनुवाति गच्छन्त मनुगच्छति ॥ २ ॥

अथवैतेनोत्तरेण तृचेनाज्यं जुहोति, अश्वानभिमन्त्रयते वा—

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः ।
जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमी वाः ॥१॥ ६।१६ ।
ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः ।
सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे ॥२॥
वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
अस्य मध्वः पिवत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ ३ ॥

देवतातौ देवानां कर्माणि यज्ञे आह्वानेषु सत्सु परिमितद्राविणः सुरुचः स्वञ्चना वा सर्पमरण्यश्वानं राक्षसांश्च नाशयन्तोऽश्वा अस्माकं सुखकरा भवन्तु । विश्व तेऽश्वा अस्मत्सकाशाद्द्रु क्षिप्रं व्याधीन् युयवन् पृथक्कुर्वन्तु ॥ १ ॥ कुटिलं गन्तारः, आह्वानश्रोतारः, परिमितद्राविणः, अनेकजन तृप्तिक्षमस्य महतोऽन्नराशेर्दातारः, मेधसातौ यज्ञशालायां संभक्तारः पूरयितारः, सर्वे तेऽश्वा अस्माकमाह्वानं शृण्वन्तु ॥ येऽश्वाः सग्रामेषु महत् पूज्य वा धनं जह्रिरे ॥ २ ॥

हे अश्वाः ! सर्वस्मिन्नन्ने उपस्थिते सति धनेषु चोपस्थितेषु सत्सु मेधाविनः परिदृष्टकारिणः अमरणधर्म्माणः, सत्यज्ञा यज्ञज्ञा वा यूयमस्मान् पालयत । किञ्च—मधु धावनात् पूर्वं पश्चाच्चावघ्रायमाणं नैवारचरुलक्षणं मधुरं हविः पिबत—पीत्वा च मादयध्वम्—ततस्तृप्ताः सन्तो देवाधिष्ठितैर्म्मार्गैर्गच्छतेत्याह ॥ ३ ॥

अथ यजमानो रथादवतीर्य्य चात्वालोत्करान्तरे स्थितं नैवारं चरुं स्पृशति—

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे ॥
आ मा गन्तां पितरा मातरा च आ मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात् ॥१॥
वाजिनो वाजजितो वाजं ससृवांसो
बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः ॥ २ ॥ ९ । १६ ।

अन्नस्योत्पत्तिर्मामागच्छतु—सर्वरूपात्मिके इमे द्यावापृथिवी मां प्रत्यागच्छेताम्—अस्मदीयः पिता माता च मां प्रत्यागच्छताम्—अमृतत्वाय मम देवत्वजन्मने सोमो मां प्रत्यागच्छेत्—इत्याह ॥ १ ॥

अथ यजुर्युक्तानश्वान्नैवारचरुमाघ्रापयेत्—

हे अश्वाः ! अन्नस्य जेतारः अन्नं जेतुं सृतवन्तः, चरुं यजमानं वा शोधयन्तो, यूयं बृहस्पतेः सम्बन्धिनं भागं चरुमवजिघ्रतेत्याह ॥ २ ॥

अथ प्रतिमन्त्रं द्वादशस्वाहुतीर्जुहोति वाचयति वा—

आपये स्वाहा—स्वापये स्वाहा—अपिजाय स्वाहा—
क्रतवे स्वाहा—वसवे स्वाहा—अहर्पतये स्वाहा—
अह्ने मुग्धाय स्वाहा—मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा—
विनंशिन आन्त्यायनाय स्वाहा—आन्त्याय भौवनायस्वाहा—
भुवनस्य पतये स्वाहा—अधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥ ६ । २०

संवत्सराभिमानी प्रजापतिः स्तूयते तस्यैवैतानि नामानि ॥ १ ॥

अथ वा प्रतिमन्त्रमुत्तराः षडाहुतीर्जुहोति वाचयति वा—

आयुर्यज्ञेन कल्पताम्–प्राणो यज्ञेन कल्पताम्–
चक्षुर्य्यज्ञेन कल्पताम्–श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्—
पृष्ठंयज्ञेन कल्पताम्–यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ॥

अथ पत्नी यजमानौ निश्रेण्या यूपमारोहतः ॥ १ ॥

प्रजापतेः प्रजा अभूम । १ ।

गोधूमपिष्टनिमित्तं चषाले यजमानः स्पृशेत् ॥

स्वर्देवा ! अगन्म । २ ।

अथ यूपादूर्ध्वं शिरः करोति ॥

अमृता अभूम ॥ ३ ॥ ९ । २१ ।

अथ यूपारूढ एव यजमानो दिशो वीक्षते–हे दिशः !

अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि सन्तुवः ॥१।

युष्मत्सम्बन्धि वीर्य्यमस्मासु भवतु—युष्मत्सम्बन्धि धनमस्मासु भवतु–अपि च कर्म्म तेजांसि च युष्माकमस्मासु भवन्त्वित्याह ॥

अथ यूपारूढ एव यजमानो भूमिमवेक्षते-

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै ॥ २ ॥

अभ्यासो भूयस्त्वार्थः । अथोत्तरवेदिमपरेणौदुम्बरीमासन्दीं बस्तचर्म्मणास्तृणाति–

"इयं ते राट्" ॥ ३ ॥

हे आसन्दि ! तवेदं राज्यम् इत्याह ॥ ३ ॥

अथ सुन्वन्तं यजमानमस्यामासन्द्यामुपवेशयेत् । हे यजमान !

यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः ।
कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा ॥४॥९।२२।

त्वं सर्वस्य नियन्तासि स्वयं संयमनकर्त्ता भवसि । तथा स्थिरोऽसि धारकोऽसि ॥ कर्षणसिद्ध्यर्थं लब्धपरिपालनाय धनाय पशुपुत्रादिपुष्ट्यै च त्वामुपवेशयामि इत्याह ॥४॥

अथ औदुम्बरपात्रे एकीकृतादुग्धव्रीह्यादिधान्यात् स्रुवेणाहवनीये सप्तमन्त्रैर्जुहोति—

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमं राजानमोषधीष्वप्सु ।
ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा॥१॥९।२३।
वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट् ॥
अदित्सन्तं दापयति प्रजानन् स नो रयिं—
सर्ववीरं नियच्छतु—स्वाहा ॥ २ ॥ ९ । २४ ॥
वाजस्य नु प्रसव आबभूव—इमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ॥
सनेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं—
वर्द्धयमानो अस्मे—स्वाहा ॥ ३ ॥ ९ । २५ ।
सोमं राजानमवसे ऽग्निमन्वारभामहे ॥
आदित्यान् विष्णुं सूर्य्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्—स्वाहा ॥४॥९।२६।
अर्य्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ॥
वाचं विष्णुं सरस्वतीं सवितारञ्च वाजिनम्—स्वाहा॥५॥९।२७।
अग्ने अच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव ॥
प्र नो यच्छ सहस्रजित् त्वं हि धनदा असि—स्वाहा ॥६॥९।२८।
प्र नो यच्छत्वर्य्यमा, प्र पूषा प्र बृहस्पतिः ।
प्र वाग्देवी ददातु नः—स्वाहा ॥ ७ ॥ ९ । २९ ।

अन्नस्योत्पादकः प्रजापतिः सृष्ट्यादौ इमं सोमाख्यं दीप्तिमन्तं पदार्थमोष-धीष्वप्सु च वर्तमानमुत्पादयामास। ता इत्थम्भूताः सोमस्य जनयित्र्य ओषधय आपश्च अस्मदर्थं मधुमत्यो-रसवत्यो माधुर्य्योपेता भोगयोग्या भवन्तु-वयञ्च ताभिरभिषिक्ताः स्वीकीये देशे अप्रमत्ता भवाम-तथा यागानुष्ठानादौ पुरोगामिनः प्रधानाश्चेत्याह ॥ १ ॥

अन्नस्योत्पादक ईश्वरः इमां पृथीवीं द्युलोकं च इमानि सर्वाणि भूतजातानि चाश्रितवान्। तथा च सः सर्वेषांभुवनानां राजा हविर्दातुमनिच्छन्तं मामत्रगच्छन् मदीय-बुद्धिप्रेरणेन हविर्दापयति--ततोऽस्मभ्यं सर्वैः पुत्रभृत्यादिभिर्युक्तं धनं नियमेन ददातु इत्याह ॥ २ ॥

(नु-इति विस्मये) वाजस्य प्रसवः प्रजापतिः इमानि सर्वाणि भूतानि सर्वतोऽव-स्थितानि हिरण्यगर्भादिस्तम्बपर्य्यन्तानि उत्पादितवान्। सोऽयं पुराणो राजा स्वाधिकारं जानन् तथा अस्मासु पुत्रादिसन्ततिं धनपोषं च वर्द्धयन् सर्वतः स्वेच्छया गच्छतिइत्याह॥३॥

रक्षणाय तर्पणाय वा सोमं राजानं वैश्वानरं द्वादशादित्यान विष्णुं सूर्य्यं ब्रह्माणं बृहस्पतिं चाह्वयामः ॥ ४ ॥

हे ईश्वर ! ! त्वमर्य्यमादीन् देवान् धनप्रदानार्थं प्रेरय। वाजिनमन्नवन्तमिति सर्वेषां विशेषणं-देवाश्वं वेत्याह ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! अस्मिन् कर्म्मणि त्वमस्माकमच्छ वद = आभिमुख्येन ब्रूहि हितम्। किञ्च-अस्मान् प्रति करुणार्द्रचित्तो भव। हे सहस्रजित् ! यस्मात् त्वं स्वभावतो धनस्य दातासि अतस्त्वमस्मभ्यं प्रयच्छेत्याह ॥ ६ ॥

किञ्च-अर्य्यमा सूर्य्यविशेषोऽस्मभ्यमभीष्टं प्रयच्छतु-पूषा प्रयच्छतु-बृहस्पतिः प्रयच्छतु-तथा वाग्देवी अस्मभ्यं ददातु इत्याह ॥ ७ ॥

अथ होमद्रव्यशेषेण यजमानं शिरसि सिञ्चेत्-

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
सरस्वत्यै वाचा यन्तुर्यन्त्रिये दधामि बृहस्पतेष्ट्वा
साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ ॥ १ ॥ ९ । ३० ।

सवितुर्देवस्याज्ञायां वर्तमानोऽहं अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां वाग्देव्याः-यन्त्र्या नियमकर्त्र्याः सरस्वत्या नियमने ऐश्वर्ये स्थापयामि—किञ्च बृहस्पतेः साम्राज्येन त्वामभिषिञ्चामि—असौ इति तन्नामग्रहणम् ॥ १ ॥

(अथ उज्जितिसंज्ञाः सप्तदश मन्त्राः ।)

एतैर्जुहोति वाचयति वा ।

ओ श्रावय—	इति चतुरक्षरम्	(१)
अस्तु श्रौषट्—	इति चतुरक्षरम्	(२)
यज——	इति द्व्यक्षरम्	(३)
ये यजामहे——	इति पञ्चाक्षरम्	(४)
वषट्(वौषट्)——इति	द्व्यक्षरो वषट्कारः	(५)

एष सप्तदशाक्षरात्मकः प्रजापतिरधियज्ञं समाख्यामाभ्यामुज्जीयते—

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेवच ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मनेनमः ॥

१ अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषम् ॥ १ ॥
आश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयताम् तानुज्जेषम् ॥ २ ॥
विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीन्लोकानुदजयत् तानुज्जेषम् ॥ ३ ॥
सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत् तानुज्जेषम् ॥४॥९।३१।

२ पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्चदिश उदजयत् ता उज्जेषम् ॥ ५ ॥
सविता षडक्षरेण षड्ऋतूनुदजयत् तानुज्जेषम् ॥ ६ ॥
मरुतः सप्ताक्षरेण सप्तग्राम्यान् पशुनुदजयं स्तानुज्जेषम् ॥ ७ ॥
बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत् तामुज्जेषम् ॥ ८ ॥ ९ । ३२ ।
३ मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतं स्तोममुदजयत तमुज्जेषम् ॥ ९ ॥
वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत् तामुज्जेषम् ॥ १० ॥
इन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत् तामुज्जेषम् ॥ ११ ॥
विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयंस्तामुज्जेषम् ॥१२॥९।३३ ।
४ वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशं स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषम् ॥ १३ ॥
रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशं स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषम् ॥ १४ ॥
आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशं स्तोममुदजयंस्तमुज्जेषम् ॥१५ ॥
अदितिः षोडशाक्षरेण षोडशं स्तोममुदजयत् तमुज्जेषम् ॥ १६ ॥
प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशं स्तोतमुदजयत्तमुज्जेषम् ॥१७॥९।३४।

अग्न्यादयो देवाः क्रमेणैकाक्षरादिभिश्छन्दोभिः प्राणादीन् विशेषेणाजयन् तथा हमपि तं तं प्राणादिं तेन तेनैव छन्दसा अधिकं जयेयमित्याह ॥ १७ ॥

॥ इति वाजपेयाधिकारः ॥

॥ इति तृतीयमण्डले वाजपेयमन्त्राः समाप्ताः ॥

❀ अथ तृतीयमण्डले ❀

राजसूयाधिकारः ॥ २ ॥

फाल्गुनाद्यदशम्यामनुमत्यै अष्टाकपालः पुरोडाशो भवति तदर्थं गृहीतहविषः पेषणकाले दृषदधस्तान्निहितशम्यापश्चाद्भागे पतितं यद्धविस्तण्डुलपिष्टरूपं तत् स्रुवे निधाय दक्षिणाग्नेरुल्मुकमादायदक्षिणस्यां दिशि गत्वा स्वयं प्रदीर्णे (स्वयंस्फुटिते) भूभागे इरिणे (ऊषरे) वा उल्मुकाग्निं संस्थाप्य तत्र तद्धविर्जुहोति—

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहा ॥ १ ॥

निर्ऋतिरत्र पृथिवी । हे पृथिवि ! एष पिष्टरूपस्तव भागः तं त्वं गृहाणेत्याह ॥१॥ एवं वर्षमिष्टीः कृत्वा पञ्चवातीयाख्यं कर्म विधेयम् । तत्राहवनीयं प्रागादिदिक्षु कृत्वा मध्ये चावशिष्य स्रुवेणाज्यं पञ्चस्वग्निषु यथालिङ्गं जुहोति—

अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा । १ ।
यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा । २ ।
विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा । ३ ।
मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्यउत्तरासद्भ्यः स्वाहा ।४।
सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्य उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहाः ॥५॥९।३५।

अग्निर्नेता येषां तेभ्यः, तथा सोमो नेता येषां तेभ्यो दुवस्वद्भ्यः परिचर्य्यावद्भ्यो हव्यवद्भ्यो वा सुहुतमित्याह ॥ आद्येन पुरस्तात्-द्वितीयेन दक्षिणतः—तृतीयेन पश्चात्—चतुर्थेन विकल्पितमन्त्रद्वयेनोत्तरार्द्धे—पञ्चमेन मध्ये जुहोति ॥ २ ॥

अथ पञ्चधा विभक्तमाहवनीयमेकीकृत्य पञ्चभिर्म्मन्त्रैः प्रत्येकं जुहुयात्—

ये देवाः अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥
ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥
ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥
ये देवा मित्रावरुणनेत्राः वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा ॥४॥
ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ ९ ।३६।

अथ अपामार्गतण्डुलहोमार्थं दक्षिणाग्रेरुल्मुकमाददीत—

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य ।
दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चोधा यज्ञवाहसि ॥ १ ॥ ९ । ३७ ।

हे अग्ने ! त्वं पृतनाः शत्रुसेनाः अभिभव-तथा शत्रूनपक्षिप-किञ्च—दुस्तरः अशक्यप्रतिक्रियो दुर्निवारस्त्वं शत्रून् तिरस्कुर्वन् यज्ञनिर्वाहके यजमाने अन्नं धेहि इत्याह।१।

ततः प्रागुदग्गत्वा गत्वा गृहीतमुल्मुकं संस्थाप्य स्रुवेणापामार्गतण्डुलान् जुहुयात्—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ताभ्याम् ।
उपांशोर्वीर्य्येण जुहोमि हतं रक्षः स्वाहा ॥ १ ॥

उपांशुर्नाम प्रथमो ग्रहः तस्य सामर्थ्येनाहं जुहोमि । अत एव राक्षसो निहत इत्याह ॥ १ ॥

अथ यस्यां दिशि होमं कुर्य्यात् तां दिशं प्रति स्रुवं प्रक्षिपेत्—

"रक्षसां त्वा वधाय" ।

राक्षसानां नाशार्थं त्वां प्रक्षिपामीत्याह ॥ २ ॥ ततोऽध्वर्य्यादयः पश्चादनवलोकयन्तो देवयजनं प्रत्यागच्छन्ति—

अवधिष्म रक्षोऽवधिष्मामुमसौ हतः ॥ ३ ॥ ६ । ३८ ।

राक्षसजातिं वयं हतवन्तः । (अमुमिति—असाविति च शत्रूनामग्रहणम्) अमुं देवदत्तं वयमवधिष्म । असौ देवदत्तो विनष्टः इत्याह ॥ ३ ॥

अथ यान्यष्टौ देवसूहवींषि तत्रान्तिमेन "वरुणाय धर्म्मपतये" इति वारुणेन चरुणा चरित्वा यजमानान्तिके गत्वा स्रुचौ सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणं तद्बाहुमादाय इमं कश्चिद्-काद्वयरूपं मन्त्रं जपेत् । अत्र च मन्त्रो यथास्थानं यजमानस्य, तन्मातापित्रोः, यस्या जनपदजाते राजा भवति तस्याश्च नामानि गृह्णाति—

सविता त्वा सवानां सुवतामग्निर्गृहपतीनां सोमो वनस्पतीनाम् ।
बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्म्मपतीनाम् ॥ १ ॥ ६ । ३६ ।

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं, महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥

इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशः,—
एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ॥ २ ॥ ६ । ४० ।

हे यजमान ! प्रसवानामाज्ञानामाधिपत्ये सविता त्वां प्रेरयतु—सर्वेषामाज्ञादानेऽधिकारी भव, तथा गृहस्थानामाधिपत्ये अग्निः त्वां सुवताम्, वृक्षाणामाधिपत्ये सोमस्त्वां प्रेरयतु—

वृक्षाः सर्वे तवोपकारका भवन्तु, वागर्थं वाच आधिपत्ये वा बृहस्पतिः प्रेरयतु। ज्येष्ठभावाय इन्द्रस्त्वां सुवताम्। पश्वर्थं पश्वाधिपत्ये वा रुद्रस्त्वां प्रेरयतु। तथा मित्रदेवः सत्याय सत्यं वदितुं त्वां सुवताम्। अथ धर्मशीलानामाधिपत्ये वरुणस्त्वां प्रेरयतु। एताहि सवित्रादयोऽष्टौ देवसूहविषां देवतास्त्वां नानाधिपत्यानि ददात्वित्याह ॥ १ ॥

हे सवित्रादयो देवाः! अमुष्य पितुः पुत्रं—अमुष्या मातुः पुत्रं-अस्याः कौरव्याः प्रजाया अधिपतिं इममुकनामानं यजमानं सपत्नरहितं कृत्वा महत्यै क्षत्रपदव्यै महते ज्येष्ठभावाय जनाना माधिपत्याय आत्मनो वीर्याय—आत्मज्ञानसामर्थ्याय सुवध्वम् ॥ अमी हे कुरवः! पाञ्चालाः! युष्माकमेष रवदिरवर्म्मा राजा अस्तु अस्माकं ब्राह्मणानां तु सोमश्चन्द्रो वल्लीरूपो वा प्रभुरस्तु इत्याहः ॥ २ ॥

संहितायां नवमोध्यायोऽत्र समाप्तः ॥ ९ ॥

संहितायाम् दशमोऽध्यायः प्रारम्भः।

अथ देवसूहविषां भागपरिहरणान्ते कृते अभिषेकार्था वक्ष्यमाणा अपोवक्ष्यमाण—प्रकारेणौदुम्बरवृक्षपात्रेषु पृथग् गृह्णाति। तत्र विशेषः—निमित्तवशात् प्राप्या नैमित्तिक्यः—यथान्तरिक्षात् प्रतिगृह्यातपवर्षाः पुष्वाः गोरूल्या इत्याद्याः—ता राजसूयारम्भात् प्रागेव संपाद्य तदानीं यूपमुत्तरेण गृह्णीयात्। अन्यथा तदानीमातपवर्षणादेर्निमित्तस्याभावेन तदसंभवापत्तिः स्यात् ॥ इतरास्त्वनैमित्तिकीरपो गत्वा तदानीमेव गृह्णीयात्। तत्रादौ सरस्वतीनदीसंबन्धिनीरपो गृह्णाति—

आपो देवा मधुमतीरगृभ्णन् ऊर्जस्वतीराजस्वश्चितानाः ॥
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः॥१॥१०।१।

मधुरास्वादोपेता विशिष्टान्नरसवतीः नृपोत्पादिकाः चेतयमानाः—सद्दैवतत्वात् परिदृष्टकारिणीः या अपो देवा इन्द्रादयोऽगृह्णन्—तथा याभिरद्भिर्देवा मित्रावरुणयोरभिषेकम-कुर्वन्—याभिरद्भिर्देवा इन्द्रं देवं शत्रूनत्यक्रामयन्—ता अपो गृह्णामीत्याह वाक्यशेषेण॥१॥

अथैवं सारस्वतीरादाय उत्तरासु षोडशस्तप्सु—"वृष्ण ऊर्मिरित्यादिभिः" स्वाहान्तैः पूर्वपूर्वमन्त्रैश्चतुर्गृहीताज्यानि गृह्यमाणासु जुहुयात्। उतरैः स्वाहाहीनैर्मन्त्रैस्ताः क्रमेण गृह्णाति।

(उतरमन्त्रेषु—"अमुष्मै" इति पदस्थाने चतुर्थ्यन्तं यजमाननाम ग्राह्यम्) वृष्ण ऊर्मिरित्यादयो विश्वभृतः स्थेत्यन्ताः मन्त्राः संहितायां द्विशः पठिताः तेषां पूर्वः पूर्वः स्वाहान्तः तेनाज्यहोमः। उत्तरोत्तरः स्वाहाहीनः—तेनापामादानम्। तत्र गत्वा जले प्रविष्टात् पशोर्नराद्वा यौ पूर्वापरौ कल्लोलौ तौ हुत्वा गृह्णाति—हे कल्लोल!—

वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा—
वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ १ ॥
वृष सेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा—
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥ १० । २ ।
अर्थेतः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा—
अर्थेतः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ ३ ॥
ओजस्वतीः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा—
ओजस्वतीः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ ४ ॥

आपः परिवाहिणीः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा—
आपः परिवाहिणीः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ ५ ॥
अपांपतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
अपांपतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ ६ ॥
अपांगर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
अपांगर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ ७ ॥ १० । ३ ।
सूर्य्यत्वचसः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
सूर्य्यत्वचसः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ ८ ॥
सूर्य्यवर्चसः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
सूर्य्यवर्चसः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ ९ ॥
मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ १० ॥
व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ ११ ॥
वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ १२ ॥
शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ १३ ॥

शक्वरीः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
शक्वरीः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ १४ ॥
जनभृतः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
जनभृतः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ १५ ॥
विश्वभृतः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
विश्वभृतः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ १६ ॥
आपः स्वराजः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ॥ १७ ॥
मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वानाः ॥
अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥१८॥१०।४॥

हे कल्लोल त्वं वृष्णो वर्षितुः सेक्तुः पशोर्नरस्य वा सम्बन्धी ऊर्मिः कल्लोलोऽसि ॥ १ ॥

अपरोर्म्मिं गृह्णाति—वृषा सेचनसमर्था सेनाजलराशिरूपा यस्य तादृशोऽसि ॥२॥

नद्यादि प्रवाहस्था अपो गृह्णाति—अर्थं प्रयोजनमुद्दिश्य नद्यादितो यज्ञदेशं यन्ति तादृशाः स्थ ॥ ३ ॥

वहन्तीनां याः प्रतिलोमं गच्छन्ति तादृश्यो हे आपः ! यूयमोजसा बलेन युक्ताः स्थ ॥ ४ ॥

वहन्तीनामपां मध्याद्या मार्गान्तरेण गत्वा पुनस्तत्र मिलन्ति ता अपयत्यः परिवाहिण्यः । ५ ।

समुद्रस्यापो गृह्णाति—हे समुद्र ! त्वं जलानां स्वामी भवसि ॥ ६ ॥

निवेष्य आवर्तो नद्यादौ यत्राम्भोभ्रमः तत्र भवा निवेष्या गृह्णाति । हे जलभ्रम ! त्वमपांमध्यवर्ती ॥ ७ ॥

स्यन्दमानानां मध्ये याः स्थिराः सदा धर्म्मेवर्तमानास्तथाविधा हे आपः ! यूयं सूर्य्यत्वचसः ॥ ८ ॥

आतपे वर्षन्त्य आतपवर्ष्याः, ता आपोऽन्तरिक्षात् प्रतिगृह्य संपादिताः ! सूर्य्यवर्चस उच्यन्ते ॥ ९ ॥

तडागभवा आप सरस्याः, ता इह मान्दा शब्देनाभिधीयते ॥ १० ॥

कूपे भवाः कूप्याः, ता इह व्रजक्षितः कथ्यन्ते । व्रज इत्युपचारादिह कूपेभिप्रेतः ॥ ११ ॥

अथ ता वाशा आपो याः, अवश्यायरूपास्तृणाग्रेषु स्थितदृष्टाः प्रुष्वा उच्यन्ते ॥१२॥

यास्तु मधुरूपा आपस्त्रिदोषबलशमनत्वाद्बलकरास्ताः शविष्ठा उच्यन्ते ॥ १३ ॥

तथा प्रसूयमानधेनुगर्भवेष्टनोत्थाआपो गोरुल्व्याः, ता इह शक्वर्य्य उच्यन्ते ॥ १४ ॥

एवं दुग्धरूपा आपो वालभावे जनान् पुष्णन्तीति जनभृत उच्यन्ते ॥ १५ ॥

एवं घृतरूपा आपो देवादिकं सर्वं जगद् बिभ्रतीत्ति विश्वभृतः कथ्यन्ते ॥ १६ ॥

तदित्थं सारस्वत्यादयो वृतान्ताः सप्तदशाप उक्ताः

अथ रविकरतप्ता आपो मरीचयः ताः आपः स्वराजः । ता अञ्जलिनाऽऽदाय पूर्व–गृहीतास्वप्सु योजयेत् । तस्य ग्रहणं समन्त्रं संसर्गस्तु तूष्णीम् । नात्र होमः "षोडशाहुती–र्जुहोति, द्वयीषु न जुहोति सारस्वतीषु च मरीचिषु च" इति श्रुतेः (५–३–४–२३)॥१७॥

अथैनाः सारस्वत्याद्याः सर्वा अपः औदुम्बरे पात्रे समासिञ्चति ।—

मधुरसवत्य एता आपो मधुरस्वादोपेताभिरेताभिरद्भिः संसृज्यन्ताम् । या आपः क्षत्रियाय राज्ञे यजमानाय राज्ञे यजमानाय महद्बलं सम्भजमाना भवन्ति ॥ अथैवमौदुम्बरे पात्रे मैत्रावरुणधिष्ण्याग्रे सदसि सादयति ।

हे आपो ! रक्षोभिरपराभूता, ओजसा सहिताः, क्षत्रियाय राज्ञे महद्द बलं दधत्यो, यूयं तिष्ठतेत्याह ॥ १८ ॥

अथ मैत्रावरुणधिष्ण्याग्रासादितपालाशादिपात्रचतुष्टयस्य पुरस्ताद्व्याघ्रचर्मास्तृणाति—

'सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात'।

हे व्याघ्रचर्म्म ! त्वं सोमस्य दीप्तिरसि । अतस्त्वत्सदृशी ममकान्तिःभूयात् ॥

"यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत् तेन सोमस्य त्विषिः" इति श्रुतिः (५ । ३ । ५ । ३) । १ ।

अथ पार्थसंज्ञानामेतेषां द्वादशमन्त्राणां मध्ये षट् प्रथमान्यभिषेकादौ जुहोति, षडुत्तमान्यभिषेकान्ते सकृद्गृहीताज्यैर्जुहुति—

१ अग्नये स्वाहा	१ इन्द्राय स्वाहा
२ सोमाय स्वाहा	२ घोषाय स्वाहा
३ सवित्रे स्वाहा	३ श्लोकाय स्वाहा
४ सरस्वत्यै स्वाहा	४ अंशाय स्वाहा
५ पूष्णे स्वाहा	५ भगाय स्वाहा
६ बृहस्पतये स्वाहा	६ अर्य्यम्णे स्वाहा ॥१०।५।

इत्येता द्वादशाहुतीर्जुहुयात् ॥ २ ॥

अथ पवित्रे कृत्वा तयोर्हिरण्यं बध्नाति—

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ ॥ १ ॥

सहिरण्याभ्यां दर्भपवित्राभ्यां मैत्रावरुणधिष्ण्याग्रासादिता औदुम्बरपात्रस्था अभिषेकार्था अप उत्पुनाति—

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥
अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य—
दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥ २ ॥ १० । ६ ।

सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्यानुज्ञायां स्थितोऽहं छिद्ररहितेन समीचीनेन पवित्रेण सूर्यस्य किरणैश्चोत्पुनामि । हे आपः ! यूयमनिभृष्टा रक्षोभिरपराभूताः स्थ । वाचो बन्धुभूताः स्थ । "यावद्ध प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति" इति श्रुतिः । (५।३।५।१६)।

"आपोमयी वागिति सामश्रुतिश्च । अग्निजाताः स्थ ।"

"अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः अग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजाः" इति श्रुतिः । ५ । ३ । ५ । १७ ।

वायोरग्निरग्नेरापः इति तैत्तिरीयारण्यकं च । ८ । १ ॥ सोमस्य दानकर्त्र्यो भवथ

"यदा वा एनमेताभिरभिषुण्वन्ति अथाहुतिर्भवतीतिश्रुतिः ५ । ३ । ५ । १८ ॥ तथा स्वाहाकारेण पूताः सत्यो राजजनिका भवथेत्याह ॥ २ ॥

अथ उत्पूता अभिषेकार्था आपोऽभिषेकार्थेषु पालाशोदुम्बरवाटाश्वत्थेषु पात्रेषु पूर्वासादितेषु चतुर्द्धा विभज्य निनयति—

सधमादो द्यु म्निनीराप एता अनाधृष्टा अपस्यो वसानाः ।
यस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः ॥१॥१०।७।

एकस्मिन् पात्रे सह माद्यन्ति हृष्यन्ति मादयन्ते प्रीणन्ति वा तादृश्यः, द्यु म्नं वीर्य्यं वा यशो वा ऽन्नं वा अस्ति यासां तथाविधाः, रक्षोभिरनभिभूताः, कर्मणिसाध्व्यः, पात्राच्छादिकाः, या एता आपो वर्तन्ते। तासु गृहरूपासु अतिशयेन जगन्निर्म्मात्रीषु अप्सु मध्ये अपां शिशुर्वरुणो देवः सहस्थानं चक्रे इत्याह। वरुणो हि राजसूययाजित्वादपां शिशुः—

"अपां वा एष शिशुर्भवति यो राजसूयेन यजते" इति श्रु तिः। (५।३।५।१६)॥

अथ तार्प्य—पांड्वा—धीवासो—ष्णीषाणि क्रमेण चतुर्भिर्यजुर्भिः परिधत्ते—

।१। ।२। ।३। ।४।
क्षत्रस्योल्वमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि ॥

तार्प्यं क्षौमं वल्कलं घृताक्तवस्त्रं वा परिधापयति। हे तार्प्य ! त्वं यजमानस्य गर्भस्थानीयस्य गर्भाधारभूतमुदकमसि इत्याह ॥ १ ॥

रक्तकम्बलं निवस्ते। हे पाण्ड्व ! त्वं गर्भस्थानीयस्य यजमानस्य गर्भवेष्टन-चर्म्मासि इत्याह ॥ २ ॥

कञ्चुकं गले वध्नाति। हे अधीवास ! त्वं गर्भसंभवस्थानमसि इत्याह ॥ ३ ॥

शिरोवेष्टनं शिरसि संवेष्टय तत्प्रान्तौ निवीते (परिहितवासो नीव्याम्) अवगूहते, नाभिदेशे परिहरते वा।

(वेष्टयति वा)। हे उष्णीष ! त्वं क्षत्रस्य गर्भबन्धनस्थानमसि इत्याह ॥ ४ ॥

"नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते इत्याहुः" इति निरुक्तम् ॥ १ ॥

अथाध्वर्य्युर्धनुरधिज्यं करोति–हे धनुः ! त्वम्—

"इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि" । १ ।

इन्द्रस्य शत्रुनाशकमसि तदातनोमीत्याह ॥ १ ॥

अस्य धनुषो बाहू करेण प्रत्येकं विमार्ष्टि—

मित्रस्यासि । १ । वरुणस्यासि । २ ।

हे दक्षिणकोटे ! त्वं मित्रसंबन्धी भवसी ॥ १ ॥ हे वामप्रान्त ! त्वं वरुणसम्बन्धी भवसि इत्याह ॥ २ ॥

अथ यजमानाय धनुः प्रयच्छति हे धनुः !—

त्वायायं वृत्रं वधेत् ॥ ३ ॥

अयं यजमानः शत्रुं हन्यात् इत्याह ॥ ३ ॥ अथाध्वर्युः—

हवासि । १ । रुजासि । २ । चुमासि । ३ ।

इति मन्त्रैः क्रमेण तिस्र इषूरादाय—

पातैनं प्राञ्चम् । ४ । पातैनं प्रत्यञ्चम् । ५ ।
पातैनं तिर्य्यञ्चम् दिग्भ्यः पात ॥ ६ ॥ १० । ८ ।

इति मन्त्रैः क्रमेण यजमानाय प्रयच्छति । हे इषवः ! एनं यजमानं सर्वतो रक्षेत्याह ॥ ४ ॥

आविन्मन्त्राः ॥७॥

इषुसमर्पणानन्तरमध्वर्युरेतान् आवित्संज्ञान् सप्तमन्त्रान् यजमानं वाचयति—

आविर्म्मर्य्याः । १ । आवित्तो अग्निर्गृहपतिः । २ । आवित्त इन्द्रो वृद्ध-श्रवाः । ३ । आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतौ । ४ । आवित्तः पूषा विश्ववेदाः । ५ । आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवौ । ६ । आवित्ता दितिरुरुशर्म्मा ॥ ७ ॥ १० । ६ ।

हे मनुष्याः ऋत्विजः ! यूयं प्रकटा भवथ । अथवा अयं यजमानो युष्मत्समक्षं कथ्यत्ते इत्याह । १ । गृहपालकायाग्नये अयं यजमान आवेदितः । २ । प्रवृद्धकीर्तिमते इन्द्राय अयं यजमानो ज्ञापितः । ३ । धारितकर्मभ्यां मित्रावरुणाभ्यामयमावित्तः । ४ । सर्वज्ञाय पूष्णेऽयमावेदितः । ५ । सर्वसुखोद्भाविकाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामयं ज्ञापितः । ६ । महासुखायै अदितये ऽयमावित्ते यजमानः ॥ ७ ॥ अथवा अस्तु यथाविभक्ति सर्वत्र ॥१॥

अथ सदः समीपोपविष्टस्य केशवस्य (दीर्घकेशनरस्य) मुखे ताम्रं क्षिपति —

अवेष्टा दन्दशूकाः । १ ।

अत्यर्थं दशनशीला मृत्युहेतवः सर्पसदृशा यज्ञविघ्नकारिणो राक्षसादयो नाशिता भवन्तु इत्याह । अवपूर्वो यजिर्नाशनार्थः । "तद्यो मृत्युर्यो वधस्तमेवैतदतिनयति" इति श्रुतिः । (५ । ४ । १ । १) ॥ १ ॥

अथ यजमानं यथालिङ्गं प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं दिश आक्रामयन् वाचयति ।

"प्राचीमारोह-गायत्री त्वावतु-रथन्तरं साम-त्रिवृत् स्तोमो—
वसन्तऋतु-र्ब्रह्म द्रविणम् १० ।१० ।

दक्षिणामारोह—त्रिष्टुप् त्वावतु—बृहत् साम—पञ्चदशस्तोमो—
ग्रीष्मऋतुः—क्षत्रं द्रविणम् १० । ११ ।

प्रतीचीमारोह–जगती त्वावतु–वैरूपं साम–सप्तदशस्तोमो–[१७]
वर्षाऋतुः–विड् द्रविणम् १० । १२ ।

उदीचीमारोह–अनुष्टुप् त्वावतु–वैराजं साम–एकविंशस्तोमः–[२१]
शरदृतुः–फलं द्रविणम् १० । १३ ।

ऊर्ध्वामारोह–पङ्क्तिस्त्वावतु–शाक्वररैवतेसामनी–त्रिणवत्रयस्त्रिंशौस्तोमौ[२७ ३३]
हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणम् ।

अत्रनिर्दिष्टानां साम्नां मध्ये–

रथन्तरं साम–	अभित्वा शूर नोनुमः–	इत्यस्यामृचि उत्पद्यते
बृहत् साम–	त्वामिद्धि हवामहे–	इत्यस्यामृचि उत्पद्यते
वैरूपं साम–	यद्द्याव इन्द्र ते शतम्–	इत्यस्यामृचि उत्पद्यते
वैराजं साम–	पिबा सोममिन्द्र मन्दतुत्वा –	इत्यस्यामृचि उत्पद्यते
शाक्वरं साम–	प्रोष्वस्मै पुरोरथम्–	इत्यस्यामृचि उत्पद्यते
रैवती साम–	रेवतीर्नः सधमादे–	इत्यस्यामृचि उत्पद्यते

॥ अथ स्तोमस्वरूपाणि साम ब्राह्मणे पञ्चविंशाख्ये ॥

(१) तिसृभ्यो हिङ्करोति स प्रथमया
(२) तिसृभ्यो हिङ्करोति स मध्यमया
(३) तिसृभ्यो हिङ्करोति स उत्तमया

---

(१) उपास्मै गायता नरः, पवमानायेन्दवे, अभिदेवाँइयक्षते ॥ १ ॥
अभिते मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः देवं देवाय देवयु ॥ २ ॥
स नः पवस्व शं गवे, शं जनाय शमर्वते, शं राज ओषधीभ्यः ॥ ३ ॥

(२) दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥ १ ॥
हिन्वानो हेतृभिर्हित आ वाजं वाज्यक्रमीत् सीदन्तो वनुषो यथा ॥ २ ॥
ऋधक् सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवाकवे पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ ॥

(३) पवमानस्य ते कवे वाजिन्सर्गा असृक्षत अर्वन्तो न श्रवस्यवः ॥ १ ॥
अच्छा कोशं मधुश्चुतमसृग्रं वारे अव्यये अवावशन्त धीतयः ॥ २ ॥
अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्तं गावो न धेनवः, अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥ ३ ॥

सेयमुद्यती त्रिवृतो विष्टुतिः । १ ।

उपास्मै गायतेत्यादीनि तृचात्मकानि त्रीणिसूक्तानि सन्ति

(ऋक्सं० अष्ट० ६ । ७ । ३६ । मं० ६ । १ । ५) ।

तेषूद्गाता प्रथमेन मध्यमेन उत्तमेनोद्गायेत् तथासति प्रत्येकं तिसृभिऋग्भिर्गीतं भवति ।

अनेन प्रकारेण त्रिवृत् स्तोम संबन्धिनी विशिष्टस्तुतिः संपद्यते सेयमुद्यती नाम्ना भवति ॥

(१५)

(१५) पञ्चभ्यो हिङ्करोति—स तिसृभिः, स एकया, स एकया, ।५, ३.१.१.

पञ्चभ्यो हिङ्करोति—स एकया, स तिसृभिः, स एकया, ।५, १.३.१.

पञ्चभ्यो हिङ्करोति—स एकया, स एकया, स तिसृभिः, ॥५, १.१.३.

पञ्चपञ्चिनी पञ्चदशस्य विष्टुतिः ॥ २ ॥

प्रथमपर्य्याये तृचात्मकसूक्तस्याद्यां तिसृभिऋग्भिर्गायेत् । इतरे द्वे सकृत्सकृद् गायेत्॥

द्वीतीयपर्य्याये प्रथमां सकृत् । मध्यमां तिसृभिः । तृतीयां सकृत् । तृतीये पर्य्याये आद्ये द्वे सकृत् । तृतीयां तिसृभिरिति पञ्चदशस्तोमसम्बन्धिनी विष्टुतिः पञ्चपञ्चिनीत्युच्यते ॥ २ ॥

(१७)

(१७) पञ्चभ्यो, हिङ्करोति, स तिसृभिः, स एकया, स एकया ५, ५.३.१.१.

पञ्चभ्यो, हिङ्करोति, स एकया, स तिसृभिः, स एकया ५, १.३.१.

सप्तभ्यो, हिङ्करोति, स एकया, स तिसृभिः, स तिसृभिः ७, १.३.३,

दशसप्ता सप्तदशस्य विष्टुतिरिति ॥ ३ ॥

प्रथमपर्य्याये प्रथमां त्रिर्गायेत् मध्यमोत्तमे सकृत्
द्वितीयपर्य्याये प्रथमोत्तमे सकृत् मध्यमां त्रिर्गायेत् ।
तृतीयपर्य्याये प्रथमां सकृद्गायेत् मध्यमोत्तमे त्रिरिति
सप्तदशस्तोमस्य त्रिविधास्तुतिः दशसप्तेत्युच्यते ॥

---

(२१) सप्तभ्यो हिङ्करोति, स तिसृभिः, स तिसृभिः, स एकया ७, ३.३.१.
सप्तभ्यो, हिङ्करोति, स एकया, स तिसृभिः, स तिसृभिः ७, १.३.३.
सप्तभ्यो, हिङ्करोति, स तिसृभिः, स एकया, स तिसृभिः ७। ३.१.३.

सप्तसप्तिन्येकविंशस्य विष्टुतिरिति ॥ ४ ॥

---

(२७) नवभ्यो हिङ्करोति, स तिसृभिः, स पञ्चभिः, स एकया ९, ३.५.१.
नवभ्यो हिङ्करोति, स एकया, स तिसृभिः, स पञ्चभिः ९, १.३.५.
नवभ्यो हिङ्करोति, स पञ्चभिः, स एकया, स तिसृभिः ९, ५.१.३.

वज्रो वै त्रिणवः इति ॥ ५ ॥

---

(३३) एकादशभ्यो हिङ्करोति, स तिसृभिः स सप्तभिः स एकया ११, ३.७.१.
एकादशभ्यो हिङ्करोति, स एकया, स तिसृभिः स सप्तभिः ११, १.३.७.
एकादशभ्यो हिङ्करोति, स सप्तभिः, स एकया, स तिसृभिः ११,७.१.३.

अन्तौ वै त्रयस्त्रिंश इति ॥ ६ ॥

व्याघ्रचर्मपश्चाद्भागे निहितं सीसमाक्रम्य पादेन निरस्यति—

"प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः १०।१४।"

नमुचेरसुरस्य मस्तकं प्रतिगृह्य क्षिप्तं सीसरूपेणेत्याह ॥ १ ॥

व्याघ्रचर्म्मणि राजानमभिषेकार्थमारोहयति—

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात् ॥ १ ॥

अथ पादतले हिरण्यं कुर्य्यात्—हे सुवर्ण !—

मृत्योः पाहि ॥ २ ॥

ततो यजमानशिरसि नवतन्नं वा (नवच्छिद्रं शतच्छिद्रं वा) सौवर्णं मण्डलं कुर्य्यात्–हे हिरण्य ! त्वम्–

ओजोऽसि, सहोऽस्यमृतमसि ॥ ३ ॥ १० । १५ ।

अमुं जेष्यामीति मनोवृत्तिरोजः । शारीरं बलं सहः ॥ ३ ॥

अथ यजमानबाहू ऊर्ध्वौ करोति–

हिरण्यरूपा उषसो विरोक उभाविन्द्रा उदिथः सूर्य्यश्च ॥
आरोहतं वरुण मित्र गर्त्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च ॥ १ ॥

बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्त्त इति ५ ।४।१।१५। श्रुतिरध्यात्मं व्याचष्टे ॥

हे वरुण ! शत्रुनिवारक ! दक्षिणबाहो !—हे मित्र ! सखित्वपालक ! वामबाहो ! तौ युवां पुरुषमारोहतम्—ततश्चाखण्डितां स्वसेनां खण्डितां परसेनां क्रमेणानुग्रहदृष्ट्या समीक्षेथाम् । यौ सौवर्णालङ्कारेण हिरण्यवद्भासमानौ युवां द्वावपि रात्रेः समाप्तौ उदयं कुरुथः सूर्य्योदयानन्तरंस्वस्वव्यापारे प्रवर्तेथे इत्याहाध्यात्मम् ॥ हे मित्रावरुणौ देवविशेषौ ! यौ हिरण्यरूपावतितेजस्विनौ परमेश्वरौ युवामुषःकालानन्तरमुद्गच्छथः, सूर्य्यश्च तदोदेति । तौ युवां गर्त्तसदृशं रथोपरिभागं रथमेव वा आरोहतम् ॥ तदनन्तरमदितिमदीनं विहितानुष्ठातारं दितिं दीनं नास्तिकवृत्त च पश्यतम् ॥ इत्याहाधिदैवम् ॥ "ततः पश्यतं स्वं चारणं चेत्येवैतदाह" इतिश्रुतिः । ५ । ४ । १ । १५॥

अथवा अनेन मन्त्रेण बाहू उद्गृह्णाति—

मित्रोऽसि वरुणोऽसि ॥ २ ॥ १० । १६ ।

हे वामबाहो ! मित्रस्त्वमसि । हे दक्षिणबाहो ! वरुणस्त्वमसीत्याह ॥ २ ॥

अथ रुक्मसहितव्याघ्रचर्मणि प्राङ्मुखमवस्थितं राजानं पुरोहितादयः पुरस्तादवस्थाय अभिषिञ्चेयुः । पालाशौदुम्बरन्यग्रोधाश्वत्थानि चतुर्विधान्यभिषेकजलपात्राणि स्थापितानि । तत्र पालाशपात्रेण पुरोहिताध्वर्य्योरन्यतरः प्रथममभिषिञ्चेत् । इतरे स्वादयः पश्चादवास्थिता अभिषिञ्चेयुः । तत्रापि स्वो राज्ञो भ्राता औदुम्बरपात्रेण, अथान्यः कश्चित् क्षत्रियो मित्रभूतो वटपात्रेण, वैश्यः पुनरश्वत्थपात्रेणाभिषिञ्चति । एषां चतुर्णामभिषेक्तॄणां क्रमेण सोमस्य—अग्नेः—सूर्य्यस्य—इन्द्रस्य—एते चत्वारो मन्त्राः ॥ तत्र अभिषिञ्चामीति पदं प्रतिमन्त्रमावर्तते । क्षत्राणामित्यवयवोऽपि तथा । इममुष्येति मन्त्रं तु प्रथम एव पुरोहितोऽध्वर्य्युर्वा देवसूहविःष्विव नामग्रहणयुक्तं पठति नेतरे स्वादयः ।

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि, अग्नेर्भ्राजसा
सूर्य्यस्य वर्चससा, इन्द्रस्येन्द्रियेण ॥ (१)
क्षत्राणां क्षत्रमतिरेध्यति दिद्यून् पाहि । १० । १७ ।
इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते—
ज्यैष्ठ्याय, महते जानराज्याय, इन्द्रस्येन्द्रियाय ॥ (२)
ईममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश
एष वोऽमी राजा, सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ॥ (३) १०।१८।

हे यजमान ! चन्द्रस्य यशसा त्वामभिषिञ्चामि । तेनाभिषिक्तः सन् क्षत्रियाणां सर्वेषां मध्ये क्षत्रियेश्वरो भव । हे सोम ! शत्रु प्रयुक्तान् बाणादीनपसार्य्य त्वमिमं यजमानं पालय । "इषवो वै दिद्यवः इषुवधमेवैनमेतदतिनयति" इति श्रुतिः ५ । ४ । २ । २ ॥

हे सोमादयो देवाः !—दशरथस्य पुत्रं कौशल्यायाः पुत्रं कोशलायै प्रजायै तिष्ठन्तमिमं रामभद्रं शत्रुरहितं कृत्वा महते क्षत्राय ज्येष्ठत्वाय इन्द्रैश्वर्य्याय यूयं प्रेरयध्वम् ॥ हे अमी कोशलाः ! एष रामभद्रो युष्माकं राजा । अस्माकं ब्राह्मणानां तु सोमो राजा इत्याह पुरोहितोऽध्वर्य्युर्वा ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ यजमानः कण्डूयन्या कृष्णविषाणया कृत्वाभिषोदकेन स्वाङ्गलग्नेन स्वाङ्गं लिम्पति—

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः ।
ता आववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः ॥

आहुतिपरिणामभूता आपो नावः । ताः गमनशीलाः आत्मनैव विश्वमभिषिञ्चन्त्यः

पौर्णमास्यमावास्याचातुर्मास्यादिपर्वयुक्ततया पर्वतस्य वर्षितुरग्नेः पृष्ठप्रदेशादुत्थाय आदित्य-मण्डलं प्रति प्रचरन्ति ॥ ताः पुनराहुतिपरिणामभूता आपः आदित्यमण्डलं प्राप्य अधराक् आवृत्रन् अधस्तादावर्त्तन्ते । तत्र उदक्ताः ऊर्ध्वंगताः सत्यः बुध्न्यमान्तरीक्ष्यमहिं मेघमनु-सरन्त्यो भवन्ति इत्याह ॥ १ ॥

अथवा—आदित्योपरिष्टादापो नाव्या उच्यते । "नाव्या आप एव यजुष्मत्य इष्टका—इत्युपक्रम्य— पुष्टिश्च वै त्रीणि च शतानि आदित्यं नाव्या अभिक्षरन्ति इत्याह श्रुतिः । १० । ५ । ६ । १४ ॥ ता आपः पर्वतस्य वर्षितुरादित्यस्य पृष्ठात् निर्गच्छन्त्यः स्वयं सेक्त्र्यः सर्वतो गच्छन्ति ॥ तास्ततो व्यक्ताः सत्यः अन्तरिक्षस्थं मेघमनुप्रविश्य गच्छन्त्यः सत्यः प्रावृट्काले अधस्ताद्भूमिं प्रति आवर्त्तन्ते इत्याह ॥ २ ॥

अथवा—वर्षणसमर्थस्य पर्वतस्य हिमवद्विन्ध्यादेः पृष्ठाद्वहन्त्यो नावो नौतार्य्या महानद्यो गङ्गाद्याः प्रचरन्ति । स्वं यजमानक्षेत्रं सिञ्चन्त्यस्ता एव नाव्योऽधस्तादावृत्रन्-राजसूययाजिनोऽर्थायावर्तन्ते । किम्भूताः ?-अभिषेकपात्रेषु उत्क्षिप्ताः मूलभूतत्वात्प्रधानम् अहिमहन्तारं शत्रूणां, यजमानं प्रति सिच्यमानाः इत्याह ॥ ३ ॥

अथाध्वर्य्युर्यजमानेन व्याघ्रचर्मणि त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रिवारं पादप्रक्षेपं कारयेत्—

विष्णोर्विक्रमणमसि ॥ १ ॥

विष्णोर्विक्रान्तमसि ॥ २ ॥

विष्णोः क्रान्तमसि॥ ३ ॥ १० । १६ ।

हे प्रथमप्रक्रम ! त्वं व्यापिनो यज्ञपुरुषस्य प्रथमपादप्रक्षेपेण जितो भूलोकोऽसि । हे द्वितीयप्रक्रम ! त्वं विष्णोर्द्वितीयपादप्रक्षेपेण जितमन्तरिक्षमसि । हे तृतीयप्रक्रम ! त्वं विष्णोस्तृतीयपादप्रक्षेपजितं त्रिविष्टपमसि ॥ इत्याह ॥

"इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणं विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोः क्रान्तम्"—इति श्रुतिः ५।४।२।६॥ "विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णुरेव भूत्वा इमांल्लोकानभिजयति" इति तित्तिरिरप्याह ॥

ततः सदसः शालायामागत्य पुत्रोऽन्वारब्धे शालाद्वार्य्येऽग्नौ जुहोति।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
'अयममुष्य पिताऽसावस्य पिता'
वयं स्याम पतयो रयीणाम्—स्वाहा ॥ १ ॥

हे प्रजापते! त्वत्तोऽन्यो देवताविशेषः तान्येतानि सर्वाणि रूपाणि नानाजातीयानि भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालविषयाणि परिभवितुं समर्थो नाभूत्। उपलक्षणमेतत्। स्रष्टुं संहर्तुं च समर्थो नाभूत् ॥ अतो वयं येन कामेन त्वां जुहुमः, तत्फलमस्माकमस्तु। अत्र मध्ये यजुः प्रयुङ्क्ते। अयं रामोऽमुष्य दशरथस्य पिता, असौ दशरथोऽस्य रामस्य पिता इति ॥ सर्वथा सपुत्रा वयं धनानां पतयो भवेमेत्याह ॥ १ ॥

ततः पालाशेनाभिषेकपात्रेणाभिषेकोदकशेषानाग्नीध्रीयाग्नेरुत्तरभागे जुहोति—

रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि—स्वाहा ॥२॥१०।२०।

हे रुद्र! यत् तव कर्तृ हिंसितृ वा उत्कृष्टं नामास्ति। हे हविः! तस्मिन् रुद्रनाम्नि त्वं हुतमसि, अमेष्टं चासि इत्याह ॥ अमा गृहम् इष्टं दत्तम् ॥ २ ॥

अथ वाजपेयवद् रथवाहणाच्छकटात्—हे रथ!

इन्द्रस्य वज्रोऽसि ॥ १ ॥

इति मन्त्रेण भूमौ रथमवतार्य्य धूर्गृहीतं दक्षिणश्रोणिदेशे वेद्यामानीय-हे रथ !

मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि ॥२॥

इति मन्त्रेण प्रत्यश्वमावृत्तं न चतुरोऽश्वान् युनक्ति । तत्र पूर्वं दक्षिणं तत उत्तरं ततो दक्षिणाप्रष्टिं ततः सव्याप्रष्टिमिति क्रमः ॥ ततो यजमानश्चात्वालदेशस्थो रथमारोहति-हे रथ !

'अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वारिष्टो अर्जुनः ॥ ३ ॥

"अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः" इति श्रुतेः ५ । ४ । ३ । ७ । इन्द्रः अनुपहिंसितोऽहमभयाय अचलनाय वा अन्नरसाय च त्वामाधितिष्ठामीत्याह ॥ ३ ॥

ततो यजमानेन सहारूढो यन्ता इति मन्त्रयन् दक्षिणाधुर्य्यमश्वं कशया मार्जति हे धुर्य्य !-

मरुतां प्रसवेन जय ॥ ४ ॥

पूर्वमेवाहवनीयोत्तरतः स्थापितानां गवां मध्ये तं रथं स्थापये-

आपाम मनसा ॥ ५ ॥

वयं यजमानाः मनसा सह यदुपक्रान्तं तत्कर्म्म प्राप्तवन्त इत्याह ॥ ५ ॥

ततो यजमानो धनुरार्त्न्या गामुपस्पृशति-

समिन्द्रियेण ॥ ६ ॥ १० । २१ ।

वयं वीर्य्येण सङ्गताः स्म इत्याह ॥ ६ ॥

ततः थापितगवां पतये स्वभ्राने तावत् शतमधिकं वान्यद्दत्वा यूपात्पूर्वदिशि परीत्यान्तःपात्यदेशे रथं स्थापयेत्–

मा त इन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासो अब्रह्मता विदसाम ।
तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् देव यमसे स्वश्वान् ॥१॥१०।२२।

हे वज्रहस्त ! देव ! इन्द्र ! त्वं यं रथमधितिष्ठासि, यस्य च शोभनाश्वान् प्रग्रहान्नायच्छसि, हे तुराषाट् ! हे इन्द्र ! त्वदीया वयं तव तस्मिन् रथे अयुक्ताः तस्माद्भिन्नाः सन्तो मा विदसाम–विक्षीणा मा भवाम यथा ब्रह्मभावादन्यत्सर्वं विदस्यतीत्याह ॥ १ ॥

ततो रथविमोचनीयसंज्ञाश्चतस्र आहुतिर्जुहोति—

अग्नये गृहपतये स्वाहा ॥ १ ॥ सोमाय वनस्पतये स्वाहा ॥ २ ॥
मरुता मोजसे स्वाहा ॥ ३ ॥ इन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा ॥ ४ ॥

रथस्य एव यजमानो भूमिमवेक्षते—

पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो अहं त्वाम् ॥ ५ ॥ १० । २३ ।

अथ रथादवरोहति—

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा
अद्रिजाः ऋतं बृहत् ॥ १० । २४ ।

सूर्य्योहि दीप्तिस्थः, नराणां वासयिता प्रवर्तकः, वायुरूपेणान्तरिक्षस्थः, देवानामाह्वाता, अग्निरूपेण च वेदिस्थः, सर्वाराध्यः, आहवनीयादिरूपेण यज्ञगृहस्थः, प्राणभावेन

मनुष्यस्थः, उत्कृष्टस्थानस्थः, यज्ञस्थः, मण्डलरूपेणाकाशस्थः, मत्स्यादिजलजन्तुरूपेण जलेषुजातः, चतुर्विधभूतग्रामरूपेण पृथिवीजातः, सत्यजातः, अग्निरूपेण पाषाणजातो जलरूपेण मेघजातो वा, सर्वत्र गतः, परिवृद्धोऽपर्य्यन्तश्च भवति, तं प्रति रथादवतरामीत्याह ॥ अथवा शुचौ देवयजने रथवाहने वा स्थितः, स्वोपरि यजमानवासकः, वृक्षगुल्माद्यनवरुद्धप्रदेशस्थः, होतृसमानः, वेदीस्थानगतः, पूज्यः, यज्ञगृहस्थः, वाहकत्वेन मनुष्यस्थः, राजगृहस्थः, वाजपेयादि यज्ञस्थलीस्थः, सूर्यं वोढुमाकाशस्थः, जलजाताश्वोपेतत्वादब्जाः, वज्रजातत्वाद्गोजाः, यज्ञमुद्दिश्यजातत्वादृतजाः, पाषाणसदृशकाष्ठजातत्वादद्रिजाः, अयं हंसो नाम रथः प्रौढमिमं यज्ञ संपादयत्वित्याह ॥१॥ ❀ "अप्सुयोनिर्वा अश्वः" इति श्रुतिः। "इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्—स त्रेधा व्यभवत्। तस्य स्पयस्तृतीयं, रथस्तृतीयं" यूपस्तृतीयम्"। इति तैत्तिरिः।

अथ शाला दक्षिण भागे स्थापितस्य रथवाहनस्य दक्षिणचक्रे बद्धौ शतमानौ शतरक्तिकानिर्मितौ सौवर्णौ मणी यजमानः स्पृशति—हे रुक्मः !—

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेहि ॥१॥

शतरक्तिकापरिमितमसि—जीवनमसि—तस्यादायुः शताब्दपरिमितं मयि रोपय। संभारनिचयेन दक्षिणादानेन वा यज्ञयोजकोऽसि, तेजस्वी भवसि, अतो मम तेजो धेहि इत्याह ॥१॥

तौ शतमानौ ब्रह्मणे दत्त्वा पूर्वोक्तरथवाहने एवोपगूहितारमौदुम्बरीं शाखा+मुपस्पृशेत्—हे औदुम्बरि ! शाखे ! त्वम्—

❀ अस्य हंसः शुचिषदिति मंत्रस्य महीधरकृतोऽयमर्थः सर्वथैवाशुद्धउपहासयोग्यः।

+ अत्रायं पाठश्छिन्नस्थः।

ऊर्गस्यूर्जं मयि धेहि ।२।

अन्नरूपा भवसि ततोऽन्नं मयि स्थापयेत्याह ॥२॥

ततोऽध्वर्य्यु यजमानबाहू व्याघ्रचर्म्मस्थापितायां मैत्रावरूण्यां पयस्या यां नीचौं करोति—

इन्द्रस्य वां वीर्य्यकृतो बाहू अभ्युपावहरामी ३।१०।२५।

वीर्यकारिणः परमैश्वर्य्ययुक्तस्य यजमानस्य संबन्धिनौ हे बाहू ! अहं युवां मैत्रावरुणी पयस्यां प्रति नीचौ करोमीत्याह ॥३॥

पयास्यायाः श्विष्टकृद्धोमात् प्राक् रज्जुभिर्व्युतां खादिरीमासन्दीं (मञ्चिकां) व्याघ्रचर्मदेशेमैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरो निदधाति—हे आसन्दि !

स्योनासि—सुषदासि ॥१॥

त्वं सुखरूपासि—सुखेनोपवेष्टुं योग्यासि—इत्याह ॥१॥

आसन्द्यां वस्त्र माच्छदयति—हे अधिवास ! त्वं —

क्षत्रस्य योनिरसि ॥ २ ॥

क्षत्रियस्य मातृवद्धारकत्वेन कारणमसि इत्याह ॥२॥

सुन्वतमस्यामुपवेशयति—हे यजमान ! त्वम्—

स्योनामासीद—सुखदामासीद—क्षत्रस्य योनिमासीद ॥३॥१०।२६

ततोऽध्वर्यु यजमानहृदयं स्पृशति—

निषसाद धृतव्रतो, वरुणः पस्त्यास्वा, साम्राज्याय सुक्रतुः॥१॥१०।२७।

स्वीकृतयज्ञकर्म्मा अनिष्टवारकः शोभनसंकल्पः शोभनप्रज्ञो वा असौ यजमानः सम्राडभावाय प्रजासु आ निषसाद । यदासन्द्यां निषण्णः स प्रजास्वेवाधिपत्येनोप वि-वेशेत्याह । "विशो वै पस्त्या" इति श्रुतिः ५ । ४ । ४ । ५ ।

अथ यजमानहस्ते द्यूतसाधनभूतान् पञ्चाक्षान् सौवर्णकपर्द्दान् निदध्यात् । तत्र चतुर्णामक्षाणां कृतसंज्ञा पञ्चमस्य कलिरिति यदा पञ्चाप्यक्षा एकरूपा निपतन्ति उत्ताना अवाञ्चो वा तदा देवितुर्जयः । तत्र कलिः सर्वानक्षानभिभवति, तं प्रति-तत्संबन्धेन यजमानं प्रति वा उच्यते ।

हे अक्ष ! वा हे यजमान ! त्वम्—

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

अभिभविता अभितोव्याप्तासि । एताः कपर्दिकोपलक्षिताः पूर्वाद्यूर्ध्वान्ताः पञ्च दिशस्त्वदर्थं प्रभवन्तु इत्याह ॥ १ ॥

अथ यजमानो राज्यं मे स्त्वित्यात्मद्रव्यं संप्रार्थ्य पञ्चवारं ब्राह्मणमामन्त्रयते । ब्रह्माप्यामन्त्रितः सन् पञ्चकृत्व एव व्यत्यासं यजमानं प्रत्याह—

ब्रह्मस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवः ।
वरुणोऽसि सत्यौजाः । इन्द्रोऽसि विशौजाः, रुद्रोऽसि सुशेवः ॥२॥

अत्रैवं क्रमः । आदौ यजमानः—"ब्रह्मन्" इत्यामन्त्रयते । स च ब्रह्मा तं यजमानमेव व्यत्यासं प्रत्याह हे यजमान !—"त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसव"—इति॥१॥ पुनर्यजमानः "ब्रह्मन्" इति ब्रह्माणमामन्त्रयते । स च ब्रह्मा तं प्रत्याह— हे यजमान ! "त्वं ब्रह्मासि वरुणोऽसि सत्यौजाः" इति ॥ २ ॥ पुनर्यजमानः—

'ब्रह्मन्" इति मन्त्रेणामन्त्रयते । ब्रह्मा च प्रत्याह—हे यजमान ! "त्वं ब्रह्मासि न्द्रोऽसि विशौजाः" इति ॥ ३ ॥ पुनर्यजमानः—"ब्रह्मन्" इत्यामन्त्रयते । ब्रह्मापि तं प्रत्याह हे यजमान !—"त्वं ब्रह्मासि रुद्रोऽसि सुशेवः" इति ॥ ४ ॥ पुनश्च यजमानः—"ब्रह्मन्" इत्यामन्त्रयते ब्रह्मा च-हे यजमान !—"त्वंब्रह्मासि" इत्येतावतैव पञ्चमं प्रतिवचनमाह ॥ ५ ॥ २ ॥

यजमानमाकारयति—हे ! ‼ ‼!

बहुकार ! श्रेयस्कर ! भूयस्कर ! ॥ ३ ॥

अथ पुरोहितोऽध्वर्य्युर्वा द्यूतभूमिकरणाय स्पयं यजमानाय ददाति—हे स्पय

इन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य ॥ ४ ॥ १० । २८ ।

"इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार" इत्याद्युपक्रम्य "तस्य स्पयस्तृतीयम्" इति श्रुतिः । १ । २ । ४ । १ ॥ रध्यतिर्वशगमने । मम यजमानं वशवर्तिनं कुरु इत्याह ॥ "यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति" इति श्रुतिः ।५।४।४।१५॥ यद्वा यस्यांत्वं वज्ररूपस्तेन हेतुना मम द्यूतभूमौ परिलेखनरूपं कार्य्यं साधयेत्याह ॥४॥

एवं कृतायां द्यूतभूमौ कनकं निधाय तदुपरि चतुर्गृहीताज्यं जुहुयात्—

अग्निः पृथु धर्मणस्पतिर्जुषाणो
अग्निः पृथु धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा ॥ १ ॥

विशालः धर्मस्वामी, अग्निः प्रीयमाणः हविः सेवमानो वा घृतस्य पिबतु इत्याह ॥ आदरार्था पुनरुक्तिः ॥ १ ॥

पूर्वोक्तपञ्चाक्षान् द्यूतभूमौ क्षिपति-हे अक्षाः !—

स्वाहा कृताः सूर्य्यस्य रश्मिभि—
र्यतध्वं सजातानां मध्यमेष्ठ्याय ॥ २ ॥ १० । २९ ।

यूयं स्वाहाकारपूर्विकयाऽऽहुत्या तर्पिताः सन्तः सूर्य्यस्य रश्मिभिः स्पर्द्धां कुरुत ॥ किञ्च समानजन्मिनां भ्रातृणां क्षत्रियाणां मध्यमप्रदेशे यजमानावस्थानाय यत्नं कुरुत यथायं सर्व–क्षत्रियश्रेष्ठः स्यादित्याह ॥ २ ॥

ऋत्विजोऽन्ये विप्राश्च मिलिताः शतसंख्याः सन्तो दशपेययागे सौत्येऽहनि प्रति–सवनं सर्पणात् प्राक् स्वं स्वं सोमयाजिनां पित्रादीनां दशानामयममुकः प्रथमः सोमपः, असौ द्वितीयोऽसौ तृतीयः इत्येवं दशमपर्य्यन्तानां गणं गणयित्वा विभूरसीत्यादि सर्पणंकुर्वन्ति ।

अथ दशानां सोमयाजिनामसंभवे इममनुवाकं पठित्वा शतं विप्राः सर्पणं कुर्वन्ति । स यथा—

सवित्रा प्रसवित्रा, सरस्वत्या वाचा, त्वष्ट्रा रूपैः, पूष्णा, पशुभिः, इन्द्रेणास्मे, बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसा, अग्निना तेजसा, सोमेन राज्ञा, विष्णुना दशम्या, देवतया, प्रसूतः प्रसर्पामि ॥ १ ॥ १० । ३ ॥

अभ्यनुज्ञाकारिणा सूर्य्येण, वाग्रूपया सरस्वत्या, त्वष्टा रूपाणामधिपतिरित्युक्तैः रूपैरुपलक्षितेन त्वष्टृदेवेन, पशूपलक्षितेन पूष्णा, अनेन इन्द्रेण, देवयागे ब्रह्मत्वकर्त्रा बृहस्पतिना ओजस्विना वरुणेन, तेजस्विनाऽग्निना, ओषधिविप्राधिपेन दीप्यमानेन वा चन्द्रेण, दशसंख्यापूरिकया यज्ञाधिष्ठातृ देवतया चेत्येवमेताभिर्दशभिर्देवताभिराज्ञप्तोऽहं प्रसर्पामीत्याह ॥ १ ॥

इति राजसूयाधिकारः ॥ २ ॥

अथ राजसूयागत—
चरकसौत्रामणी मन्त्रा उच्यन्ते ॥

राजसूयान्ते विहिता सौत्रामणी चरक सौत्रामणीत्याहुः ॥ जाताङ्कुरा अजाताङ्कुराश्च व्रीहयः क्षौमे बद्धाः सन्ति । तन्मध्ये आजाताङ्कुराणां व्रीहीणामोदनं पक्त्वा विरूढान व्रीहींश्चूर्णीकृत्यौदनेन मिश्रयति । हे सुरे !

"अश्विभ्यां पच्यस्व, सरस्वत्यै पच्यस्व, इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व" ॥

यतः सौत्रामण्येन्द्रस्य भैषज्यं कर्तव्यमस्ति । अतः पच्यस्वेत्याह । पाको नाम विपरिणामश्रेष्ठता ॥ १ ॥

पशूनां वपामार्जनान्ते कर्मणि कृते कुशैः सुरां कस्मिंश्चित्पात्रे पुनाति—

वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क् सोमो अतिस्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ २ ॥ १० । ३१ ।

इन्द्रस्य योगार्हः सखा सोमो वायुना शोधितः कुशमयेन पवित्रेण पूतः सन् अधोमुखः सन् अतिक्रम्य गतः इत्याह ॥

"सोमः पूर्वं पूतिगन्धोऽभूत्—ततो देवैर्वायुरुक्तः, त्वं सोमं सुगन्धं कुर्विति। ततो वायुना सोमो दुर्गन्धमपहृत्य सुगन्धः कृतः इति श्रूयते ॥ १२ । ७ । ३ ॥

पूतायां सुरायां वदरीफलचूर्णं प्रक्षिप्य वैकङ्कतपात्रेणैकं ग्रहं गृह्णाति त्रीन् ग्रहान् वा प्रतिदेवतं गृह्णाति—

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति॥१॥
उपयामगृहीतोऽसि।
अश्विभ्यां त्वा—सरस्वत्यै त्वा—इन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥१०।३२।

हे सोम! यथा बहुयवसंपन्नाः कृषीवला बहुलं यवं सर्वं यवमयं सस्यं विचार्य्य आनुपूर्व्येण पृथक्कृत्य क्षिप्रं लुनन्ति, तथा एषां यजमानानां संबन्धीनि भोजनानि अस्मिन्नेव यजमाने कुरु; ये यजमानाः बर्हिषउपरि स्थिता हविर्लक्षणमन्नमादाय याज्यामभिधाय यागं कुर्वन्ति। हे सोम! त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि—अश्विभ्यां त्वां गृह्णामि—इत्येकं ग्रहं गृह्णाति॥ १॥ सरस्वत्यै त्वां गृह्णामि—इतिद्वितीयम्॥ २॥ रक्षकायेन्द्राय त्वां गृह्णामि—इति तृतीयं ग्रहं गृह्णाति॥ कुविदिति बह्वर्थे। अङ्गेति क्षिप्रार्थे चिदिति वितर्के। नमइत्यन्नार्थे॥

अतः परं द्वे ऋचौ सुराग्रहाणां प्रथमानुवाक्या—द्वितीया याज्या

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्म्मस्वावतम्॥१॥१०।३३।
पुत्रामिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत् सुरामं व्यपिवः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्॥२॥१०।३४।

हे अश्विनौ! नमुचिसंज्ञे आसुरे स्थितं सुरामं सुष्ठुरमयति यस्तं सुष्ठु रमणीयं वा सोमं सहैकीभूय विविधं पिबन्तौ शोभनस्य कर्मणः पालकौ युवां कर्म्मसु निमित्तेषु इन्द्रमपालयतं स्वकर्मक्षममकुरुतम्—इत्याह—तथाच श्रूयते। १२। ३। ४। १।

नमुचिर्नामासुर इन्द्रस्य सखासीत् स विश्वस्तस्येन्द्रस्य वीर्य्यं सुरया सोमेन सह पपौ। तत इन्द्रोऽश्विनौ सरस्वतीं चोवाच अहं नमुचिना पीतवीर्य्योऽस्मि ततोऽश्विनौ सरस्वती चापां फेनरूपं वज्रमिन्द्राय ददुः। तेनेन्द्रो नमुचेः शिरश्चिच्छेद। ततो लोहितमिश्रः सुरासहितः सोमस्तदुदरादश्विभ्यां पीत्वा शुद्ध इन्द्रायार्पितः इति तदर्पणेनेन्द्रमश्विनावरक्षताम् ॥ १ ॥

हे इन्द्र! उभौ अश्विनौ कवीनां मन्त्रद्रष्टॄणां सम्बन्धिभिः काव्यैस्तथादंससः कर्मणः करणेन त्वामावतुः। यथा मातापितरौ पुत्रं पालयतः यतः खलु हे इन्द्र! त्वं शचीभिर्नमुचिवधादिकर्मभिः सुष्ठु रमणीयं सोमं विशेषेण पीतवानसि। हे मघवन्! यस्माच्च सरस्वती देवी त्वामुपसेवते—अन्यथैतदुभयं न संभवेदित्याशयः ॥ २ ॥

॥ इति चरकसौत्रामणी ॥

॥ तदित्थं वाजपेय राजसूयाधिकारद्वयोपेतं तृतीयं मण्डलम् सम्पूर्णम् ॥

तेन मे भगवान् यज्ञपुरुषः प्रसीदतुतराम् ॥

शुक्लयजुः संहितायामत्र दशमाध्यायः पूर्णः ॥ १० ॥

॥ इति सोमसवनाध्यायः प्रथमः ॥

अथाग्निचयनम् ॥

इष्टयः पशवः सोमाः क्रमादेते प्रदर्शिताः ।
अथाग्निचयनग्रन्थं करोमि मधुसूदनः ॥ १ ॥

गार्हपत्यो नैर्ऋत्यं आहवनीयोऽष्टौ धिष्ण्याश्चेत्येतेषामेकादशानामग्नीनां सोम-सम्बन्धिनां संस्कारविशेषोऽग्निचयनं नामातियज्ञः ॥ अन्तरेणाप्यग्निचयनं सोमः क्रियते । इच्छतस्तु स महाव्रते सोमेऽग्निचयनमावश्यकमाहुः ॥ स्वातन्त्र्येणाप्यग्निचयनमिच्छन्ति । तत्रेदं द्विविधं भवति—अध्वरकर्म्म चाग्निकर्म्मचेति ॥

तत्र प्रथमायां फाल्गुन्यां पश्वालम्भो माघामावास्यायामिति केचित् । फाल्गुन्या अनन्तरायामष्टकायामुखासंभरणम् ततोऽनन्तरायाममवास्यायां दीक्षा ॥ ततः संवत्स-रं यावदुख्याग्निधारणं विष्णुक्रमं वात्सप्रादि कर्म्माणि । संवत्सरान्ते फाल्गुन्या अनन्त-रायाममावास्यायां सोमक्रयः । सोमक्रयात् प्रागेव गार्हपत्य चयनम् । सोमक्रयादूर्ध्वं चैत्रशुक्लेऽन्तरोपसदा वाहवनीयचयनम् । तत्र शतरुद्रियहोमः । अग्निविकर्षणं प्रवर्ग्यो-त्सादनं वसोर्धारा यजमानाभिषेको धिष्ण्याग्निचयनं पयस्याः इत्येतावानयमत्र कर्म्मक्रमः ॥

स चिकीर्षमाणः प्रथममुत्तरस्याः फाल्गुनपौर्णमास्याः द्वितीयेऽहनि कृष्णप्रतिपदि पौर्णमासेनेष्ट्वा चयनाङ्गं पशुयागं कुर्य्यात् ॥ तत्र नवैतानि मतानि संज्ञपितेष्टका[१], संग्रामहतेष्टका[२], स्वयंशान्तेष्टका[३], अमृतेष्टका[४], मृन्मयेष्टका[५], सर्वपशुप्रचारः[६], अजैकप्रचारः[७], प्राजापत्यैकपशुः[८], वायव्यैकपशुश्चेति[९] ॥ तद्यथा—

१ २ ३ ४ ५
पुरुषः अश्वः, गौः, अविः, अजः—इत्येते पञ्चैव दिव्याः पशवो भवन्ति। अग्निभ्यः कामायैते पञ्चाप्यालब्धव्याः। संवत्सरजातस्य कुमारस्याग्नेरेष्वेवोपसन्नत्वात्॥ तस्यान्यतो लाभासंभवात्॥ नचेदं नृशंसकर्म्मेतयोपेक्ष्यम्। अग्नेरनन्यलभ्यतया श्रेष्ठतमकर्म्मानुरोधेनास्य कर्तव्यतौचित्यात्। महतामुपयोगविशेषमनुरुध्यावरेषामात्मसमर्पणस्य विश्वजनीनव्यवहारसिद्धत्वादगर्हणीयत्वात्॥ तेषां विषमा रशनाः स्युः। पुरुषस्य वर्षिष्ठा। तत इतरेषामुत्तरोत्तरं ह्रसीयस्यः, स्वरूपानुरूप्यात्। वर्षिष्ठता चायामापेक्षया न तु स्थौल्यापेक्षया न तु स्थौल्यापेक्षया। अथवा सर्वेषां तुल्या एव सदृश्यः स्युः॥ तानेतान् पञ्चपशून् प्रयाजयाज्यादिभिः शमीभिः पर्य्यग्निकरणेन च संस्कृतानुदीचः शामित्रदेशं नीत्वोपांशु संज्ञपयेत्। संज्ञपनं मारणम्। तेषां पञ्चशीर्षाणि त्वङ्मांसतिस्कोद्धृतानि घृताक्तानि त्वङ्मस्तिष्क सहितानि वा चयनकाले उपधानार्थं क्वचिन्निदध्यात्॥ वैश्यः पुरुषो राजन्यो वा, कण्ठेषु तृणमन्तर्धाय शिरांस्यादत्ते। इत्येकं मतम्॥ १॥ ये त्वेवं संज्ञपनमेषां नेच्छन्ति तेषामेके संग्रामादिभिर्हतानामेषां शिरांसि गृह्णन्ति॥२॥ अन्ये स्वयं मृतानां शिरांसि गृह्णन्ति॥ संग्रामादि हतानां पञ्चानामपि शिरसां यज्ञनियते काले लब्धुमशक्यत्वात्॥३॥ परे तु स्वयं मृतानामनाप्रीतत्वादेवैरग्राह्यत्वादयज्ञियत्वम्॥ तस्माद्धिरण्मयान्येषां शीर्षाणि कृत्वोपदध्यात्। अमृतेष्टका ह्येता इत्याहुः॥ ४॥ अपरेत्वाहुः अमृतेष्टका ह्येता अनृतेष्टका द्रष्टव्याः। हिरण्मयानां पशुशीर्षत्वाभावात्। शिरोधेयानां श्रियां तत्र लेशतोऽप्यभावात्। श्रियामभावेन च ततोऽग्नेरलाभात् प्रयोगवैयर्थ्यात्॥ तस्मादिह मृन्मयान्येव पञ्चशिरांसि कृत्वोपदध्यात्॥ उत्सन्ना ह्येते पशवः। उत्सन्नानां चेयं भूमिरेव प्रतिष्ठा। तस्मादस्या एवाधि संभृत्य पश्विष्टकाः कार्य्याः इति॥ ५॥ अत्र प्रथमाः पुनराहुः। योह्येतेषामावृतं ब्राह्मणं च न विद्यात् तस्यैते पशव उत्सन्नाः स्युर्नविदुषाम्॥ तस्मादिह यावदस्य वशः स्यात् स एतानेव पञ्चपशूनालभेत। तत्रेष्टकार्थं शिरांस्येषामन्यत्र निधाय तदवशिष्टैः सर्वैरेव पशुकु–

सिन्धैय्यार्गः संपादयितव्य इति सर्वपशुप्रचारमतम् ॥ ६ ॥ तदसत् । अग्नेर्ह्येतच्चयनम् । पशवोह्यग्निः । तस्मात् पशुमयीभिरेवेष्टकाभिश्चयनं युज्यते । यजनं च पशुनाऽपेक्ष्यते । तदुभयसिद्धयर्थमजनैकेन यज्ञं प्रचरेत् । इतरेषां तु चतुर्णांकुसिन्धान्यप्सु तटाकादौ क्वचित् प्राप्स्येत् संस्थिते तु यागेऽजस्यापि तस्य शेषोऽप्स्वेवावहरिष्यते । यत्र चाप्सु तानि प्रप्लावयति तत एव मृदो जलानि च गृहीत्वा पशुकुसिन्धैः कुषिताभिरेव मृद्भिरद्भिश्चाग्निधारिणार्थोखाचाषाढां च विश्वज्योतिषश्च निर्म्मापयेत् । तेनेष्टकाचयनमग्निचयनं संपद्यते ॥ ननु येषामेक एवाजः पशुरिष्यते प्राजापत्यो वा वायव्यो वा तेषामप्सु कायप्रासनं नास्तीत्यनन्तरेणैव पश्ववयव संभरणं केवलाभिर्मृद्भिरद्भिश्च यथेष्टकाः संपाद्यन्ते तथेहापि सर्वपशुप्रचारमते ताः संपद्येरन्"—इति चेत् सत्यम् ॥ अथापि यद्येतैरत्र सर्वैर्यजेत तदेवाग्नेरन्तं परीयात्, देवानां तदितादियात्, अथोपथस्तदियात् । तस्माच्चतुर्णामप्सु कायप्रासनम् । अजेन तु प्रचर्य्य, संस्थिते तस्यापि शेषप्रासनमित्येन साधीयः"—इत्यैक पशुप्रचारमतम् ॥ ७ ॥ इत्थमेतस्मिन्मतसप्तके पञ्चपशु प्रतिपत्तिराख्याता ॥ उत्तरेतु मतद्वये एक पशु प्रतिपत्तिर्विधीयते । तत्र चरका आहुः । प्राजापत्यं श्यामं तूपरमालभेत । तूपरः शृङ्गी हीनः ॥ ८ ॥ अथवा वायवे नियुत्वते शुल्कं तूपरं लप्सु दिनमालभेत । कूर्चवान् लप्सुदित्येके । ललाटे शुक्लवर्णो लप्सुदित्येके नहि सर्वश्वेतस्य ललाटे श्वेतो विशेषः स्यात् । तस्मात्कूर्चल एव लप्सुदी ॥ ननु पञ्चैते पशवो ह्यग्निरूपम् । तदेक पशुत्वे नैष सर्वोऽग्निः कृत्स्नः संस्कृतः स्यादिति चेन्न । अजे ह्यस्मिन्न पञ्चमे पर्य्याये सर्वेषामेव पशूनां रूपैरस्याग्नेः संनिधानात् । एकेनैव कृतेन सर्वकरणात् ॥ यदयं तूपरो लप्सुदी तद्रूपं पुरुषस्य । तूपरः केसरवानित्यश्वस्य । अष्टाशफ इति गोः । अवेरिव शफा इत्यवेः । यदजस्तदजस्य । तेनैष एवैते पञ्च पशवो य एष प्राजापत्यो य एष नियुत्वतीयः । तेनैकस्यालम्भेन सर्वे पशव आलब्धाः स्युरित्य दोषात् ॥ ९ ॥ इत्थं नवैतानि

मतानि। तत्राषाढेः सौश्रोमतेयस्य पञ्चपशुकेऽग्नौ संज्ञपनमकृत्वा स्वयं मृतानामेव पञ्च-शीर्षाण्युपादधुः, तत्र तैरनामीतैः प्रचरणात् स ह क्षिप्रं ममार। तस्मात्तथा न कुर्य्यात्॥ अथैतान् पञ्च पशून् प्रजापतिः प्रथम आलेभे, अन्ततस्तु श्यापर्णः सायकायनः। एतौ चान्तरेकाले सर्वे पञ्च पशूनेवालेभिरे॥ अथैतर्हीमौ द्वावेवालभ्येते—प्राजापत्यश्च वाय—व्यश्चेत्याह भगवान् याज्ञवल्क्यः॥ ॥ सोऽग्नत्वेऽप्येकपशुरेवाग्निः संपाद्यः। प्राजापत्यो वा नियुत्वतीयो वा पशुरजः स्यान्न पञ्च पशव इति बोध्यम्॥

अथैषु प्रकृत्यपेक्षया विशेषा अभिधीयन्ते प्रकृतौ तावदेकादशानामृचां प्रथमोत्तम-योस्त्रिस्त्रिः करणात् पञ्चदश सामिधेन्य उक्ताः। तासामेकादशी समिध्यमाना। द्वादशी समिद्धवती। तयोरन्तरतो नव धाय्या ऋचोधीयन्ते—'समास्त्वाग्ने—इत्यादयः। तेन पञ्चपशौ चतुर्विंशतिः सामिधेन्यो भवन्ति॥ आप्रियो द्वादशऊर्ध्वा—अस्य समिधो भवन्ति। किञ्च प्रकृतौ दशान्तरेशा स प्रैषाद्यभिहितम्। इह त्वेकादशान्ते करोति। परिवृते पुरुषसंज्ञपनम्॥ वैश्वानरः पशुपुरोडाशः। स उपांशु प्रयोज्यः। पशुदेवता चोपां-श्वेव॥ आग्नेय्यो याज्यानुवाक्याः कामवत्य॥ इति पञ्चपशुत्वे विशेषाः॥॥

प्राजापत्यपशौ तु षड् धाय्या धीयन्ते। तेनैकविंशतिः सामिधेन्यः॥ हिर-ण्यगर्भवत्या तु ऋचा स्रौवाघारमुत्तरमाधारयति। प्राजापत्यः पशुपुरोडाशो द्वादशकपालः। याज्यानुवाक्याः कद्वत्यः॥ इति प्राजापत्यैकपशुत्वे विशेषाः॥

वायव्ये तु नियुत्वतीये द्वेधाय्ये। तेन सप्तदश सामिधेन्यः॥ इहापि प्राजापत्य एव पशुपुरोडाशो द्वादश कपालः॥ वपापुरोडाशो हविश्चेत्येतावान् हि पशुरिष्यते। तत्रादौ वायव्य पशोर्वपां जुहोति। मध्ये प्राजापत्येन पशुपुरोडाशेन चरति। अन्ते च पश्वङ्गेन हविषा चरति। तत्र वपायाः शुक्लवत्यौ, पशुपुरोडाशस्य कद्वत्यौ,

हविषस्तु नियुत्वत्यौ याज्यानुवाक्ये भवतः ॥ परे तु सर्वेषां शुक्लवत्यो नियुत्वत्यो याज्यानुवाक्या इत्याहुः ॥

एकादशानुयाजाः, एकादशोपयजः, द्वावाघारौ, द्वौ स्विष्टकृतौ, समिष्टयजूंषि, अवभृथश्चेति सर्वत्र समानानि ॥ यत्त्वाहुः—नैतस्य पशोः समिष्ट यजूंषि जुहुयात्। न च हृदयशूलेनावभृथमभ्यवेयात्। पश्वनुष्ठानं ह्यग्नेरारम्भः। आरम्भे च समिष्ट यजुर्होमो नावकल्पते। तस्य देवता विसर्जनरूपत्वात् ॥ एवमवभृथोऽपि न। तस्य यज्ञसंस्थारूपत्वात्। तस्मात्तदुभयं न कुर्य्यादिति केचित्। तन्न एकेन पशुना संस्थितेऽपि यागे चतुर्णामन्येषामप्सुकायमासनात्। तत्परिमाणमृन्मयीष्टकोपधानादिकं विनाऽग्न्य—न्तगमनासंभवाददोषात्। पशुकर्म्मासंस्थापने तु पशुप्राणस्य व्यवहितकरणेन यजमानस्य मृत्युदोषप्रसङ्गाच्च ॥ तस्मादिह पशुकर्म्म संस्थापयेदेवेति सिद्धान्तः ॥

अथ पशुयागोत्तरं चिन्वतो यजमानस्य व्रतान्यादिश्यन्ते। नियमेन कर्तव्यतया विहितं व्रतम् ॥ तत्र केचित्। एतेन पशुनेष्ट्वानोपरिशयीत, न मांसमश्नीयात्, न मिथुनमुपेयात्। पूर्वदीक्षा ह्येष पशुः। दीक्षितस्य चोपरिशयनं मांसाशनं मैथुनोपगमनं च नावकल्पन्ते इत्याहुः। तदसत्। कृष्णाजिन मेखले हि दीक्षालक्षणं तदभावादस्य दीक्षात्वानवक्लृप्तेः ॥ इष्टकान्त्वेतामेतेन पशुयागेन संपादयन्ति न दीक्षाम्। तस्माद्दीक्षितधर्म्माणामप्रवृत्तेः काममुपरि शयीत। आ च मधुनो यान्यशनानि तेषामेष्य काममश्नीयात् ॥ मैथुनं तु वर्जयेदन्ते विहितां मैत्रावरुणीं पयस्यां यावत्। आमिक्षायागोत्तरं तु मैथुनत्याग—नियमोऽपि नास्ति ॥

अथाहुः केचित्। अदक्षिणः यज्ञस्य निहतत्वादत्रापि पशुयागान्ते ब्रह्मणे आदिष्टि दक्षिणां दद्यादिति। तन्न। अत्र पश्वालम्भस्येष्टकार्थतया करणादिष्टकान्तात् प्राक् सत्यपि

कर्म्मसंस्थाविशेषे दक्षिणादानस्यानावश्यकत्वात् । अन्यथा व्रतीष्टका चितिसंस्थं दक्षिणादानं प्रसज्येत । तस्मात् सर्वचित्यान्ते दक्षिणादानकाले ब्रह्मणोऽपि दक्षिणां दद्याद् यदस्यो रकल्प्येतेति दिक् ॥

॥❀॥ इति पशु यागः ॥❀॥

अथ उख्यमृदाहारः ॥

फाल्गुन्या उपरिष्टादष्टम्यां कृष्णायामुखासंभरणम् । तदर्थमृत्तिकासंस्कारः क्रियते ॥ आऽवनीय दक्षिणाग्नी उद्धृत्य, आहवनीयात् पूर्वस्यां दिशि यथोपपन्ने देशे चतुःकोणं गर्त्तं खात्वा तत्र गर्त्ते पशुकायप्रासन स्थानात् तडागान्मांसादिकुषितं मृत्पिण्डमानीय भूसमं स्थापयेत् । पिण्डाहवनीयान्तले च व्यध्वे सच्छिद्रां वल्मीक वपां निदध्यात्॥ आहवनीयाद्दक्षिणस्यां दिशि त्रयः पशवोऽश्वगर्दभाजाः प्राङ्मुखाः पूर्वापराः कृत्वा मौञ्जीभिस्त्रिवृत्कृताभिः पश्चाङ्गीभिरश्वाभिधानीवत् सर्वतः परिशया नाभिर्वद्धाः स्थाप्यन्ते । तेषामश्वः पूर्वः पश्चादजो मध्ये तयो रासभः स्यात् ॥

आहवनीयादुत्तरस्यां दिश्यरत्निमात्रे कल्माषीमकल्माषीं वोभयतः क्ष्णुतमन्यतः क्ष्णुतं वा रत्निमात्रीं प्रादेशमात्रीं वा सुषिरां वैणवीमभ्रिं स्थापयेत् ॥ केचित्तु मन्त्रेहिरण्मयी लिङ्गाद्धिरण्मयीमिच्छन्ति । तदसत् । लोके हिरण्मय्या अभ्रेः प्रसिद्धत्वाच्छन्दोनिर्देशार्थतया मन्त्रे तत्पदोपादानात् ॥

अथ स्रुवेणाष्टकृत्वः स्रुच्याज्यं गृहीत्वोर्द्धामुद्गृह्णन् सावित्रीभिर्यजुरष्टमाभिः ऋग्भिरविच्छिन्नधारायैकामाहुतिं जुहोति ॥ ततोऽग्निं त्रिभिर्यजुर्भिरादाय चतुर्थेनाभिमन्त्र्य हस्ते तामाददान एवं त्रिभिः पशूनेतानभिमन्त्रयते । अथैतानुपस्पृशन्नेव पूर्वाभिमुखानुत्क्रमयति ॥ गार्हपत्यादीनग्नीनादीप्य प्रज्वलत्सु तेषु त्रिष्वग्निषु आहवनीयात्पूर्वतो गर्त्ते निहितं मृत्पिण्डमभ्याहर्त्तुमध्वर्य्युप्रभृतयो यजुर्वदन्तः प्राङ्मुखा गच्छेयुः ॥ तेषां च गच्छतां दक्षिणतस्ते पशवोऽपि त्रयो युगपद्गच्छेयुः ॥ तत्र देवपितृमनुष्यानर्थकमनड्वा पुरुषं यजुषा वीक्षते ॥ अर्द्धपथे च निहितां वल्मीकवपामादाय वपाच्छिद्रेण चतुःकोणगर्त्तस्थां तां मृदं यजुषावीक्षते दृष्ट्वा च वपामेनां निदध्यात् ॥ ततोमृदं तामागत्य तत्राश्वमभिमन्त्र्याक्रमयाति । मृत्पिण्डमश्वेनाधिष्ठाप्य ततः पुनरश्वमुन्मर्षयन्ननुपस्पृशन्नुत्क्रमयन्नाभिमन्त्रयते । पृष्ठोपरि पाणिधारणमुन्मर्षणम् ॥ तमश्वं तस्य मृत्पिण्डस्य दक्षिणस्यां दिश्यानीय तत्र पूर्वापरान् प्राङ्मुखानेतानश्वगर्दभाजान् आहवनीयवत् स्थापयेत् ॥ अथोपविश्य स्रुवेणाज्यं गृहीत्वा तत्र मृतपिण्डे यदश्वपदचिह्नं तस्मिन् व्यतिषक्ताभ्यामाग्नेयीभ्यां त्रिष्टुब्भ्यां स्वाहाकारेण द्वे आहुती जुहोति ॥ एकस्याः पूर्वार्द्धोऽन्यस्या उत्तरार्द्ध इत्येका ऋक् । एवमितरयोरर्द्धयोर्योगादन्या ऋगिति व्यतिषक्त उच्यते ॥ ततोऽभ्र्या गायत्र्यनुष्टुप् त्रिष्टुब्भिस्त्रिः कृत्वः परिलिख्य तस्य मृत्पिण्डस्य बहिर्बहिरुत्तरोत्तर वर्षीयसीस्तिस्रो लेखाः कार्य्याः । तत्र च लेखा लक्षिते त्रिपुरात्मके भूमदेशे समबिलं चतुरस्रं गर्त्तं तयाऽभ्र्या खनति । स यावत्य इष्टका उखापाढा विश्वज्योतिर्लोकम्पृणाख्याश्चिकीर्षितास्तावदेवेदं यजुषा खनेत् ॥ तत्रोत्तरतः प्राचीनग्रीवमुपरिलोम कृष्णाजिनं तूष्णीमास्तीर्य्य, तस्मिन् लोमवद्भागे किञ्चिदुत्तरतः पुष्करपर्णमास्तृणाति । पुष्करपर्णं विमार्ज्य युगपत् कृष्णाजिनपुष्करपर्णे आलभते । मृत्पिण्डं चालाभ्यसाग्नि दक्षिणपाणिसहकृतेन वामपाणिना परिगृह्य दक्षिणतःप्रदेशादुदङ्मुखमविच्छेदेनाहृत्य

पुष्करपर्णे निदधाति। यतः स मृत्पिण्डो गृहीतस्तत्रगर्त्ते योऽवनयति। वायुना च तं गर्त्तं पूरयति। ततोऽनामिकया पूर्वतः पश्चिमतो दक्षिणत उत्तरतश्च क्रमेण पांसु गृहीत्वा तत्र गर्त्ते संवपति॥ आस्तीर्णयोस्तु कृष्णाजिन पुष्करपर्णयोरन्तान् गृहीत्वोत्थापयति॥ उद्गृहीतानन्तान् त्रिवृता मुञ्जयोक्त्रेणोपनह्य वाससा परिवेष्ट्य, उत्तिष्ठन् प्रसारितबाहुः प्राञ्चं मृत्पिडमादायोर्ध्वस्तिष्ठति। अवहृत्योपरिनाभ्येव हस्ते पिण्डं धारयन्नश्वं रासभमजं चाभिमन्त्रयते। तं च मृत्पिण्डश्वपृष्ठयोपरि अनुपस्पृशन्नेवै धारयित्वा ततः खरपृष्ठोपरि तथैव धारयित्वा यजुषा पश्चादजपृष्ठे निदधाति। अथ प्रत्यावर्तमानास्ते तान् पशूनपि मृत्पिण्ड वाहकान् स प्रत्यावर्त्तयन्ति तेषामजः प्रथम एति तमनु रासभस्तमनु—श्चाश्वः पूर्वं मृदाहरणार्थं गतानामेषामश्वः पुरस्सरस्तमनु रासभस्तमनु चाज आसीत्। तद्वैपरीत्येन प्रत्यावर्तन क्रमो नेयः। अथामद्धापुरुषमीक्षते पूर्ववत्। अजस्योपरि—मृत्पिण्डं धारयन्नेवाध्वर्य्युरागच्छति। स मृत्पिण्डमजपृष्ठाद्दक्षिणत उदञ्चमुपावहरति यजुर्भ्याम्। तमाहवनीयस्योत्तरत उद्धतावोक्षिते सिकतोपकीर्णे परिवृते प्राग्द्वारे निधाय विष्यति। विषायो वन्धनप्रमोकः। अजलोमान्यादाय तान् पशूनैशान्यां विसृजति॥ पलाशपर्णक्वथित मुदकं यजुषा मृत्पिण्डे आसिच्य हस्तचालनाद्युद्द्रावितं तत्फेनं च तत्र तूष्णीमन्व वदधाति। अजलोमभिः शर्कराभिरयोरसैरश्मचूर्णैश्च संसृज्य मृतत्पिण्डं सयौति॥ इत्थं संस्कृता हीयं मृत्तिका चित्यानामुखापाढाविश्वज्योतिषां यजुष्मतीनां मिष्टकानां निर्म्माणायोपयुज्यते॥

॥❋॥ इति उख्यमृदाहारः ॥❋॥

अथोखानिर्माणम् ॥

यजुष्मती चितिकर्म्मणि मर्तिकानि द्रव्याणि यजुष्कृतया संस्कृतमृत्तिकयैव संपादयेत्। प्रथमवित्ता यजमानपत्नी महिषी। सा प्रथमं मृत्तिकया यजमानपादमात्रीमर्द्धचन्द्रकाभिरीषद्वक्राभिर्वातिसृभिर्लेखाभिर्युक्तामषाढा नामेष्टकां करोति। सापि महिष्येवेष्यते द्वियजुषो यजमानस्य॥

अथ यजमानः संस्कृतमृदं यजुषादाय उखां नाम स्थालीं प्रादेशोन्नतां तिर्य्यगपिप्रादेशमात्रीं संपादयति। पञ्च पशुत्वे तु तिर्य्यक् सा पञ्च प्रादेशा भवतीषुमात्री वा यावन्तं पिण्डमलं निधये मन्यते तावन्तदाय प्रादेशमात्रं प्रथयन् सर्वतोऽन्ता-न्नुन्नीय तत्र प्रथममुद्धिं यजुषा दधाति। उखादिपात्राणामधस्तलं निधिः। तदुपरि धीयमानो धातुभूतो मृत्पिण्ड उद्धिः। प्रथितस्य तलप्रान्ता उन्नीता उद्धिनैव धातुना क्रमेणोर्द्धाः क्रियन्ते॥ प्रथमाहितमुद्धिं संलिप्य श्लक्ष्णं कृत्वा पुनरुत्तरमुद्धिमादधाति येनेयमूर्द्धाप्रादेशमात्री स्यात्। तदित्थमयमूर्द्धभावे तिर्य्यग्भावे च प्रादेशप्रमाणेनोखा संपद्यते। सा यदि प्रादेशाद्वर्षीयसिस्यात् तर्हि यजुषा ह्रसीयसीं कुर्य्यात्। यदि वा ह्रसीयसी स्यात् तामपि यजुषा वर्षीयसींकुर्य्यात्। सर्वथा प्रादेशमात्रीं संभावयेत्। निधेरुद्धिद्वयस्य चान्तरतो बाह्यतश्च यथायथं समीकरणं भावयित्वा। तदुद्धिद्वयान्तराले छिद्राणि बहूनि सर्वतो रक्षयेत्। उखामुच्चत्वे त्रेधा विभज्योत्तरे वितृतीये सर्वतो दिक्षु तिरश्चीनां रास्नां यजुषा करोति रास्नावर्त्तिः। ऊर्ध्वाः प्रतिदिशं चतस्रोऽग्रावर्त्तीस्तूष्णीं करोति। तासामूर्द्धवर्तीनामेकैकस्या उपरि स्तनानिवोन्नयति। तत्र त्रीणि मतानि एके तावदेकस्या

एष वर्त्योरग्रे स्तनद्वयं कृत्वा द्विस्तनां कुर्वन्ति । परे चतसृणामग्रेष्वेकैकं कृत्वा चतुस्तनां कुर्वन्ति । अन्ये त्वेकैकस्मिन् वर्त्यग्रे द्वौ द्वौ कृत्वा तमाष्टस्तनां कुर्वन्ति ॥ तत्र चतुस्तनपक्ष एव श्रेयान् ॥ तां मुखविले गृहीत्वा निदधाति ॥ मृदमुपशयां च तत्रैव निदधाति कार्य्यार्थम् ॥ इत्थमुखासंपद्यते ततस्तिस्रो विश्वज्योतिष इष्टकाः पृथग्लक्षणा-स्त्रयालिखिताः कार्य्याः ॥

तत्रैके तिस्र उखाः कुर्वन्ति । एकस्याः प्रमादादिना भेदेनऽपरयाऽग्निधारणेन कर्म्मणोऽनन्तराय सिद्ध्यर्थं तासामावश्यकत्वादित्याहुः ॥ तदसत् । न्यूनस्येवातिरिक्त कृतस्यापि कर्म्मदूषणत्वात् । तस्मादेकामेवोखां कुर्य्यात् ॥ सा यद्युखा भग्ना स्यात्तर्हि प्रभूतविलायामन्यस्यामभग्नायां नवस्थाल्यां तमुखागतमग्निं पर्य्योप्य तस्यामेव स्थाल्यां पुरस्ताद् भग्नाया उखायाः कपालानि प्रक्षिपेत् तेनायमग्निः स्वयोनेर्न च्यवते । स उपशयां मृदमाहृत्य भग्नोखाकपालैः सह तां पिष्ट्वा संसृज्य पुनरन्यामुखां करोति पूर्ववत् । तत्र यजुरुपहरणं नास्ति सर्वं तूष्णीमेव कुर्य्यात् ॥ ता मुखां पक्त्वा तत्र स्थालीस्थमग्निं पर्य्यावपेत् । सैषा कर्म्मणिरेव तदुखाभेदन प्रायश्चित्तिः । पुनः करणं कर्म्मणः ॥ पुनस्तत्कपालमुखायामुपसमस्योखां चोपशयां च पिष्ट्वा संसृज्य निदधाति प्रायश्चित्यर्थम् । यद्युत्तरतोऽप्युखाभेदनं स्यात् तदेत्थमेव भूयोऽपि कुर्य्यात् ॥

अथ सप्तानामश्वशकानामेकैकेन दक्षिणाग्न्यादीप्तेन निर्म्मन्थ्यादीप्तेन वा पृथक् पृथगुखामिमां यजुषा धूपयति । ततस्तयैवाभ्रया पृथिव्यामुखास्थापनार्थं च चतुः स्रक्तिमवटं खनति ॥ मृत्पिण्डा वटोखावटयोरेवाग्निप्रदेशतया तदुभय खननोत्तरम-स्यागतार्थत्वात् परित्यागः ॥ तस्मिन्नवटे पचनार्थमधस्तात् तृणादिकं श्रपणमास्तीर्य्य तत्रादौ तूष्णीमषाढामवधाय ततोऽस्याङ्मुखीमुखां यजुषा, ततः पुनरिमास्तिस्रो विश्वज्यो-

तिषस्तूष्णीं, तदुपरि पुनः पचनार्थं तृणादिना श्रपणेनावच्छाद्य दक्षिणाग्न्यग्निना निर्म्मन्थेन वा दीपयति। तत्रोखामीक्षमाणो यजूंषि त्रीणि जपति। तत्रावटे यजुषोपन्याचरति यदा यदेच्छति। उपन्याचरणं श्रपणप्रक्षेपः। दिवैव प्रदहनोद्धरणे कुर्य्यात्॥ श्रपणाद्युद्वाप्यतामुखामुत्तानां पर्य्यावर्त्य गर्त्तादुद्धरति। तां परिगृह्य क्षीरसेचनार्थं पात्रे स्थापयति। ततोऽजायाः पयसा नामान्छृणत्ति उखाग्नित्वपक्षेऽप्युत्तानकरणाद्यजापयोऽवसेकान्ता चैकैका कार्य्या तदिस्थमुखाषाढा विश्वज्योतिषः कृता भवन्ति॥

इति उखानिर्माणम्॥

अथेष्टका करणम्॥

इष्टकाः पुरीषाणि चाग्निचित्यासाधनानि। इष्टका द्विविधा—लोकम्पृणा यजुष्मत्यश्च। इष्टकाकरणी परिच्छिन्नैरार्द्रपुरीषैः संघट्टिताः समचतुरस्रा दीर्घचतुरस्रा वोत्सेधवत्य इष्टका लोकम्पृणाः। लोकम्पृणा पुरीषाभ्यामन्यानि यजुषोपधेयानि चितिसाधनानि यजुष्मत्यः। तत्रैतां लोकम्पृणेष्टका उपरिफलके तिसृभिर्लेखाभिस्त्र्यालिखिताः कार्य्याः। ताश्च ऋज्वीभिरृज्वालिखिताः, वक्राभिर्वक्रालिखिता उच्यन्ते। द्वितीयचतुर्थ्योस्तु चित्योरपरिमितालिखिता इत्येके। त्र्यालिखिता एव सर्वत्रेति सिद्धान्तः। नैर्ऋत्येष्टका त्वेका निर्लक्षणा कार्य्या॥

ताश्चैता इष्टकाः पादमात्र्यः प्रथमायां चोत्तमायां च। पादमात्र्यो बाहुमात्र्य इति तुल्यार्थाः। ऊर्वस्थमात्र्यो वर्षिष्ठाः स्युरित्याम्नायते॥ परेत्वाहुः। नैता एक प्रमाणा

इष्यन्ते। क्षेत्राणां न्यूनाधिक प्रमाणतयैकप्रमाणाभिः सर्वक्षेत्र प्रच्छादना संभवात्। न च लोकवदिहेष्टकानां भेदनं कृत्वोपधानमिष्यते। तस्मादखण्डताभिश्चेतुं नाना प्रमाणास्ताः कार्य्याः। ता द्विविधाः—समचतुरस्रा विषमाश्च। तत्राह बौधायनः। समचतुरस्राभिरग्निं चिनुते। तस्येष्टकाः कारयेत् पुरुषस्य चतुर्थेन पञ्चमेन षष्ठेन दशमेन चेति। विंशतिशताङ्गुलस्य पुरुषस्य चतुर्भागीया स्त्रिंशदङ्गुलाः। पञ्चमभागीयाश्च—तुर्विंशत्यङ्गुलाः। षड्भागीया विंशत्यङ्गुलाः। दशमभागीया द्वादशाङ्गुलाः। इत्येताश्चतुर्विधा एवापस्तम्ब आह—"पादमात्र्यो भवन्ति, अरत्निमात्र्यो भवन्ति, ऊर्वस्थमात्र्यो भवन्ति, अनूकमात्र्यो भवन्तीति विज्ञायते" —इति॥ ता यथा—

अनूक मात्री	अरत्नि मात्री	ऊर्वस्थ मात्री	पाद मात्री
३०—३०	२४—२४	२०—२०	१२—१२

माध्यन्दिनीयास्त्वाहुः—चतुर्विंशत्यङ्गुलाबृहती। अष्टादशाङ्गुला जङ्घामात्री। द्वादशाङ्गुला पद्या। षडङ्गुला पादभागा। ता यथा—

बृ०	जं०	प०	पा०
२४	१८	१२	६
२४	१८	१२	६

एता एवैकतो न्यूनतायामर्द्धपूर्वा उच्यन्ते। चतुर्विंशत्यष्टादशिका चतुर्विंशतिद्वादशिका वा अर्द्धबृहती। अष्टादशद्वादशिका नवाष्टादशिका वा अर्द्धजङ्घामात्री। द्वादशषडिका अर्द्धपद्या षडङ्गुलत्र्यङ्गुला अर्द्धपादभागा॥ ता यथा—

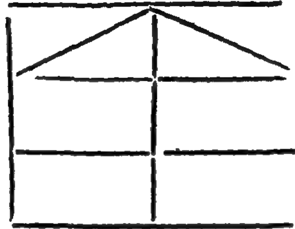
अ० बृ०	अ० ज०	अ० प०	अ० पा०
२४—१८	१८—१२	१२—६	६—३

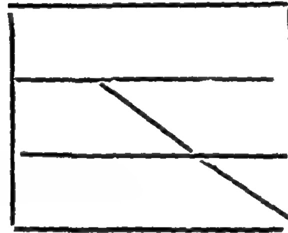
परे त्वन्या अपीष्टका आहुः। समचतुरस्रासु तावत्—अध्यर्द्धा जङ्घामात्री सप्तविंशिका सा त्रिग्राहिणीत्युच्यते। पञ्चदशिका अनूकपादाः। दशिका ऊर्वस्थपादाः। अष्टिका पञ्चमीचेति। विषमासु पुनः सट्त्रिंशच्चतुर्विंशिका द्वितीयाख्या, चतुर्विंशति द्वादशिका तृतीयाख्या। ता एता यथा—

त्रिग्रा०	अ० पा०	ऊ० पा	प० ५		द्वि० २	तृ० ३
२७–२७	१५–१५	१०–१०	८–८		३६–२४	२४–१२

अन्याश्च गार्हपत्यादि मण्डलक्षेत्राणां पूरणार्था वक्रेष्टकाः संपादयन्ति। तथाहि चतुर्विंशतिद्वादशिकाया अर्द्धबृहत्या द्वादशकौ भुजावष्टकौ कृत्वा तदनुसारेण तमेकं चतुर्विंशकं भुजं चेतुरङ्गुलेनोभयतो वक्रयेत्। तच्च व्यामार्द्धत्रिज्यया वक्रं स्यात्। सा वक्रार्द्धबृहती नाम चतुरस्रा स्यात्। ताश्चतस्रः कार्य्याः॥ एवमर्द्धबृहत्या एकं द्वादशकं भुजं तृतीयांशेन चतुरङ्गुलेन ह्रासयेत्। तेनासावष्टकः स्यात्। इतरं तु द्वादशकं भुजं विलोपयेत्। ततश्चतुर्विंशकाष्टकाभ्यां भुजाभ्यान्तृतीयं वक्रं भुजं व्यामार्द्धत्रिज्यया संपादयेत्।

सातिवक्रार्द्धवृहती नाम त्र्यस्रा स्यात् । ता अष्टौ कार्य्याः । इत्यापस्तम्बीयानां गार्हपत्ये वक्राः । ता यथा—





आसामुत्सेधस्तु चित्युच्छ्रायानुसारेण कल्प्यः । तथाहि — गार्हपत्येष्टकाचितिर्वा, धिष्ण्येष्टकाचितिर्वा, आहवनीयेष्टकाचितिर्वा, सर्वा एव प्रथमं चिन्वानानां जानुदघ्नोत्सेधा चीयन्ते । जानुश्च द्वात्रिंशदङ्गुला ३२ ॥ अत एवैकचित्ययोर्गार्हपत्यधिष्ण्ययोर्द्वात्रिंशदङ्गुलोत्सेधा भवन्ति । पञ्चचित्यस्त्वाहवनीयः । तस्मात्तदिष्टका जानुपञ्चमोत्सेधाः स्युः । षडङ्गुलान्यर्द्धचतुर्दशतिलोपेतानि च जानोः पञ्चमो भागः । नाकसदानां पञ्चचोडानां च पञ्च पञ्चेष्टका जानुपञ्चमार्द्धेन कार्य्याः । एकस्मिन्नेव प्रस्तारे तासामुभयविधानामौत्तराधर्य्येणोपधीयमानत्वात् । इत्थं पञ्चचित्योऽयमाहवनीयो जानुदघ्नः संपद्यते ।

आसां संख्यासु मतभेदा भवन्ति । "प्रथमं चिन्वानो जानुदघ्नं साहस्रं चिन्वीत नाभिदघ्नं द्वितीयम्, आस्यदघ्नं द्विषाहस्रे द्विप्रस्ताराश्चितयो भवन्ति, त्रिषाहस्रे त्रिप्रस्ताराः"—इत्याम्नानात् प्रथमासु पञ्चचित्यास्त्वाहवनीयस्येष्टकाः सहस्रं स्युः । प्रतिचित्यं तु द्विशती आयेरणेत्येकं मतम् ॥ कात्यायनस्त्वाह । द्विसाहस्री प्रथमा लोकम्पृणानां पञ्चाशदूना भवन्ति । उत्तराश्च । त्रिसाहस्री तूत्तम । तेन दशसहस्राण्यष्टौशतानि नेष्टकानां संपद्यन्ते । १०८०० ॥ षट्त्रिंशच्छत्या वा— तृतीया, अष्टादशशत्या इतरा इति । तेनापि दशसहस्राण्यष्टौ शतान्येवेष्टकानां संपद्यन्ते ॥

१०८००॥ उत्तरमुत्तरं ज्यायासं महान्तं बृहन्तमपरिमितं चिन्वीतेति विज्ञायते। तत्र ज्यायांसमुत्कृष्टैः कल्पैः। महान्तमुत्सेधतः। बृहन्तं परिमाणतः। अपरिमितं संख्यातः। नज्यायांसं चित्वा कनीयांसं चिन्वीतेति बोध्यम् ॥

एताश्च सर्वा एवेष्टका अग्निपक्वाः सूर्य्यपक्वा वा कार्य्याः। अग्निपाके तु दक्षिणाग्न्यग्नौ निर्म्मन्थ्याग्नौ वा पाकः ॥ पक्वाः कृष्णवर्णतां गतास्तु परित्याज्याः ॥ कृष्णेष्टकोपधानस्य नेष्टत्वात् ॥ अथ पाककाले कस्यचित्प्रत्यंशस्यविशरणे तु उपधानकाले पुरीषेण सोंऽशः पूर्य्यते। आधिक्येन विशीर्णानां खण्डितानां तु परित्याग एव। दुष्टानामुपधानावशिष्टानां चोत्करे प्रक्षेपः ॥ नैर्ऋत्यस्तुपादमात्र्यस्तिस्रो निर्लक्षणा इष्टका स्तुषाग्निपक्वाः कृष्णा एवेष्यन्ते इति विशेषः ॥ ता एता लोकम्पृणा आख्याताः। रज्जुमती स्तूपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥-

इति इष्टका निर्म्माणम् ॥

अथ संवत्सर दीक्षाः।

(तत्र दीक्षणीयेष्टिः)

फाल्गुन्यमावास्यायामामावास्येनेष्ट्वा दीक्षणीयेष्टिः क्रियते ॥ अग्निचयनं हीदमुभयं भवति—अध्वरकर्म्म चाग्निकर्म्म चेति। तस्य त्रीणि हवींषि भवन्ति—आग्नावैष्णव एकादशकपालोऽध्वरस्य दीक्षणीयम् ॥ वैश्वानरो द्वादशकपालश्च, आदित्यो घृतेचरुश्चेति द्वे हविषी अग्नेर्दीक्षणीयम् ॥ उपांश्वेतानि कुर्य्यात् ॥

(अथ औदुग्रभण होमः)

अथौदुग्रभणानि जुहोति। प्रथमं प्राकृतानि पञ्चध्वरिकाणि ततः सप्ताग्निकानि ॥ तान्युखायामेव तप्तायामेके जुह्वति। तदसत्। संस्थिते यज्ञे हुतेष्वौदुग्रभणेषूखाप्रवृञ्जनौचित्यात् ॥ प्रवृञ्जनमाहवनीयेऽधिश्रयणं कृत्वा प्रतितपनम् ॥

(अथ उखा प्रवृञ्जन समिदाधाने)

अथदण्डोच्छ्रयणान्तमाध्वरिकं कर्म्म कृत्वाऽध्वर्य्युर्वा यजमानो वा प्राङुदङ्मुखस्तिष्ठन् उखामाहवनीयेऽधिश्रयति। तत्राग्नेरुद्दीपनायोखाया मुञ्जकुलायेनावस्तरणं शणकुलायमन्तरतः कृत्वा कुर्य्यात् ॥ उखाया अन्तरे मुञ्जास्तदन्तरे शणाः स्युः तत्रार्चिष्येनामुखामारूढे त्रयोदश घृताक्ताः प्रादेशमात्रीः समिधस्तिष्ठन् स्वाहाकारेण प्रतिमन्त्रं आदधाति। यत्तु—उखायामर्चिरारोहणे विलम्बं दृष्ट्वा तत्रोखायामङ्गारानोप्य तत्र समिदाधानं कुर्वन्ति। तदसत्। अर्चिष्येव तदौचित्यात् ॥ तत्र कार्मुकी वैकङ्कतीमौदुम्बरीमपरशुवृक्णा मधः शया मष्टौ तु पालाशीरादध्यात्। तासु त्रयोदशी पुरोहितस्यैवाधीयते। द्वादशी क्षत्रियस्यैव। अन्येषां त्वेकादशैव न द्वादशी त्रयोदशी वा ॥ सर्वेषां त्रयोदशेत्येके ॥

(अथ विष्णुक्रम, वात्सप्रे)

अथ यजमानः प्रागुदङ् मुखस्तिष्ठन् रुक्म नाम स्वर्णाभरणं परिमण्डलमेकविंशतिपिण्डं कृष्णाजिनस्य शुक्लकृष्णलोमरेखोपरि निष्यूतं त्रिवृत्ति शणसूत्रे प्रोतमुपरि नाभि कण्ठादौ वहिः पिण्डमुखायां प्रतिमुच्य, परिमण्डलाभ्यां मुञ्जरज्जुमयीभ्यां त्रिवृत्कृताभ्यां मृद्दिग्धाभ्यां शिक्याभ्यां तामाग्निगर्भामुखां परिगृह्य यजुषा हृत्य आहवनीयस्य पुरस्तादासन्द्यां धारयति ॥ सा चेयमासन्दी औदुम्बरी प्रादेश–

मात्रोर्ध्वा तिर्य्यगरत्निमात्री चतुः स्रक्तानूच्या मौञ्जीभिस्त्रिवृत् कृताभी रज्जुभिर्युता मृदादिग्धाशिक्यवती च कार्य्या। इह द्विपादेशोऽरत्निरित्याहुः ॥ पादाङ्गेष्वायत तिर्य्यक् काष्ठान्यनूच्यानि ॥ अथैनामाग्निगर्भामुखां शिक्येन षडाभिर्मौञ्जैस्त्रिवृद्भिर्मृदादिग्धैर्दामभिरुपेतेन धारायितुमुखाया ग्रीवायां शिक्यपाशं प्रतिमुञ्चते । ततोविकृतियजुषाऽभिमन्त्र्य भावना मात्रेण तमग्निं सुपर्णस्य गरुत्मतः पक्षपुच्छवतो रूपेण विकरोति। केचित्त्वेतया विकृत्याऽभिमन्त्र्य सुपर्णरूपेण तं भावयित्वाऽप्युपरिष्टादन्यां चितिं चिन्वन्ति-द्रोणचितं वा, रथचक्रचितं वा, प्रउगचितं वा, उभयतः प्रउगं वा समुह्यपुरीषं वेति । न तथा कुर्य्यात् । विकृत्यभिमन्त्रणविरोधात् । तस्मात् सुपर्णचितमेव चिन्वीतेति सिद्धान्तः ॥ साशिक्यं च तं प्राञ्चं परोबाहुप्रगृह्यतमुपाहृत्योरिनाभि धारयति ॥ नाभिसमे देशे हस्तेन धारयन्नास्ते यजमानः । अथ सभामुदङ्मुखस्तिष्ठन् विष्णुक्रमान् क्रमते । तत्र त्रिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं पुरोदेशे पादं नीत्वा प्रक्षिपति । तमग्निं नाभेरुपरिदेशं प्रत्युद्गृह्णीयात् । इत्थं त्रिः पादप्रहारं त्रिःश्चादग्नेरुद्ग्रहणं कृत्वा चतुर्थेन मन्त्रेण सर्वादिशोऽनुवीक्ष्य तमग्निमेवोर्ध्वं मुप्रागुदञ्चं मुद्गृह्णाति न त्वत्र । पादं प्रहरति । इत्थं चतुरुदारुह्योपावहरति चतुः कृत्वा । तमुपवहृत्योपरिनाभ्येव धारयन्नाभिमन्त्रयते । अभिमन्त्रणमुपस्थानम् ॥ अथ शिक्यपाशं च रुक्मपाशं चोन्मुञ्चते । उन्मोको विस्रंसनम् ॥ प्राग्दक्षिणा तं परोवाहु प्रगृह्यावहृत्य चासन्द्यां प्रतिष्ठाप्यत्रिभिरुपतिष्ठते ॥ इति विष्णुक्रमः ॥ अथ वात्सप्रो स्थानम् । आग्नेय्य एकादशत्रिष्टुभो वात्सप्रम् ॥ स दीक्षा प्रथमदिवसे दीक्षमाणोऽपराह्णे काले विष्णुक्रमान् क्रान्त्वा तदानीमेव वात्सप्रेणोपतिष्ठते ॥

(अथ प्रात्यहिके समिदाधान-व्रतग्रहणे)

अस्तमिते रवौ पूर्वमुखातो भस्मनामुद्धरणं कृत्वा वाचं विसृज्य पुनस्तस्मि-

न्नुख्येऽग्नौ समिधमादध्यात् । एवं प्रातरुदिते रवौ पुनरुखातो भस्मान्युद्धृत्य वाचं विसृज्य तस्मिन्नुख्येऽग्नौ समिधमादध्यात् ॥ अहरहरेवमनुवर्तयेत् ॥ यर्हि पुनरस्मै यजमानाय व्रतं प्रच्छन्ति तदा तस्मिन्व्रते पयसि समिधं न्यजादधाति । यजमानस्य प्रात्यहिक भोजनार्थमाहृतं नियतं पयो व्रतमित्युच्यते । स समिध मादाय ततो व्रतयति । समित्संस्कारश्चायं व्रतसंस्कारश्च । अथवा समित्संस्कार एव न व्रतसंस्कारः ॥ तेन व्रत वहुत्वेऽपि न सर्वव्रतेषु न्यञ्जनम् ॥

(अथ प्रात्यहिके विष्णुक्रम वात्सप्रे)

एकस्मिन्नहनि विष्णुक्रमः, अपरस्मिन्नहनि वात्सप्रमित्येवं क्रमेणाहर्व्यत्यासेन विष्णुक्रमवात्सप्रे संवत्सर पर्य्यन्तमनुवर्तनीये यदि संवत्सरं दीक्षा इष्यन्ते । अथ दीक्षाणामुत्तमेऽहनि संनिवप्स्यन प्रातरुदिते आदित्ये भस्मैवप्रथममुद्धृप्य, वाचं विसृज्य समिधमादधाति । भस्मापोऽभ्यवहरति । भस्मनः प्रत्येत्योखामोप्योपतिष्ठते । अथ प्रायश्चित्ती करोति । तद्यदि विष्णुक्रमीयमहः स्यात्तर्हि पूर्वाह्णे क्रमान् क्रान्त्वा तस्मि-न्नेवाहनि वात्सप्रेणोपतिष्ठते । अथ यदि वात्सप्रीयं स्यात्तर्हि वात्सप्रेणोपस्थाय ततो विष्णुक्रमान् क्रान्त्वा पुनर्वात्सप्रमन्ततः कुर्य्यात् ॥ सर्वथापि वात्सप्रमेवान्ततः करोति न विष्णुक्रमान्ते कुर्य्यात् ॥ तदित्थं प्रथमोत्तमयोरह्नोर्विष्णुक्रम वात्सप्रयोः समुच्चयेन प्रयोगोऽन्येषु तु संवत्सरस्याहः सुदिनव्यत्यासेनेति विशेषः ॥

(अथ वनीवाहनम्)

दीक्षासु वनिवाहनमैच्छिकं प्रयुज्यते । स यदि चिकीर्षति तदा दीक्षाणामुत्तमे-ऽहनि वाग् विसर्गानन्तरं वनीवाहनं कृत्वा ततो भस्माभ्यवहरणादिकं कुर्य्यात् ॥ तथा— हियदहर्दीक्षां समाप्य चितिप्रदेशं प्रयास्यन् स्यात् तदहरुख्याग्नेरुत्तरतः प्राङ्मुखमनः

उपस्थाप्य तत उख्याग्नौ समिधमादधाति बुद्धवत्या ॥ अथानम् उपरि स्थापयितु-मासन्दी सहितमुख्याग्निमुद्यच्छति चितिमत्या । उद्यमनमुद्धरणमूर्ध्वं धारणम् । तमुद्भृतं दक्षिणत उदञ्चमनस्यादधाति । तथा कस्यांचित् स्थाल्यां गार्हपत्य-मग्निं समुप्यानसि तदुख्याग्नेः पश्चाद्देशे स्थापयति दक्षिणाग्निं च विलृतीये दक्षिणतः ॥ अथ यजमानोऽपि यदीच्छति शकटमेवाधिरोहति, अथवा पदापार्श्वतः सह व्रजति । तत्र शकटेऽनड्वाहौ युनक्ति दक्षिणमग्रे ततः सव्यम् । स यां कांचिद्दिशं प्रयास्यन् स्यात् इतः स्थानात्तु प्राङ् वाग्ने प्रयायात् प्रयाणवत्या । तत्र यदाक्ष उत् खर्जेत् तदा शान्तियजुर्जपति । उत् खर्जनमरमणीय शब्दकरणम् । यात्रायामुख्याग्निः प्रणेत-व्यस्तदिदं चयनस्थानमस्य गच्छतोऽग्नेर्वसतिरुच्यते । स यदि वसतेरर्वाङ्मध्येमार्ग-मेव क्वचिद्वनो विमुञ्चति तदायमग्निरनस्येव यथावन्निहितं भवति नावतार्यते । अथ यदि वसतिं प्राप्य विमुञ्चति तदा प्राग्देशेऽनउपस्थाप्य तदुत्तरतो भूमिमुद्धत्यावोक्षति । अनसो दक्षिणत उदञ्चमुपावहृत्य तमुख्याग्निं तत्रावोक्षिते प्रदेशे निदधाति । ततोऽस्मि-न्नुख्याग्नौ समिधमादधाति स्थितवत्या ॥ तदिदं वनीवाहनं दीक्षासु महावीरकरणयू-पच्छेदनवदैच्छिकमित्याहुः । कुर्य्यादेवेति तु सिद्धान्तः ॥ इति वनीवाहनम् ॥

(अथाभ्यवहरणम्)

वनीवाहनान्ते उख्याग्नेर्भस्मोद्धुप्य पलाशपुटेन तदपो द्विरभ्यवहरति त्रिभिर्यजुर्भिः जले प्रक्षेपोऽवहरणम् ॥ अप्सु प्रक्षिप्ताद्द भस्मनः पुनरीषद्भस्मानामिकया गृह्णाति चतु-र्भिर्यजुर्भिः । प्रत्याहृत्य तद्भस्मोखायामोप्योपतिष्ठते बुद्धवतीभ्यां गायत्रीत्रिष्टुब्भ्याम् ॥

(अथ प्रायश्चित्तयः)

उपस्थानानन्तरं द्वे प्रायश्चित्ती करोति अग्नेरपोऽभ्यवहरणं यत्करोति तन्निमित्ते द्वीमे प्रायश्चित्ती भवतः अथ वर्षमध्ये—यदि कदाचिदस्याय मुख्याग्निः स शाम्येत् तर्हि गार्हपत्यादेवैनं प्राञ्चमुद्धत्योपसमाधायोखां पूर्ववदावृता प्रवृञ्ज्यात्तूष्णीमेव । तां यदाग्निरारोहति तदा तत्र द्वे प्रायश्चित्ती करोति—पूर्वमध्वरप्रायश्चित्तिं ततोऽग्निप्रा-श्चित्तिं च ॥ स समिधाज्यस्योपहत्यासीन आहुतिं हुत्वोपोत्थाय समिधमादधाति ॥२॥ अथ यदि गार्हपत्यः संशाम्येत् तर्हि अरणिभ्यामेवैनं मथित्वोपसमाधाय प्रायश्चित्ती करोति ॥ ३ ॥ अथ यदि प्रसुत आहवनीयः संशाम्येत् तर्हि गार्हपत्यादेवैनं प्राञ्चं

सांकाशिनेन हृत्वोपसमाधाय प्रायश्चित्ती करोति ॥४ ॥ अथ यद्याग्निध्रीयः संशाम्येत् तर्हि तमपि गार्हपत्यादेव प्राञ्चमुत्तरेण सदोहृत्वोपसमाधाय प्रायश्चित्ती करोति ॥ ५ ॥

(अथ भृति परिचक्षा)

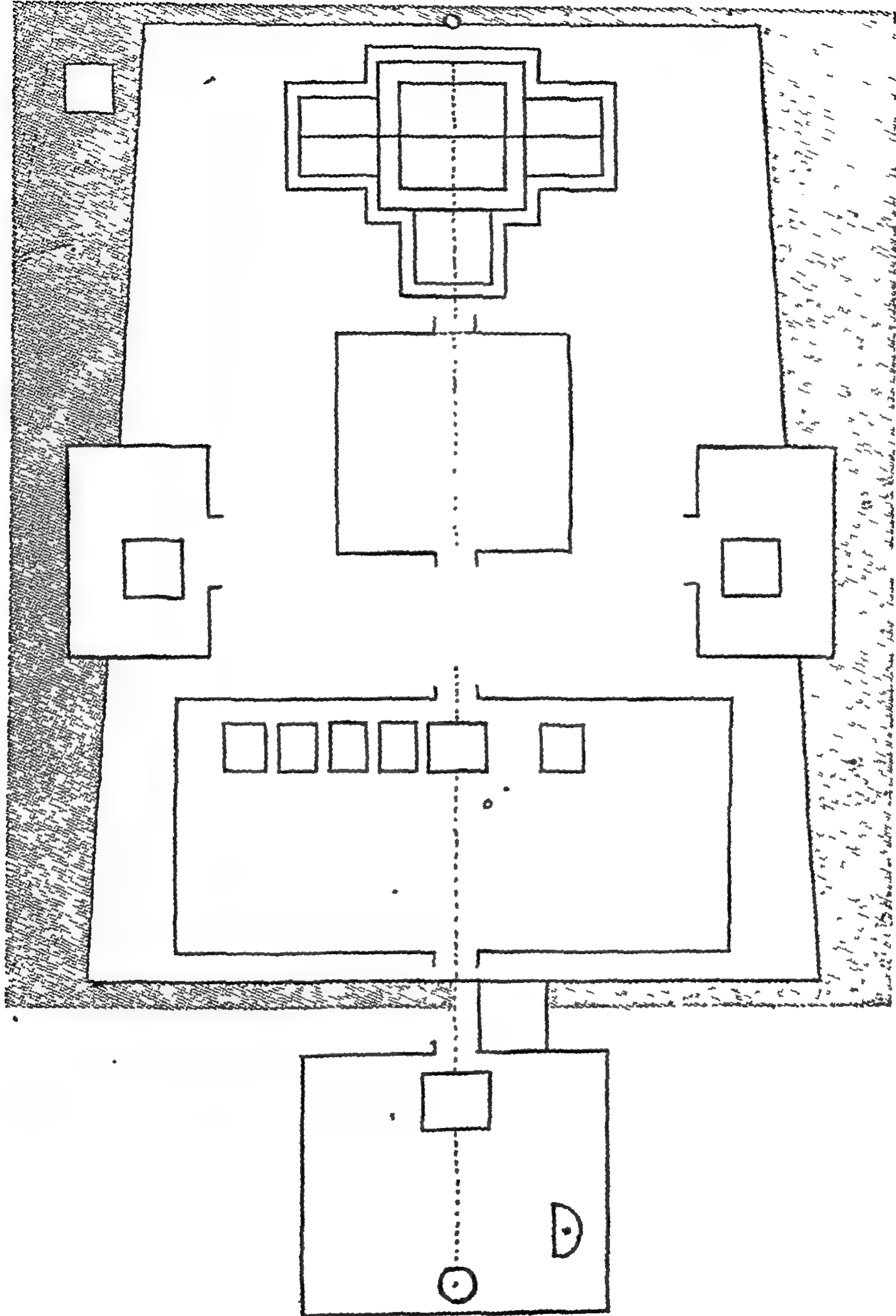
इत्थमुख्याग्नेः संवत्सरभरणमाख्यातम् । संवत्सरभृते ह्यग्नौ चयनं क्रियते । येन तु पुरा संवत्सरं भृतः स्यात् तस्य संवत्सरभृतिनोऽसंवत्सरभृतेऽप्यग्नौ चयनं भवति ॥ यो वा संवत्सरमभिषवं करिष्यन् स्यात्, यो वा सोमाधानिकः संवत्सरमग्निहोत्रं जुहुयात्, यो वा संवत्सरंजातः स्यात् तस्य तस्य चा संवत्सरेभृतेऽ-प्यग्नौ चयनं भवति । अथेदमन्त्यं मतं यदिह षण्मासानुख्यभरणंकृत्वाऽग्निश्चीयते इति । वसन्ते आरभ्य शरदि सुत्या, यद्वा शरद्यारभ्य वसन्ते सुत्या स्यात् । शरद्येव वा तथारम्भः कर्तव्यो येन वसन्त यजनीये सुत्या भवन्तीत्याहुः ॥

इतिदीक्षा ॥

अथ वेदी निर्म्माणम् ॥

दीक्षाणामुत्तमेऽहनि वेद्यग्निमानम् । तत्र देवयजने अकल्पिते कंचन भागं पश्चिमतोऽवकाश्य पत्नीशालीयापरान्तशङ्कुः क्रियते । अपरान्तान् प्रभृतिप्राच्यां-सप्तचत्वारिंशत् प्रक्रमेषु व्यामाधिकेषु (१७८८अं) (७४॥अरत्निषु) यूपावटीयशङ्कुः क्रियते स पूर्वान्तः । त्रिपदः प्रक्रमः षट्त्रिंशदङ्गुलः । चतुर रत्निर्व्यामः षण्नवत्यङ्गुलः ॥ अपरान्तात् प्राच्यां प्रक्रमान्तरे गार्हपत्यः । ततः सप्त प्रक्रमान्तरे योविन्दुस्ततो व्यामं विमिमीते व्यामस्य मध्ये आहवनीयः । व्यामान्तविन्दोः प्राच्यां त्रिप्रक्रमान्तरे वेद्यन्तः । स शालामुखीयशङ्कुः । वेद्यन्तात् प्रतीच्यां त्रिपदा वहिर्वेदिः । तमेतावन्तं संचरार्थमवकाशं परित्यज्य पश्चिमतः प्राग्वंशशाला संनिविशते । तथा च व्यामैकादशाः प्रक्रमा अन्तरा वेद्यन्तं च गार्हपत्यं चोपपद्यन्ते ॥ अथ वेद्यन्तात् षट्त्रिंशत् प्रक्रमा प्राचीं वेदीं मिमीते । त्रिंशतं पश्चात् तिरश्चीम् । चतुर्विंशति तु पुरस्तात् तिरश्चीम् । सैषा महावेदिः । यूपावटीयशङ्कोः पश्चात् पदमात्रं संचरं त्यक्त्वोत्तरवेदिः

❋ संचितियागाधिकारः ❋



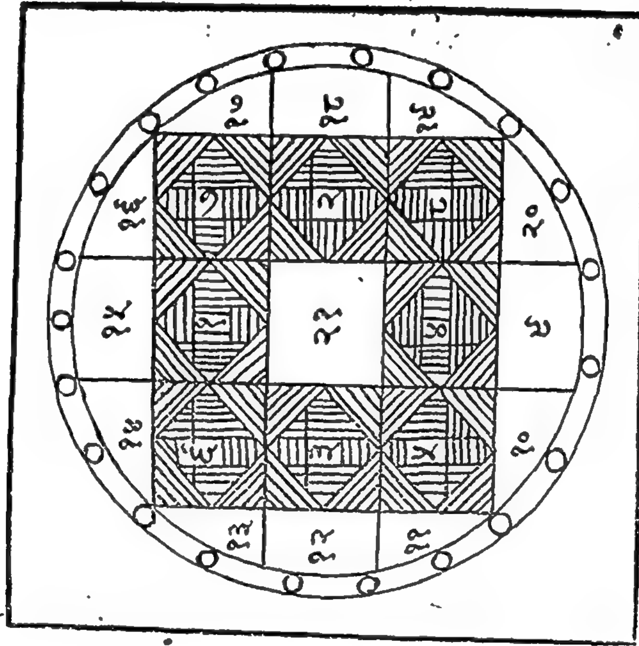
क्रियते । सा सर्वतो दशपदास्याद् युगमात्री वा । तां सिकताभिरनुविकिरति । उत्तरवेदिस्थेऽन्यस्मिन्नाहवनीये क्लृप्ते तदपेक्षया प्राग्वंशशाला द्वार्य्यस्य प्राकृतस्याहवनीयस्य गार्हपत्यसंज्ञा क्रियते अन्तः पात्यसंज्ञा च ॥ तस्यैव गार्हपत्यस्य चयनं क्रियते न प्राकृतस्य गार्हपत्यस्येति बोध्यम् ॥ आग्नीध्रीयमार्जालीययोः स्व स्व शालायामितरेषां च पण्एमं प्रशास्त्रीय— होत्रीय ब्राह्मणाच्छंसीय—पौत्रीय— नेष्ट्रीयाच्छावाकीयानां सदोमण्डपे संनिवेशः पवित्रे सोमे व्याख्यात ॥ सैषा नवति प्रक्रमा वेदिः । तस्यां सप्तविधमग्निं विदधाति ॥

॥ इति वेदिमानम् ॥

॥❀॥ अथ गार्हपत्यचयनम् ॥❀॥

उख्यस्थाने गार्हपत्यचयनं कार्य्यम् । तत्र यावति प्रदेशे गार्हपत्यमण्डलं चयनाय चिकीर्षितं तावान् प्रदेशो गार्हपत्यमित्युच्यते । तच्च गार्हपत्यं स्थानमादौ पलाशवृक्षशाखया व्युदूहति । तत्स्थाने पतितानां तृणपर्णलोष्ट्रादीनां संमार्जनेन बहिरपसारणं व्युदूहनम् । व्युदुह्य तां शाखामुदगग्रामुत्तरस्यां दिशि प्रक्षिपति । परिमार्जिते च तस्मिन् स्थाने ऊषान्निवपति । ऊषाः क्षारमृत्तिकाः । निवाय उपस्थापनम् ॥ न्युप्तैश्च तैरूषैः सर्वं तद्गार्हपत्यस्थानं प्रच्छादयति । पुनरूषवत् सिकतान्युप्य ताभिरपि सर्वं मन्मण्डलं छादयति । ततः शर्कराभिरस्य गार्हपत्यस्य परिश्रयणं करोति । ताः परिश्रितः शर्कराः सूक्ष्मपाषाणाः । परिश्रयणं परितोवेष्टनम् । तच्च मण्डलस्य चतुर्दिक्षु खातं विधाय तत्र खाते पुरस्ताद्दक्षिणतः पश्चादुत्तरश्चेत्येवं दक्षिणावर्त्तं निहिताभिरूर्ध्वमुखाभिरेकविंशतिर्कराभिः संपाद्यते । तानचिरश्चीस्तत्रावस्थापयेत् बाह्याः परिश्रितः । तदन्तरे ऊषाः । तदन्तरे सिकताः । तत्रैकविंशतीष्टका उपदध्यात् ॥ यथाहापस्तम्बः ।

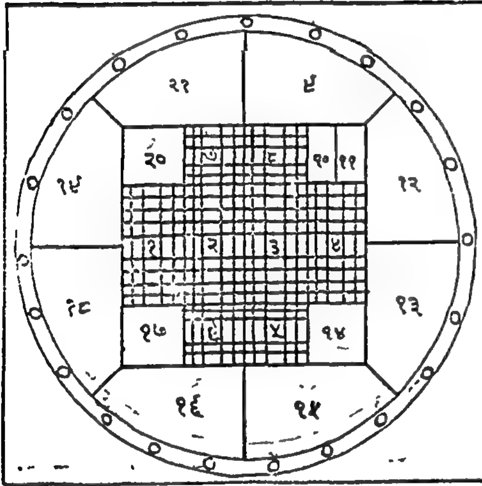
समे शुचौ क्वचिद् भूतले व्याममात्राधिकविस्तारं जानुपञ्चमोर्ध्वप्रमाणं संसर्जनीयैर्द्रव्यैः संसृष्टया संप्रकृष्टया मृदा विम्वं कृत्वा तन्मध्ये व्यामचतुरस्रक्षेत्रं मण्डलीकृत्य तस्मिंश्चतुरस्रमेकमवदध्याद् यावत्संभवेत् ॥ तन्नवधा व्यालिख्य त्रैधमेकैकं प्रधिं विभजेत् । तेन चतुरस्रं नवेष्टकम् ॥ नवाप्येता इष्टका अरत्निमात्र्यो बृहत्यः स्युः । तस्य चतुर्दिक् पार्श्वेषु धनुराकाराश्चत्वारः प्रधयस्त्रेधा विभक्ताः । प्रतिप्रधि च मध्ये वक्रार्द्धबृहती स्यात् । तामुभयतोऽतिवक्रार्द्धबृहत्यौ स्याताम् । ततो द्वादश । एवमेकविंशतीष्टकाः" इति ॥ तद्यथा—

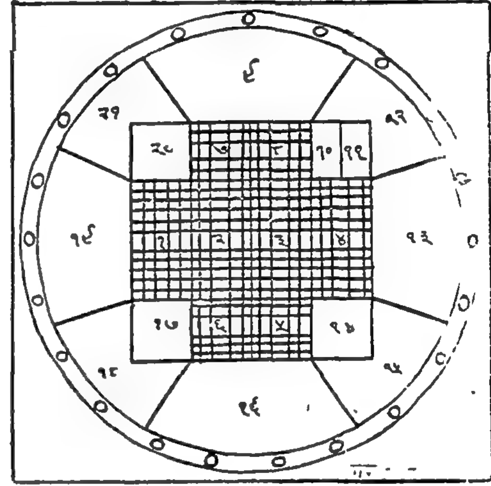


अथ यदि पक्वेष्टका उपाधातुमिच्छेत् तर्हि तत्रादौ दक्षिणत उदङ्मुखासीनो नवेष्टके चतुरस्रे क्रमादुत्तरां पूर्वां पश्चिमां दक्षिणां चोपदध्यात् । जघनेनोत्तरतो गत्वा नैर्ऋतीं वायव्यां चोपदध्यात् । जघनेन पुनर्दक्षिणतो गत्वा ऐशानी माग्नेयीं चोपदध्यात् ।

ततः उत्तरतो गत्वा प्रधिषु दक्षिणस्य मध्यादारभ्य दक्षिणावृदुत्तरस्य प्रधेः प्रथमां यावदुपदध्यात् । ततो दक्षिणामागत्योत्तरस्य प्रधे मध्यादारभ्य दक्षिणावृत्सर्वा इष्टका उपदध्यात् । इति क्रमः । इह हि नवेष्टके चतुरस्रे सर्वमध्यमातिरिक्ता अष्टाविष्टका यजुष्मत्यः । तदितरास्त्र दश लोकम्पृणा इति विवेकः ॥

वाजसनेयिनस्त्वाहुः । गार्हपत्यायतनस्य दक्षिणदेशे उदङ्मुखासीनो मध्ये तावच्चतस्रोऽर्द्धबृहतीः प्राचीरुत्तरातो दक्षिणां दक्षिणां क्रमेणाभ्यात्ममुपदधाति प्राचीः प्रागायताः ॥ इह हि चतुर्विंशति द्वादशिकार्द्धबृहती नेया। अथापरेण परिक्रम्योत्तरदेशे दक्षिणामुख आसीनः पश्चात्संलग्ने पादमात्र्यौ तिरश्चावुपधाय, पुनरपरेण परिक्रम्य दक्षिण देशे उदङ्मुखासीनः पुरस्तादपि सहिते पादमात्र्यौतिरश्चावुपदध्यात् । तिरश्च्यौ तिर्य्यगायते उभयतो द्वादशिका समचतुरस्रा पादमात्री । इत्थमुपधाने नायमग्निः पक्षपुच्छवानिव जायते इति विशेषः ॥ तिरश्चीषु स्रक्तिषु पादमात्रीः । पूर्वदक्षिणस्यां तु स्रक्त्यां द्वे अर्द्धपद्ये षड् द्वादशिका अर्द्धपद्या ॥ शेषेष्वष्टौ वक्राः । तद्यथा—





२४ । १२	अर्द्धबृहती	१ । २ । ३ । ४ ।
१२ । १२	पाद मात्री	५ । ६ । ७ । ८ । १४ । १७ । २० ।
१२ । ६	अर्द्धपद्या	१० । ११ ।
	वक्रा	९ । १२ । १३ । १५ । १६ । १८ । १९ । २१ ।

अस्य गार्हपत्यमण्डलस्य विष्कम्भो व्याममात्रः षण्णवत्यङ्गुलः । तत्र चतुर्विंशत्यङ्गुलां बृहतीमपरेण पूर्वेण च पादमात्र्यौ द्वादशाङ्गुले भवत इत्यष्टचत्वारिंशदङ्गुलश्चतुरस्रविष्कम्भः । ततः पुरस्ताच्चतुर्विंशत्यङ्गुलोऽवकाशः पश्चाच्च तावानिति मण्डलविष्कम्भो व्याममात्रः संपद्यते । तत्राष्टौ प्रथमा इष्टका यजुष्मत्यः इतरास्त्रयोदश लोकम्पृणाः ॥ यजुष्मतीष्वाद्यानां चतसृणां चत्वार्य्युपधानानि । तासां सकृदेव च सूददोहसाधिवदनं कार्य्यम् ॥ इतरासां तु चतसृणां यजुष्मतीनां चत्वार्य्युपधानानि, चत्वारि सादनानि, चत्वार्य्येव सूददोहसाऽधिवदनानि ॥ तदित्थमष्टावुपधानानि । पञ्च सादनानि पञ्चैव सूददोहसाधिवदनानि च यजुष्मतीनामुपपद्यन्ते ॥ अथेतरासां त्रयोदशानां लोकम्पृणानामुपधाने मतद्वयमाहुः । तिसृणां दशानां च विभागद्वयेनेत्येकम् द्वयोर्दशानामेकस्याश्च विभागत्रयेणेत्यपरम् । प्रत्युपधानं प्रतिसादनं प्रत्यधिवदनं च मन्त्रभेदः ॥

उपधानमिष्टकाया भूमौ स्थापनम् । उपहिताया इष्टकाया यथा संचलनं न स्यात् तथा समभूमौ सुदृढकरणं सादनम् । अन्याभिरिष्टकाभिरस्या इष्टकायाः संतननमधिवदनम । संतननं संयोजन संधानमित्येकार्थाः । संतनने क्रियमाणे तत्प्रयोजकेन सूददोहः संज्ञेन कारुहस्तनिहितेनायुधेनेष्टकाः । सादनानन्तरं नियमेमोद्धन्यंते । उद्धनने च शब्दो भवति तस्मात् संतननमधिवदनमित्युच्यते । इह तु चितौ तत्र तत्र नियमेन मन्त्रः प्रयुज्यंते तस्मात् "तया देवतया, अङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद्" इति मन्त्रः सादनमुच्यते । "ता अस्य सूददोहस" इतिमन्त्रस्तु सूददोहःसंज्ञः । तदुच्चारणमेवाधिवदनम् ॥ त एते सादन सूददोहसौ उपधानादुत्तरे सर्वास्विष्टकासु यजुष्मतीषु नित्ये भवतः । अविशेषोपदेशात् । यत्र तु नेष्येते तत्र प्रतिषेधः करिष्यते । लोकम्पृणासु तु दशदशोपधायाभिमन्त्र्यते । सादनाभिमन्त्रणं तु लोकम्पृणानां नेष्यते । सूददोहसाधिवदनं तु भवत्येव । अप्रतिषिद्धत्वात् । प्रतिचिति द्वे द्वे उपधाय मन्त्रवचनमित्याहुः ॥ अभ्यात्मं यथास्यात्तथा चयनं

कर्त्तव्यम् उपविश्य सव्यबाहुमन्तरं कृत्वोत्तर लक्षणाभिरिष्टकाभिश्रयनं कर्त्तव्यमिति च नियमो द्रष्टव्यः ॥ अथ यत्रेष्टकानामयुग्मगणो विधीयते तत्र तासां मध्यमा क्षेत्रस्यानूके उपधेया । यत्र चैकैवेष्टका विहिता साप्यनूके एवोपधेया । युग्मास्तु विहिता अनूकमभितोऽर्धार्धिकगोपधीयन्ते ॥ अथ यत्रेष्टकाः पूर्वापरसंनिवेशा विधीयन्ते तत्र ते उदगायामास्थाप्याः । दक्षिणोत्तर संनिवेशास्तु प्रागायताः कार्य्याः । भिन्नानामिष्टकानां कृष्णवर्णानां च नोपधानमित्युक्तम् आदौ यजुष्मत्य इष्टकाः । ततो लोकम्पृणा इष्टकाः ततः पुरीषमित्येवं चयन क्रमो द्रष्टव्यः ॥ एषां च गार्हपत्ये आहवनीयेऽन्यत्र च सर्वेष्टका-साधारण्येन परिभाषा व्याख्याता ॥

अथ लोकम्पृणोपधानानन्तरं चात्वालवेलाया आहृत्य पुरीषं निवपति । इष्टका सन्धिषु छिद्रपूरणार्थमुपरिष्टात् पुरीषनिवापः । पांसवः पुरीषम् । तच्च चात्वाल प्रान्तादानेयम् । उत्तरवेद्यर्थानां पांशूनां निर्हरणास्थानं चात्वालः । स चोत्तरवेद्यं सासन्नप्रदेशः । तस्य वेला समसूत्रामन्नदेशः । ततः पुरीषमाहरेत् ॥

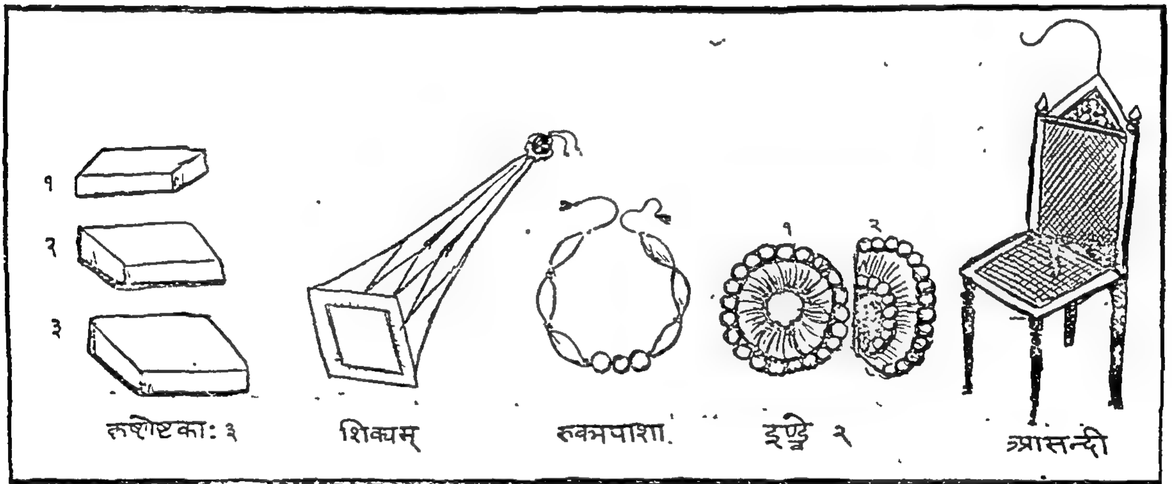
सेयं गार्हपत्यचितिः समंविला व्याममात्री परिमण्डला च भवति । अनुच्चावचरूपेण कृतसंनिवेशासमंविला । इत्थमिष्टकाभिश्रिते गार्हपत्यधिष्ण्ये उखयमग्निं स्थापयति । अग्निस्थापनानन्तरमेतां रिक्तामुखामध्वर्य्युर्यजमानश्च नावेक्षेताम् । सत्वरमेवास्या रिक्तत्वाभावाय सिकता आवपति ताभिर्बिलं पूरयित्वा स समंविला क्रियते । तां शिक्यात् पृथक्कृत्य चिति स्थापितस्याग्नेरुत्तरतोऽरत्निमात्रे निधाय तस्यां तथा प्रभूतं पयः स्तूष्णीमासिञ्चति, येनैताभ्यः सिकताभ्यः पयउत्तरं स्यात् ।

तमेतं गार्हपत्येमेके त्रिचितं चिन्वन्ति । तदसत् । अतिरिक्त करणस्य दुष्टत्वादितिदिक् ॥

॥ इति गार्हपत्याग्नि चयनम् ॥

अथ नैर्ऋत्याग्निचयनम् ।

अथ गार्हपत्यचयनानन्तरमस्मात् स्थानान्नैर्ऋत्यां दिशि गत्वा तत्र स्वतः सिद्धे निस्तृणे ऊषरस्थाने वा गर्त्ताकारेण स्वतः प्रदीर्णप्रदेशे वा दक्षिणामुखोऽध्वर्युरनुपस्पृशन् नैर्ऋतीरिष्टका निरस्येयुः। ता यथा—अलक्षणास्तुषपक्वाः कृष्णाः पादमात्र्यस्तिस्रो नैर्ऋत्य इष्टकाः, शिक्यं, रुक्मपाशा, इण्ड्वे, आसन्दी चेति ॥ भरण समये उखधारणार्थं शिक्यम्। सौवर्णस्य रुकास्य प्रतिमोचनार्थं सूत्रं पाशा। अग्नि सहिताया उखाया उभयतो धारणाय रज्जु निर्मिते तृणपिण्डनिर्मिते वा साधने इण्ड्वे। समिदाधानानन्तर मुख्याग्निधारणार्था चासन्दी ॥



कृष्णेष्टकाः ३ शिक्यम् रुक्मपाशा इण्ड्वे २ आसन्दी

तत्रादौ तिसृणामेका दक्षिणतः प्रक्षिप्य, ततो दक्षिणनैर्ऋत्यामन्यां ततोऽपि दक्षिणनैर्ऋत्यां तृतीयामेकत्रैव स्थितः प्रास्येत्। नात्रोपस्पर्शनं न सूददोहप्राधिवदनमिळ्गिन्ति। केचित्पुनरेता इष्टकान्तरवद्द अभ्यात्ममेव चिन्वन्ति। तन्न। अनिष्टावहत्वात्। तस्मादेताः पराचीर्दक्षिणोत्तरा एवोपदध्यात् ॥ ताः परेण शिक्य रुक्म पाशेण्ड्वासन्दीः क्रमेण प्रक्षिपेत् ॥

इत्थं प्रासनानन्तरमध्वर्युः स्वात्मन इष्टकाश्चान्तरेणोचमसं निनयति। ततः सर्वेऽपि शान्तिस्वस्त्ययनमन्त्रं जपन्तं उपोत्तिष्ठन्ति। चित्तं च तन्नै-र्ऋत्यस्थानमपश्यन्त एव सर्वे शालां प्रत्यागच्छन्ति। इत्थं प्रत्यावर्त्य शालाद्वार्य्यं गार्हपत्याग्निमुपतिष्ठते यजुषाध्वर्य्युः॥

॥ इति नैर्ऋत्याग्निचयनम्॥

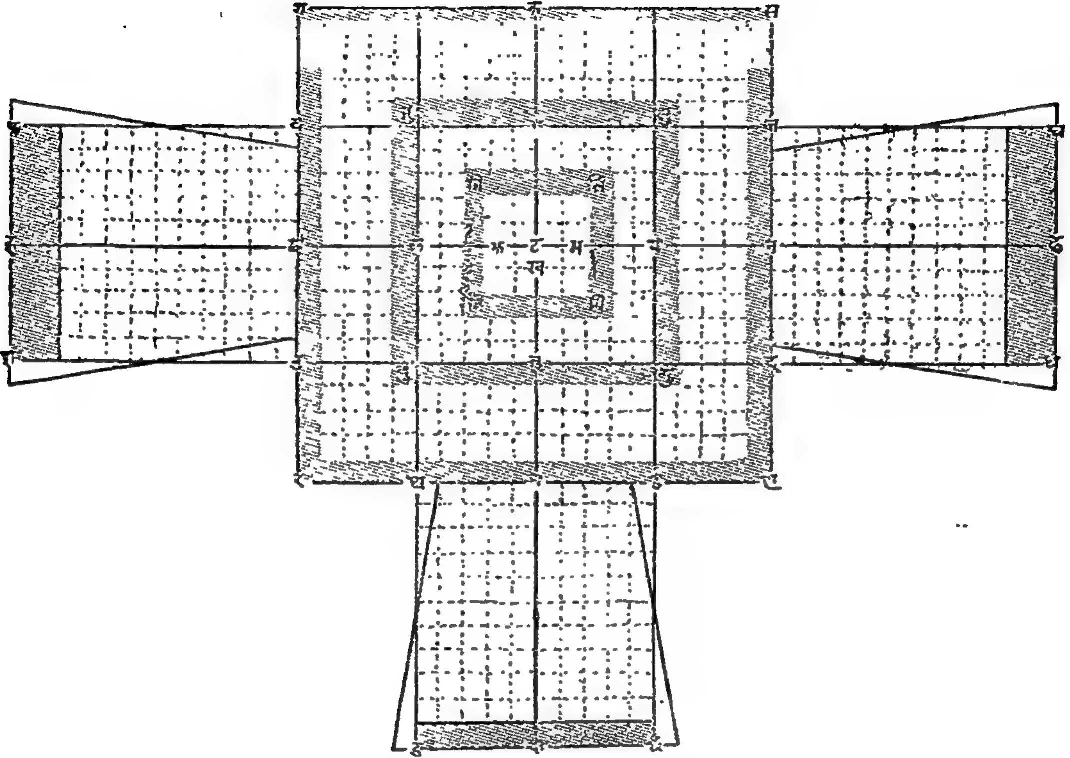
अथाहवनीय चयनम्॥

दीक्षणामुत्तमेऽहनि महावेदेरुत्करकरणान्ताः क्रियाः कृत्वा चित्यर्थं क्षेत्रं विमिमीते। इह हि यूपावत्याच्छङ्कोः पश्चिमे पदमात्रान्तरे चित्यस्य स्थानं भवति। तत्रेष्टकाचयनार्थमग्निक्षेत्रं सार्द्धसप्तपुरुषप्रमितं क्रियते। पश्चारत्निर्दशवितस्तिर्विंशति-शताङ्गुलः पुरुषः। इह तु यावानूर्ध्ववाहुर्यजमानः प्रपदोच्छ्रितः समस्थितो वा तत्पुरुष प्रमाणम्। द्विपुरुषां रज्जुमुभयतस्पाशां कृत्व तस्यां समचतुर्भागनिमित्तानि त्रीणि लक्ष-णानि कुर्यात्। मध्यमं चैकमर्धपुरुषीये च द्वे। अथ मध्यमात् पुरुषपञ्चमे पञ्चम-भागार्द्धे च लक्षणं कुर्य्यात्। ततो रज्जुमनुपृष्ट्यामायम्य पाशयोः शङ्कूकार्य्यौ। मध्ये चार्द्धपुरुषयोश्च तदेवं पञ्चशङ्कवः स्युः कचटप संज्ञाः। कपाभ्यां पाशावुन्मुच्या-र्धपुरुषीययोश्चकारतकारयोः प्रतिमुच्य दक्षिणायम्य मध्ये निमित्तं करोति न संज्ञम्। निमित्तं शङ्कुर्नितोदोवा। च ताभ्यां पाशावुन्मुच्य, एकं मध्यमे ठकारे प्रतिमुच्य दक्षिणाधिनिमित्तमायम्य मध्येऽर्द्धपुरुषे शङ्कुर्यसंज्ञः। तत्र यकारे पाशमेकं, तथा पूर्व्ये-ऽर्धपुरुषे चकाराख्ये पाशमन्यं प्रतिमुच्य दक्षिणायम्य मध्येशङ्कुः ससंज्ञः। स क्षेत्रस्य दक्षिणोंऽसः स्यात्। पूर्वार्ध्याच्चकारात् पाशमुन्मुच्य पश्चार्धे तकारे प्रतिमुच्य दक्षिणा—

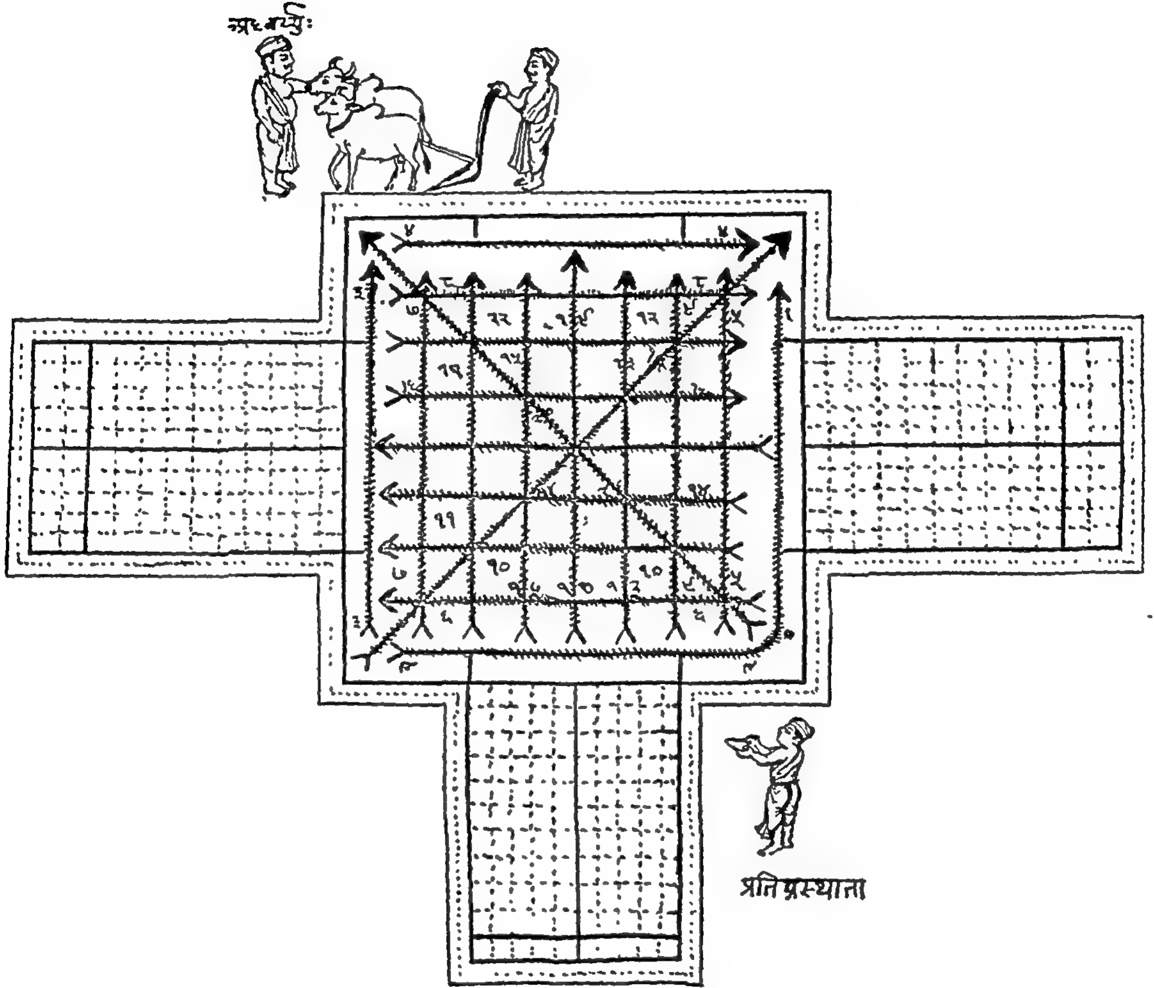
यम्य मध्ये शङ्कुर्णसंज्ञः। स क्षेत्रस्य दक्षिणा श्रोणिः स्यात् ॥ एवमुत्तरतः कृते मध्यमाट्टकारादुत्तरतः पुरुषे मकारो नितोदः। अर्द्धपुरुषे तु लकारः। उत्तरोंऽसोगकारः। उत्तराश्रोणी रकारः॥ अथ दक्षिणतः सनणेषु द्विपुरुषाभ्यां रज्जुं पातयित्वा नकारमुभयतोऽर्धपुरुषयोर्जकारदकारौ पूर्वापरौ तथोत्तरतो गमरेषु रज्जुपातनेऽर्धपुरुषयोर्वकारडकारौ पूर्वापरौ पश्चिमतश्च रपणेषु रज्जुपातनेऽर्धपुरुषयोष्ठकारथकारौ दक्षिणोत्तरौ। अथैतां द्विपुरुषां रज्जुमटनोपरि पातायित्वा दक्षिणा पञ्चमभागीये शङ्कुर्भकारः। तस्मिन् पाशं प्रतिमुच्य भयनेषु दक्षिणायम्य शङ्कुः ढकारः। एवं च जाभ्यां तदाभ्यां च दक्षिणायम्य घकारधकारौ। इत्थंजदघधेभ्यो दक्षिणःपक्षः॥ तथोत्तरतः पञ्चमभागीयं भकारं संपाद्य फहशाः पूर्वापरास्त्रयः शङ्कवः साध्याः। इत्थं वडफशेभ्य उत्तरः पक्षः॥ अथानुपृष्ठ्यां रज्जुं निपात्य टकारात् पश्चिमतः पञ्चमभागार्धे शङ्कुः कार्य्यः ख संज्ञः। खतपानुगतां रज्जुं पातयित्वापश्चिमः शङ्कुः क्रियते क्ष संज्ञः। ततो यठाभ्यां छशङ्कुसिद्धिः। लथाभ्यां तुङशङ्कुसिद्धिः। इत्थंठछङथेभ्यः पुच्छं स्यात् ॥ तदित्थमग्निक्षेत्रं संपद्यते। विहाराध्याये वंशेनास्य सिद्धिराख्याता। इह रज्ज्वा व्याख्यातं बुद्धिवैशद्यार्थम् ॥

इच्छन् पक्षपुच्छाप्ययेषु चतुरङ्गुलं चतुरङ्गुलं संकर्षति विकर्षत्यन्ते ॥ रज्ज्वा सर्वतो वेष्टयित्वा रज्जुवहिर्भागे संलग्ना एकषष्ट्यधिके द्वे शते [२६१] परिश्रितो मिनोति। चतुर्नवत्यधिकानि त्रीणिशतानि वा [३९४] ऊर्ध्वाः शर्करा दधाति ॥

इत्थमिदं सार्धसप्तपुरुषं सुपर्णचिति क्षेत्रं संपद्यते। तदग्निरित्याचक्षते ॥ तत्र मध्यमश्चतुरस्रश्चतुः पुरुष आत्मा। दक्षिणोत्तरौ तु द्वौ पुरुषौ प्रत्येकंपञ्चमांशेनाधिकौ पक्षौ। पश्चिमे पुरुषो दशमांशेनाधिकः पुच्छम्। आत्मपक्षयोः सन्धिः पक्षाप्ययः। आत्मपुच्छयोः सन्धिः पुच्छाप्ययः। पश्चिमेन पक्षावपिकक्षौ। पूर्वेणोपलवयौ। स्रक्तिरात्मनः पूर्वदक्षिणा दक्षिणोंऽसः। दक्षिणपश्चिमा दक्षिणा श्रोणिः। पश्चिमोत्तरा उत्तराश्रोणिः। उत्तरापूर्वा तूत्तरोंऽसः आत्मनि विंशत्या विंशत्या विभक्तिभिरन्वक् च विभाजिते चत्वारिंशतानि लोकाः स्युः। नाभेः प्रतिदिशं तृतीया लोका रेतः सिग्वेला। तत्र विंशतिर्लोकाः। नाभेः प्रतिदिशं षष्ठालोका अपाढावेला। तत्र चतुश्चत्वारिंशल्लोकाः॥ नाभेः प्रतिदिशं दशमालोकाः प्रान्तः। तत्र षट्सप्ततिर्लोकाः। नाभेः प्रान्तमनुगता ऋज्वी लेखा कनीयसी अनूकम् ॥



अत्र गणसर-मितश्चतुरस्र आत्मा ॥ जघधद-मितो दक्षिणः पक्षः । बडशफ-मित उत्तरः पक्षः । ठछङथ-मितं पुच्छम् ॥ जनदाः दक्षिणपक्षाप्ययः । बमडा उत्तरपक्षाप्ययः । ठपथाः पुच्छाप्ययः ॥ जघौ दक्षिण उपप्लयः । बफावुत्तरउपप्लयः ॥ दधौ दक्षिणोऽपिकक्षः । उशावुत्तरः ॥ सो दक्षिणोंऽसः । ग उत्तरोंऽसः । णो दक्षिणा श्रोणिः । र उत्तरा ॥ टकारो नाभिः ॥ तिसिगिवि-मितं चतुरस्रं रेतः सिग्वेला ॥ तुसुगुवु-मित मंषाढावेला ॥ गकसनण परमाः प्रान्तः ॥ कक्षौ प्रागनूकम् । ढहौ तिर्य्यगनूकम् ॥



अथ क्षेत्रकर्षणम्

इत्थं पूर्वेद्युर्वि क्षेत्रं विमाय तत्रेदानीं स्फाद्याः संमर्शनान्ताः क्रियाः क्रियन्ते। तत्रादौ ज्योतिष्टोम दर्शितयावृता प्रायणेष्टिः। तत्रादित्यै चरुं निर्वपति। हविष्कृता वाचं विसृज्य महावेद्यां स्तम्बयजुर्हरति॥ स्तम्बयजुर्हरणं पुरीषंहरणकर्मणो नामधेयम्। पूर्वेण परिग्रहेण वेदिं परिमृह्यस्थ्येन प्राचीस्तिस्रो लेखाः कृत्वाऽध्वर्युराग्नीध्रं प्रेष्यति —त्रिर्हरेति।

स त्रिः पुरीषं हरति । एतच्च महावेद्यां क्रियते न प्रायणीयवेद्याम् । अतो महावेदेः प्रत्यागत्य प्रायणीयेन प्रचर्य्याहवनीयचित्यर्थे क्षेत्रे हलकर्षणं करोति । तत्र सीरं तावदौदुम्बरं । परितः सीरस्य योजनायोपयुज्यमानदामादिकं परिसीर्य्यं तच्च सर्वमेव रज्जव्यं मौञ्जं त्रिवृत्कृतं ग्राह्यम् । सोऽग्नेः क्षेत्रस्यात्मनो दक्षिणश्रोणेः पश्चाद्भागे तिष्ठन् प्रतिप्रस्थाता तस्योत्तरांसाः पुरस्ताद्भागे युगबलीवर्दादिभिः सह रज्ज्वा वध्यमानं सीरमभिमन्त्रयते गायत्री त्रिष्टुब्भ्याम् तत्राध्वर्य्युर्दक्षिणमेवाग्रे धुर्य्यं संयोज्य पश्चात् सव्यं युनक्ति । अनडुहां संख्यायां मतत्रयमाहुः—षड्गवं द्वादशगवं चतुर्विंशतिगवं वा तत्र द्वावेव यजुषा युनक्ति तूष्णीमितरांः । अथ क्षेत्रं परितः क्लृप्ते खाते क्लृप्तानां परिश्रितामन्तरतः समासक्तां सीतामादौ सर्वतः कृषति । कृष्टलेखा सीता । तत्रादावात्मनो दक्षिणभागे दक्षिणश्रोणेरारभ्य प्रागपवर्गां कृष्ट्वा ततः पश्चिमभागे दक्षिणश्रोणेरेवारभ्योदगपवर्गां द्वितीयां, तथोत्तरभागे प्रागपवर्गां तृतीयां, ततः पूर्वभागे दक्षिणापवर्गां चतुर्थीं क्रमेण चतुर्भिर्मन्त्रैः कर्षयेत् । अथ पुनरनेनैव क्रमेण तत्तदन्तरतस्तस्रस्तिस्रः सीतास्तूष्णीं कृषति । ताः षोडशलेखाः संपद्यते । ततः एकं तिर्य्यगनूके एकमक्ष्णया श्रोण्यंसयोरेकं प्रागनूके पुनरेकमक्ष्णयाश्रोण्यंसयोः कृषति सोऽध्वर्य्युरेव दोषप्रयुक्तेषु तु कर्षणेष्वन्येऽपि पुरुषाः नियोगमर्हन्ति ॥ आत्मन्येवेदं कर्षणं न पक्षपुच्छेषु कर्षणानन्तरंताननडुहः पूर्वोत्तरदिशि विमुञ्चेत् । त एते मध्यन्दिनसवनीये दक्षिणाकालेऽध्वर्य्यवे दक्षिणात्वेन प्रदास्यन्ते ॥ सीरंतूत्करे कुर्य्यात् ॥

अथ दर्भस्तम्बोपधानम् ।

एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते । दर्भस्तंबः कुशमुष्टिः ॥ सकृष्टे क्षेत्रमध्ये सर्वत्र सीतासमरे कुशमुष्टिं तूष्णीं विकिरेत् । सीतोत्खातमृत्तिका संघर्षः सीतासमरः । अथ यजमानः पञ्चधा गृहीतेनाज्येन स्रुचमूर्ध्वां कुर्वन् तत्र दर्भस्तम्बेऽभिजुहोति ।

अग्निहोमीयमन्त्रात्मिकानां त्रयोदशव्याहृतीनां सप्तात्र चितयः कल्प्यन्ते षट् पुरीषाणि। अथ कर्षणक्रमेणोदचमसान् निवार्यति ॥ उदचमसा जलपूर्णानि जलपात्राणि। ते चौदुम्बराश्चतुः स्रक्तयः स्युः। चतसृषु चतसृषुसीं तासु त्रिभिस्त्रिभिरुदचमसैः प्रतिदिशमपां निनयनात् कृष्टे भागे द्वादश निनयनानि भवन्ति। त्रीन् पुनः कृष्टे चाकृष्टे च। तेन पञ्चदशैतान्यपांशेचनानि संपद्यन्ते। अथैवमेव तैरौदुम्बरैश्चतुः स्रक्तिभिश्चमसैर्द्वादशधा कृष्टभागे, त्रिधा पुनः कृष्टेचाकृष्टे चेति कृत्वा पञ्चदशैव तत्र सर्वौषधान्यावपेत्। ओषधयश्चात्र ग्राम्यारण्यादिवीजानि तत्र तेषां धान्यानामेकमुद्धरेत्। उद्धारः पृथक् करणम् तद्धान्यं नावपेत्। नवातदन्नं यावज्जीव मश्नीयात्॥ तदित्थं प्रायणीयादूर्ध्वमेतैः सीरयोजनकर्षणा दर्भस्तम्बाग्निहोमसिञ्चन धान्यवपनैः क्षेत्रसंस्कारः कृतो भवति॥

गार्हपत्य चयनानन्तर माहवनीयनात् प्रागेवामावस्यायां सोमक्रयणीयेऽहनि सोमक्रयोविहितः। गृहे गृहे सोमलतां विक्रेतुमायातिस्म पुरायुगे सोमविक्रेता। वतः क्रीणात्यध्वर्युः स क्रीतस्य परिवहणं कृत्वा ततोऽस्मै सोमायातिथ्येष्टिं करोति। वाचं यच्छेति पूर्वविहितस्य वाक् संयमस्य तत्रेष्टौ "हविष्कृदेही" तिहविष्कृदाह्वानशब्दोच्चारणाद्व विसर्गः कृतो भवति। तदित्थं सोमनिवपनाद्यातिथ्य हविष्कृतः कृत्वाऽऽहवनीयप्रदेशमागत्य तत्परिश्रितोऽभिमन्त्रयते॥

अथ लोगेष्टकोपधानम् ।

लोष्टरूपा इष्टका लोगेष्टका मृत्खण्डानि । सोऽग्निक्षेत्रतो महावेदेश्च बहिर्देशो-दिह स्फ्येनाहृत्यतिष्ठन्नेव स्थापयति । तत्र पुरस्तादेकामाहृत्यात्मनः पूर्वार्धे परिश्रिता-मभ्यन्तरतः संश्लिष्योपदधाति । दक्षिणतस्त्वेकामाहृत्य दक्षिणपक्षाग्रये, पश्चादेकामा-हृत्य पुच्छाग्रये, उत्तरतश्चैकामाहृत्योत्तरपक्षाग्रये यथायथमात्मन्येवोपदधाति । अत्र पश्चिमां लोगेष्टकां न साक्षात्संप्रति पश्चिमदिशः किन्तु वायव्याभिमुखात् प्रदेशादाहरे-दित्याहुः ॥ वास्तवदिग् विज्ञानार्थत्वादनूचीनाग्राएवैता आत्मनिस्थाप्या न तु दिक् विमोकेन । इत्थं चतस्रो लोगेष्टकाः । तासां चत्वार्युपधानानि, चत्वारि सादनानि चत्वार्य्येव सूददोहसाधिवदनानि ॥ अथोत्तरस्या दिशः सिकताः प्रमार्ज्य ता उत्तरस्यां स्थापयति । उत्तरवेद्याः सर्वतः कुशस्तम्बे ताः सिकतान्युप्य ताभिः सर्वमात्मान प्रच्छा-दयेत् । सिकतोपधाने सादनं नास्ति । किन्तु न्युप्ताना सिकतानामाप्यानवतीभ्यामृग्भ्या-मभिमर्शनं कार्य्यम् ॥

इत्थमुत्तरवेद्यां सिकताभिमर्शनान्तं कर्म समाप्य ततः प्राग्वंशं प्रत्यागत्य, आति-थ्येष्टिकर्मणः शेषं समापयेत् । आतिथ्येन प्रचर्य्य प्रवर्ग्योपसद्भ्यां प्रचरेत् । ततोऽन्तः पात्यस्य गार्हपत्यस्यानन्ति दूरे प्रागुदेशेऽन्तर्वेद्यत्तरलोम प्राचीनग्रीवमानडुहं चर्म्मोप-स्तीर्य्य तत्र चर्मणि लोहितवर्णे लोमवद्भागे प्रथमचितिपर्य्याप्तमिष्टकासंघं समवशमयन्ति । तप्तानामिवेष्टकानां सम्यग् घृतावोक्षणेनाभिषेचनं समवशमनम् । ततस्तमिष्टकासमूहमाज्या-भ्यक्तैः दर्भाग्रभागैस्तूष्णीं प्रोक्षति । ततो यजमानपरिचारकास्तस्मिश्चर्मणिस्थितास्ताइष्टका उद्गृह्य हवनीयदेशं प्रति निनयन्ति । तत्राश्वं श्वेतं पुरस्तान्नयन्ति । श्वेतस्यालाभे त्व-श्वेतमश्वाभावे तु श्वेतमेव वृषभम् । अथैवमिष्टकानयनार्थमुद्यतेषु तेष्वध्वर्युर्होतारमनु-वाचयति—"अग्निभ्यः प्रहियमाणेभ्योऽनुब्रूहीति" । स प्रेषितो होता तिस्र आग्नेयीः कामवतीर्गायत्रीरुपांश्वनुब्रुवन् स्वयमपीष्टका अनुगच्छति । तदित्थं अश्वप्रमुखास्ते सर्वे

ऋत्विग्यजमाना इष्टकाभिः सहाहवनीयाग्निसमीपमागच्छेयुः । आगत्य चाग्निपुच्छस्य दक्षिणभागे ता इष्टकाः स्थापयन्ति । उत्तरतोऽश्वमाक्रमयन्ति । तं पुच्छस्योत्तरपक्षस्य च मध्यभागेन क्षेत्रमारोहयन् परिश्रितोऽभ्यन्तरतः प्राङ्मुखं नयेत् । ततोऽग्नेः पूर्व-भागेऽप्येवं परिश्रितोऽभ्यन्तरतो दक्षिणामुखं नयेत् ॥ ततोदक्षिणस्या प्रत्यङ्मुखं नयंस्तमश्वं तथा प्रेरयेद् येनायमश्वोऽग्निपुच्छस्य दक्षिणतो निहितास्ता आनीता इष्टका अवजिघ्रेत् । अवघ्राप्य ततः प्रतीच्यामुदङ्मुखं नयेत् एवं चतसृषु दिक्षु परिक्राम्य तमश्वं प्रागुदङ्मुखमुत्सृजेत् । अथैनमश्वं सायाह्ने उपास्तमनकालेऽग्निक्षेत्रं परितस्त्रि-ष्कृत्वः परिणीय प्रागुदङ्मुखमुत्सृजेत् । सोऽश्वः पुनरप्युपधानकाले कर्मणोऽङ्गभावं प्रतिपद्यते इति बोध्यम् ॥

अथ पुष्करपर्ण-रुक्म-पुरुष-स्रुचामुपधानानि ॥ २ ॥

तत्र तावदग्निक्षेत्रमुत्तरपार्श्वतोऽभ्यारुह्य उत्तरवेदिप्रोक्षणादिकमासंभारनिवपनात् सर्वमौत्तरवेदिकं कर्मकृत्वोत्तरवेदेः पश्चिमतस्तिष्ठन् यजमानो मन्त्रेणात्मन्यग्निं गृह्णीते "मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय" इति । अथानूपविश्य पुरस्तात् सत्यं सामगायति ॥ (सामवि० ब्रा० १ । १ । २) सत्यगानोत्तरं तत्रस्तम्बे पुष्कर-पर्णमुपदधाति स्वराजा । तदनुविमार्ष्टि । सादयित्वा सूददोहसाभिवदति ॥३ ॥ अथै-तस्मिन् पुष्करपर्णे हिरण्मयं परिमण्डलमधस्तादेकविंशतिनिर्बाधं रुक्मं नाम कण्ठाभरण-द्रव्यमुपदधाति त्रिष्टुभा निर्बाधः पुलकः पिण्डो मण्डलरश्मिरूपः ॥ सादयित्वा सूददोह-

साधिवदति ॥ ४ ॥ तस्मिंश्च रुक्मे हिरण्मयं पुरुषाकारं पुरुषं पूर्वशिरस्कमुत्तानं मुपदधातित्रिष्टुब्भ्याम् । सादयित्वा सूददोहसाधिवदति ॥ अथैनं पुरुषमन्वालभमानः साम गायति चित्रलिङ्गे मन्त्रे (७ । ४२ ॥ अथवा १३ । ४६ अथवा २७ । ३९) पुरुषमुपधाय न पुरस्तात् परीयात् तिष्ठन् यजमानः सर्पनामैस्त्रिभिर्मन्त्रैः पुरुषमुपतिष्ठते ॥ अथोपविश्य पञ्चगृहीतेनाज्येन चतुर्दिक्षु प्रतिमन्त्रं परिसर्पन् पुरुषमभि जुहोति रक्षोघ्नैः पञ्चभिस्त्रिष्टुब्भिराग्नेयीभिः । स पश्चादग्नेः प्राङ्मुखासीनः । अथोत्तरतो दक्षिणामुखः । अथ परस्तात् प्रत्यङ्मुखः । अथ जघनेन परीत्य दक्षिणत उदङ्मुखः । अथानुपरित्य पश्चात् प्राङासीनः इति । ।दित्थमत्र प्रथमं चोत्तमं च पश्चादुपविश्यजुहोतीति प्रागेवकर्म कृतं भवति ॥ ५ ॥ अथ तस्य हिरण्मयपुरुषस्य बाहुत्वेन कल्पिते द्वे स्रुचावुपदधाति त्रिष्टुभाग्नेय्या ॥ तत्र काष्मर्य्यमयीं पाणिमात्रपुष्करा बाहुमात्रीं पादमात्रीं वा जुहू-माज्येन पूर्णा दक्षिणतः । एकमौदुम्बरीमुपभृतं दध्नापूर्णामुत्तरतः ॥ स पुरुष मवच्छाद्य तमस्पृशन्नेवं यजमानः पुरुषोरः प्रभृति संप्रति दक्षिणतश्चोत्तरश्च बाहू दर्शयन् यत्राभ्या-प्नोति तत्रैते स्रुचौ प्रागग्रतया स्थापयेत् तिरश्च्यावेके स्थापयन्ति तदसत् । अग्नेः प्रागग्रतयैव चेतव्यत्वात् । अद्ध्वर्य्ये चैते भवत इति संप्रदायः ॥ तयोर्द्वे उपधाने, द्वे सादने, द्वे एव च सूददोहसाधिवदने भवतः इतिबोध्यम् ॥ ६ ॥

अथ स्वयमातृणा-दूर्वा-द्वियजू-रेतः सिचामुपधानानि (३)

पाषाणस्य प्राग्भावावस्था शर्करा । सा क्षुद्रखण्डात्मिका पाषाणप्रायाकुब्जाकृतिः स्वतो रन्ध्रपूर्णा स्वयमातृणा नाम । तां पुरुषस्योपरिष्टादुपदधाति तिसृभिर्ऋग्भिर्यजुषा च । सादयित्वा सूददोहसाधिवदति ॥ अथैतस्यामालभ्य साम गायति व्याहृतिषु ॥ ७ ॥ ततः पुनरस्याः स्वयमातृणाया उपरिष्टाद्दूर्वां साग्रमूलामनुष्टुब्भ्यां भूमितथोपदधाति यथास्या दूर्वाया अग्रभागः पुरस्ताद्द भूमिमभिस्पृशेत् । सादयित्वा सूददोहसाधिवदति ॥ ८ ॥

अथ मृत्तिकयाकृतां द्वियजुषं नाम पुरुषमूर्तिं दूर्वाग्र संनिधानेन पुरस्तात् द्वितीये लोके उपदधाति द्वाभ्याम्। मादयित्वा सूददोहसाधिवदति ॥ ९ ॥ अथ द्वियजुषः पुरस्तात् संनिधाने रेतः सिचावुपदधाति द्वाभ्यां यजुभ्यां विराट स्वराड् लिङ्गाभ्याम् ॥ आण्डा-वेवैतौ भवतः। द्वे उपदधाति, सकृत्सादयति सकृदेवाभिवदति इति वोध्यम् ॥ १० ॥

अथ विश्वज्योतिऋतव्याषाढाकूर्मोपधानानि (४)

अग्निर्वायुरादित्यश्चेत्येतास्तिस्रो देवता विश्वज्योतिषः। एतन्निदानेन संपादिताः पृथग्लक्षणास्तिस्रो मृन्मय्य इष्टका विश्वज्योतिषो नामेत्युखानिर्माणे व्याख्याताः। ता स्वेकामग्निलक्षणां विश्वज्योतिषं नामेष्टकां त्र्यालिखितां रेतः सिग्भ्यां पुरस्तादुपदधाति। सादयित्वा सूददोहसाभिवदति ॥ ११ ॥ अथ ऋतव्या वसन्ताद्या ऋतवः। तत्रेह द्वे वासन्तिके ऋतव्ये इष्टके विश्वज्योतिषः पुरस्तादुपदधाति ॥ मधुश्चमाधवश्चेति नामभ्या-मेवैने उपदध्यात् ॥ द्वे उपदधाति। सकृत् सादयति सकृदधिवदति ॥१२॥ अथ ऋत-व्याभ्यां पूर्वार्द्धेऽषाढां वामभृतं नामेष्टकां यजमानपादमात्रीं त्र्यालिखितामुपदधाति। सादयित्वा सूददोह साधिवदति ॥ १३ ॥ आसु स्वयमातृण्णा रेतः सिग् विश्वज्योति-ऋतव्याषाढासु रज्ज्वां वेलार्थानि लक्षणानि कार्य्याणि। स्वयमातृण्णातः पूर्व पूर्वा-र्द्धे ता उपधीयन्ते। न चैतस्या अषाढायाः पुरस्तादन्या यजुष्मत्य इष्टका उपधेया ऋते-ऽपस्याभ्यो वक्ष्यमाणाभ्यः ॥ तासामनुपरिश्रितः पुरस्तादुपधेयत्वात् ॥ अथान्या इष्टकाः स्वयमातृण्णामभ्युपधीयन्ते इत्यनुसन्धेयम् ॥ अथैतस्या अषाढाया दक्षिणभागेऽरत्नि-मात्रान्तरे कूर्म्मं दधिघृतमधुभिरभ्यञ्जितं पुरुषाभिमुखं कृत्वोपदधाति तिसृभिः। तस्या-धस्तादुपरिष्टाच्चावकाः स्थाप्याः। अवकाशैवालम्। अथैनं मध्यमया ऋचा संचालयन् नवकासु दृढीकृत्यावस्थापयेत्। सादयित्वा सूददोहसाधिवदति इति वोध्यम् ॥१४॥

अथोलूखलमुसलोखापशुशीर्षोपधानानि (५)

स्वयमातृण्णाया उत्तरतोऽरत्निमात्रान्तरे उलूखलमुसले औदुम्बरे प्रादेशमात्रे उपदधाति द्विदेवत्ययैन्द्रावैष्णव्या तत्रोलूखलं चतुः स्रक्ति मध्ये संगृहीतमुत्तरतः। वृत्तमिव कृतं तु मुसलं तदासन्ने दक्षिणतः॥ ते द्वे उपदधाति। सकृत् सादयति। सकृत् सूददोहसाधिवदति॥ १६॥ अथोलूखले उखामुपदधाति द्वाभ्याम्॥ उखामुपधाय तस्याः पुरस्तादुपशयां चूर्णीकृत्य निदध्यात्॥ उखादिनिर्म्माणादवशिष्टा यजुः कृता मृदुपशया। सादयित्वा सूददोहसाधिवदति॥ अथोखायः सिकतापूर्णाया उपरि स्रुवेणाज्येन स्वाहाकारेण गायत्रीभ्यामाग्नेयीभ्यां युक्तवतीभ्यामभिजुहोति॥ उखायामग्नेः संवत्सरभरणे चासंवत्सरभरणे चेष्यते चयनम्। तत्र यद्ययं संवत्सरभृतः स्यात् तदाभि जुहुयात्। असम्वत्सरभृतं तूपतिष्ठेतैवेत्याहुरेके। उभयथाप्यभिजुहुयादेवेति सिद्धान्तः॥ १७॥ अथोखायां सिकतोपरि पुरस्तात् प्रत्यञ्चिपञ्चपशुशीर्षाण्युपदधाति पञ्चभिः॥ तत्रादौ मध्ये पुरुषमुपधार्य पूर्वोत्तरेऽश्वं, पूर्वदक्षिणे गां, पश्चिमोत्तरेऽविं, पश्चिमदक्षिणेऽजंकुर्य्यात्॥ एतदुपधानक्रमेणैव च प्रतिशीर्षं सप्त सप्त हिरण्यशकलान् प्रास्यति। एकं मुखे, द्वौ नासिकयो द्वौक्ष्णो द्वौ श्रोत्रयो रित्येवं क्रमतः पञ्चपञ्चोपधानानि च सादनानि चाधिवदनानि चेत्याहुः॥ एक पशूपधानपक्षे तु पञ्चपशूपधेयान् सर्वानपि हिरण्यशकलानिहैकस्मिन्नेवाजशीर्ष्णि दध्यात् पञ्चपञ्च कृत्वा मुखादिष्विति पञ्चत्रिंशदेव शकलानत्रापीच्छन्त्येके॥ एकपशुयोग्यान् सप्तैवा दध्यादिति सिद्धान्तः॥ अथ पुरुषशीर्षमभिजुहोत्याज्येन स्वाहाकारेण त्रिष्टुभा॥ अथोत्सर्गमन्त्रैरुपतिष्ठते। तत्रैके यं यमेव पशुमुपदधाति तस्य तस्य शुचमुत्सृजन्ति। यांहि पूर्वस्यशुचमुत्सृजन्ति तामुत्तरेण सहोपदधाति॥ केचित्तूखां परिक्रम्य परिक्रम्येह स्थिता एव तं पशुमुपतिष्ठन्ते। वस्तु वस्तु बाह्ये नैत्राग्नि बहिर्वेदि उदङ् तिष्ठन्नुत्सृजेत्। प्रथमं पुरुषस्य, ततोऽश्वस्य, ततो गोः, ततोऽवेः, ततोऽजस्य। सर्वमन्त्रानप्येकस्मिन्नेके॥ अथ प्रत्येत्याग्निमुपतिष्ठते गायत्र्याग्नेय्या यविष्ठवत्येति बोध्यम्॥१८॥

अथापस्या छन्दस्या प्राणभृदुपधानानि (६)



आरुह्याग्निं पश्चिमेन स्वयमातृणां पर्य्यागत्यात्मनः प्रान्तेषु चतुर्दिक्षु पञ्चपञ्चापस्यानामेष्टकाः उपदधाति। तत्र पूर्वदक्षिणपश्चिमेषूपहिताः पञ्चदशैता अपस्या एवोच्यन्ते। यास्तु पञ्चोत्तरास्ताश्छन्दस्याः ॥ चतुर्थोपदधाति। सकृत् सकृदधिवदति ॥२०॥ अथ प्राणभृतो नामेष्टकाश्चतुः कोणेषु मध्ये चेत्येवं सर्वतो दश दश कृत्वा पञ्चोपदधाति ॥ ताश्चादौ दक्षिणां सादारभ्य पुरुषपर्य्यन्तं, तत उत्तरां सादारभ्य पुरुषपर्य्यन्तमित्येवं तावदक्षणयादेशेषूपधाय ततो मध्यभागे रेतः सिचोर्वेलया सर्वतोऽनूचीश्च तिरश्चीश्च संस्पृष्टा उपदध्यात् ॥ ता एवं पञ्चाशत् भवन्ति। ताः पञ्चधोपदधाति। सकृत् सकृत् सादयति। तथाधिवदति ॥ ता हैके पुरुषमुपाय्योपदधाति। तदसत् ॥ परिश्रित्स्वेवोपार्य्योपधानेन मध्योपधानेन च सर्वाङ्गेषु प्राणोपधानेस्येष्टत्वात् ॥ २१ ॥ ता एता एकविंशतिरिष्टकाः [२१] ॥ अथवा-दर्भस्तम्बः [१]। चतस्रो लोगेष्टकाः [१]। पुष्करपर्णम् [१]। रुक्मः [१]। पुरुषः [१]। द्वे स्रुचौ [२]। स्वयमातृणा [१]। दूर्वा [१]। द्वियजुः [१]। द्वे रेतः सिचौ [२]। विश्वज्योतिः [१]। द्वे ऋतव्ये [२]। अषाढा [१]। कूर्म्मः [१]। उलूखलम् [१]। मुसलम् [१]। उखा [१]। पञ्चपशुशीर्षाणि [५]। पञ्चदशापस्याः [१५]। पञ्चछन्दस्याः [५]। पञ्चाशत्प्राणभृतः [५०]। इत्येवमष्ट नवति [९८] यजुष्मत्य इष्टकाः आहवनीयचितेः प्रथमे प्रस्तारे भवन्तीति सिद्धम् ॥

अथ लोकम्पृणा पुरीषोपधाने ।

आत्मनि दक्षिणां सादारभ्य आमध्यात् प्रदक्षिण मा पूर्वस्मादनूकान्तोल्लोकम्पृणा उपदधाति प्रत्येत्य शेषं पूरयति ॥ पक्षपुच्छानि त्वप्ययेभ्य आरभ्य पराग्भिरिष्टकाभिश्चिनोति । सर्वास्वेव चितिष्वेव । चितिष्वेवमेव पक्षपुच्छानां चयनम् । लोकम्पृणा संख्यान् मुक्तं वक्ष्यतेच ॥ मध्ये पुरीषं निवपति । तत्र पूर्वमधोनूकं छादयित्वा प्रदक्षिणमात्ममानं पुरीषेण छादयति । ततो दक्षिण पक्षं पुच्छमुत्तरपक्षंच ॥

यजुष्मतीष्टकाः, लोकम्पृणेष्टकाः, पुरीषनिवापश्चेति त्रीणि चयन साधनानि । तत्रात्मन्येव यजुष्मत्य उपधीयन्ते न पक्षं पुच्छेषु । लोकम्पृणास्तु सर्वत्र । लोकम्पृणान्ते पुरीषनिवापः पुरीषान्ता चितिर्भवति ॥ तां च पुरीषवतीं चितिमुपतिष्ठते सप्तभिरष्टाभिर्दशभिर्वान्यूनातिरिक्त मिथ्याकृतिदोष शान्त्यर्थमिति दिक् ॥

उपास्तमयकाले त्रिः कृत्वोऽश्वमग्निं परिक्राम्योत्तरपूर्वस्यां दिशि तमश्वं विसृज्य तावत् प्रतिपर्य्येति ॥ यत्राप्येष्म चितिर्बहुभिरहोभिः क्रियते तत्राप्येतदश्वपरिणयन मग्निनिधानात् प्राक् प्रत्यहं प्रत्यस्तमयं कार्य्यम् ॥

॥ इति प्रथमा चितिः ॥ १ ॥

अथ द्वितीया चितिः ॥

रेतः सिग् वेलायां प्रतिदिशं पञ्चाश्विनीरथ पञ्चप्राणभृतोऽथपञ्चापस्याः क्रमेणोपदधाति । तत्राश्विनी तावदनूकमुत्तरेण पूर्वा, पूर्वेण दक्षिणा, दक्षिणेन पश्चिमा, पश्चिमेनोत्तरा, दक्षिणानिहिता मुत्तरेण तु पञ्चमीत्येवमनूकाद् द्वितीये द्वितीये लोके स्थाप्याः ॥ ततो

वैश्वदेवीयमेतामाश्विनीं दक्षिणेन पूर्वा, पश्चिमेन दक्षिणा उत्तरेण पश्चिमा पूर्वेणोत्तरा, अथ दक्षिणानिहितामुत्तरेण पञ्चमीत्येवं स्थाप्याः । एवं वैश्वदेवीभ्यः प्राणभृतः प्राणभृद्भ्योऽपस्याः । पूर्ववत् पञ्चभ्यः सर्वासाम् ॥ आश्विन्यादयोऽर्धपद्याः प्रत्येक मासां पञ्चपञ्चोपधानानि, पञ्च पञ्च सादनानि तावन्त्यधिवदनानि ॥ तासु चाश्विनी रुपधाय पूर्वयो द्वयोरिष्टकयोरुपरि द्वे ऋतव्ये ग्रैष्मे शुक्रः शुचीनामोपदध्यात् । पञ्चस्वपि चितिषु ऋतव्याना मेतदेवस्थानं नियतम् ॥ ऋतव्योपधानादूर्ध्वं वैश्वदेव्यादय उपधीयन्ते ॥ इत्थं द्वाविंशतिः ॥ २२ ॥

अथोन विंशतिर्वयस्या अनूकान्तेषूपदधाति । ता एवैताश्छन्दस्याश्च पशव्याश्च । तत्रादौ चतस्रः पुरस्तात् पञ्चदक्षिणतः, पञ्चोत्तरतः पञ्चपश्चादिति क्रमः । तासां द्वे जङ्घामात्र्यौ द्वे चाध्यर्धे अथ शेषा अध्यर्धाएव ॥ इत्थमेकचत्वारिंशता यजुष्मतीनां द्वितीयाचितिः ॥

लोकम्पृणा दक्षिणश्रोणेरारभ्य पूर्ववत् तत्रोपधीयन्ते । पुरीषनिवापश्च । सप्तभिरष्टभिर्वा समृद्ध्युपस्थानं च । उपास्तमयेऽश्वपरिणयनं च ॥

॥ इति द्वितीया चितिः ॥

❀ अथ तृतीया चितिः । ❀

आत्मनोमध्येस्वयमातृण्णा मुपदधाति । सादयित्वा सूददोहसाधिवादति ॥ अथ सामगायति ॥ १ ॥ अथ रेतः सिग्वेलायामनूकेषु प्रतिदिशमेकैकां दिश्यामुपधाय, दक्षिणामुत्तरेण पञ्चमी मुपदध्यात् ॥ पञ्चोपदधाति, पञ्चसादयति, पञ्चाभिवदति ॥२॥ अथ पूर्वस्यादिश्यायाः पुरस्ताल्लोके विश्वज्योतिषमुपदधाति । सादयित्वा सूददोहसाधिवदति ॥ ३ ॥ अथ पुरस्तान्नियतेलोके नभश्च नभस्यश्चेति द्वौ वार्षिकावृत् इषश्चोर्जश्चेति द्वौ शारदावृत् इत्थं चतस्र इष्टका ऋतव्या अर्धोत्सेधा द्वे द्वे कृत्वा स्थाप्याः ।

द्वे द्वे सकृत् सादयति। अवकासूपधायावकाभिः प्रच्छादयति। अन्यासु चितिषु द्वयो द्वयोरेव ऋतव्ययोरुपधानम्। इहैव तु चतसृणाम्। उत्सेधस्तु यावानेव द्वयोस्तावानासां चतसृणाम्। द्वयोर्द्वयोरर्धोत्सेधयोरौत्तराधर्य्येणोपधानात् ॥ ४ ॥

अथ पूर्वमान्ते परिश्रितोऽनुगता दशप्राणभृत उपदधाति ॥ ५ ॥ अथ पक्षपुच्छाप्ययेषु प्रतिदिशं द्वादश द्वादश कृत्वा षट्त्रिंशच्छंदस्या उपदधाति दक्षिणतश्चोत्तरतश्च पश्चाच्च। तत्रयाः पश्चादुपधीयन्ते ताः पुच्छाप्यये बालखिल्योपधानार्थं लोकानवशेष्य ततः पुरस्ताद्भागे उपधेयाः ॥ ६ ॥ अथ चतुर्दश बालखिल्या उपदधाति ॥ तत्र सप्त पुरस्तात् प्राणभृद्भ्यः पश्चिमतः पूर्वतो वा संलग्नाः क्रियन्ते। सप्त तु पश्चाच्छन्दस्यानां पश्चिम संलग्ना एव स्युः ॥ ७ ॥ इत्यमेक सप्तत्या यजुष्मतीनां तृतीया चितिः। अथ यां कां च यजुष्मतीमिष्टकां विद्यात् तां मध्यमायां चितावुपदध्यात् ॥ इत्याहुः। तदसत्। देवैरकृतत्वात्। यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीति सिद्धान्तत्वात् ॥ एतावद्वा देवा अकुर्वन्। तस्मात् स्वयमातृणा, पञ्चदिश्याः, विश्व ज्योतिः। चतस्र ऋतव्याः, दश प्राणभृतः, षट्त्रिंशच्छन्दस्याः, चतुर्दश बालखिल्याः—इत्येता एकसप्ततिरेव यजुष्मत्य उपधेया न त्वतिरेच्याः ॥

लोकम्पृणा उत्तरश्रोणेरारभ्य पूर्ववत् तत्रोपधीयन्ते। पुरीष निवपनं च समृद्ध्य प्रस्थानंच उपास्तमयेऽश्वपरिणयनं च ॥

॥ इति तृतीया चितिः ॥

॥ अथ चतुर्थी चितिः ॥



अत्राह कात्यायनः। प्रतिदिशम् अनूकान्तेषु दक्षिणोत्तरे द्वे द्वे इष्टके उपधीयेते। तत्र पुरस्तात् पश्चाच्च द्वे द्वे जङ्घामात्र्यौ। दक्षिणे चोत्तरेचानूकान्ते द्वे द्वे पद्ये ॥ पूर्वाभ्यामपराश्चतुर्दशार्द्धपद्याः। ताभ्योऽप्यपराः षट् पद्याः। इष्टमष्टाविंशतिः। केचित्वाहुः—पूर्वदक्षिणेऽवान्तरदेशे चतुर्दश षट्

चोपदध्यात् । तथाहि । दक्षिणांसे उपहिताया जङ्घामात्र्याः पश्चात्संलग्नायाऽध्यर्धा तस्या उत्तरतो नवार्धपद्याः प्रागायताः स्युः । द्वितीयामध्यर्धां जङ्घामात्रीं चोत्तरतः पश्चार्ध-पद्या उदगायताः स्युः । इत्थं चतुर्दश । एतत्संलग्ना एव षट्पद्याः स्युः । ताश्च नवाना-मधश्चतस्रः प्राग्लक्षणाः । पञ्चानां तूत्तरतो द्वे उदग्लक्षणे । इत्थं षट् ॥ अन्ये त्वाहुः । दक्षिणाभ्यामनूक्रान्तोपहिताभ्यां पद्याभ्यामुत्तरतोऽनूक्रमभितोऽर्धेष्टिकया चतुर्दशोपद-ध्यात् । तासामप्युत्तराः उदगायताः षडुपधेयाः । तथा च पुरस्तान्मतवदेतस्मिन्मते दक्षिणतस्ता उपहिता भवन्ति ॥ सर्वथाऽप्येता । अष्टाशितिरेव स्युः । तत्राष्टादशस्तोमा दश स्पृतः इति भेदः । तासामुपधाने क्रमो यथा— पूर्वयोरुत्तरां त्रिवृतं, पश्चिमयोर्दक्षि-णामेकविंशम्, दक्षिणयोर्दक्षिणां पञ्चदशम् । उत्तरयोर्दक्षिणां सप्तदशम्, चोपधाय चतु-र्दशस्तोमानुपदध्यात् ॥ ता एता अष्टादशस्तोमाः ॥१॥ अथ पूर्वयोर्दक्षिणामग्नेर्भागम् पश्चिमयोरुत्तरां मित्रस्य भागम्, दक्षिणयोरुत्तरां नृचक्षसां भागम्, उत्तरयोरुत्तरामिन्द्रस्य भागम् चोपधाय षडुपदध्यात् । ता एता दश स्पृतः स्युः ॥२॥

अथ नियते लोके सहः सहस्यश्चेति द्वे ऋतव्ये उपदधाति ॥३॥ अथ रेतः सिग्वे-लायां सप्तदशसृष्टीरुपदधाति । तत्रानूक्रमभितो द्वे द्वे कृत्वा प्रतिदिशं चतस्रश्चतस्रः स्युः । दक्षिणस्तु पञ्च । तत्रानूक्या मध्यमा पद्या । तामभितो द्वे अर्धपद्ये । ते अभितो द्वे पद्ये । तेन पञ्चोपपद्यन्ते । ॥४॥ इत्थं सप्तचत्वारिंशता यजुष्मतीनां चतुर्थी चितिः ॥

लोकम्पृणा उत्तरां सादारभ्य पूर्ववत् तत्रोपधीयन्ते । पुरीषनिवपनं च । समृद्ध्यु-पस्थानं च । उपास्तमयेऽश्वपरिणयनं च ॥

॥ इति चतुर्थी चितिः ॥

अथ पञ्चमी चितिः ॥



प्रतिदिशं प्रान्ते पञ्चासपत्ना उपदधाति । तत्र प्रागनूकमुत्तरेण द्वितीये लोके पूर्वाम् । पश्चादनूकं दक्षिणेन द्वितीये लोके पश्चिमाम् । दक्षिणानूकं पूर्वेण द्वितीये लोके दक्षिणाम् । उत्तरानूकं पश्चिमेन द्वितीयेलोके उत्तराम् । दक्षिणोपहिताया असपत्नाया दक्षिणतोऽरत्निमात्रान्तरे तृतीये लोके पञ्चमी मित्येवं क्रमेणोपदध्यात् ॥१॥ अथ नाभितो नवमस्य लोकस्य वेलयाऽनूकस्यार्धार्धिकया प्रतिदिशं दशदशेति कृत्वा चत्वारिंशद्विराज उपदध्यात् ॥ तत्र पूर्व्या दशार्धपद्या उदगायता अन्याः पद्याः॥ आभ्योऽर्धपद्याभ्यः पुरस्तादनूकानुगतास्तिस्रोऽर्धपद्या उदगायता उष्णिहश्छन्दस्यासुर्वक्ष्यन्ते । उष्णिहां पुरस्तादनूक्या पद्या, तामुभयतोऽर्धपद्ये प्रागायते । एतास्तिस्रो गायत्र्योपिश्छन्दस्यासुर्वक्ष्यन्ते । इत्थ पूर्वस्यामसपत्नानां विराजां च किञ्चिद्व्यवधानेनावस्थानं भवति । अन्यत्र तु संलग्ना एव ता असपत्ना विराजश्चेति दिक् ॥२॥ अथ प्रति दिशमषाढावेलायां स्तोमभागा उपधीयन्ते पद्याः ॥ अष्टावष्टौ पुरस्तात् पश्चात् । षडुत्तरतः । सप्त-दक्षिणतः । तत्र तत्रानूक्यां पद्यामभितोऽर्धपद्ये उदगायते अथ पूर्व्यामर्धपद्यां पूर्वेण द्वे पद्ये, अपरामर्धपद्यामपरेण च द्वे पद्ये । इत्थं सप्त ॥ ता ऊनत्रिंशत् ॥ त्रिंशत्तमीमप्येके मन्यन्ते ॥ आसुस्तोमभागासु पुरीषमावपति तूष्णीम् ॥३॥ अथ प्रतिदिशमृतव्यावेलायामनूकेषु पञ्च नाकसदः उपदधाति । दक्षिणोपनिहितायाः दक्षिणतस्तस्मिन्नेवलोकेऽर्द्धपद्यां प्रागायतां पञ्चमी माश्विनीवत् ॥ ततोऽन्यास्तिस्रः पद्याः ॥ पुरस्तात्तु अनूकमुभयतऋतव्यालोकौ नियतावित्यतोऽनूकमुत्तरेण द्वितीयेलोके पूर्वां नाकसदमुपदध्यात् ॥ ता एता अर्धोत्सेधाः कार्य्याः । आसामुपर्य्येव पञ्चानामर्धोत्सेधानां पञ्चचूडानामुपधानेन जानुपञ्चमोत्सेधत्वस्य व्यवस्थापितत्वात् ॥ नाकसत्सु पुरीषमावपति ॥४॥ अथ नाकसदामुपरि पुरीषे न्युप्ते पञ्च पञ्चचूडा उपदधाति । तत्र पुरस्तादुपधाय दक्षिणतः पश्चादुत्त-

रतो मध्ये चेति नाकसदामुपधानम् । पुरस्तादुपधाय दक्षिणत उत्तरतो मध्ये पश्चादिति पञ्चचूडानाम् ॥५॥

अथैकत्रिंशच्छन्दस्या उपदधाति । तत्र पुरस्तादनूकान्ते तिस्रो गायत्र्यः पुरस्ताद्रेतः सिग्वेलायां तिस्रस्त्रिष्टुभः । पश्चात्तु रेतः सिग्वेलायां तिस्रोजगत्यः ॥ जगतीभ्यः पश्चिमास्तिस्रोऽनुष्टुभः ॥ अषाढावेलायाः पुरस्तात् तिस्रोबृहत्यः ॥ बृहतीभ्यः पूर्व्यास्तिस्रः ककुभः ॥ गायत्रीभ्यः पश्चिमास्तिस्रउष्णिहः ॥ अथ दक्षिणानूकान्ते तिस्रः पङ्क्तयः ॥ उत्तरानूकान्ते तिस्रः पदपङ्क्तयः ॥ दक्षिणयोरुत्तरायाऽसपत्ना तस्याः पुरस्तादतिच्छन्दः । इमे प्राच्यौ पुरीषसहिते च कार्य्ये ॥ अथ पश्चादनूकान्ते तिस्रो द्विपदाः ॥ इत्थमेकत्रिंशच्छन्दस्याः । तासां सर्वासामेव गायत्र्यादीनां त्रिकोपहितानां मध्यमा पद्या, अभितोऽर्धपद्ये । उष्णिहस्तु तिस्रस्तिर्य्यगर्द्धपद्याः उदगायताः । पङ्क्तिपदपङ्क्तयश्चार्द्धपद्या उदगायताः । अन्याश्छन्दस्यानामर्द्धपद्याः प्रागायताः ॥६॥

अथ मध्येऽष्टेष्टकं गार्हपत्यं तैरेव यजुर्भिस्तयैव चावृता चिनोति ॥ तत्रार्द्धबृहतीस्थानेऽर्द्धपद्या निवेश्यन्ते इति विशेषः ॥७॥ तस्यैव च गार्हपत्यस्योपरि तद्वदेवाहवनीयरूपा पुनश्चितिमुपदधाति ॥ अस्मिंश्चमतेऽर्धोत्सेधा इष्टकाः कार्य्याः पूर्णोत्सेधानां संनिवेशानुपपत्तेः ॥ केचित्तु पुच्छाप्यये पुनश्चितिमिच्छन्ति । तस्मिन् मते द्विपदा अर्धोत्सेधाः स्युः ॥ अन्ये पुनः – पूर्वार्द्धे पुनश्चितिमिच्छन्ति । तत्र यथासंभवमर्धोत्सेधाः । अथैके पुच्छाप्यये गार्हपत्यं कृत्वा पूर्वार्द्धेपुनश्चितिमिच्छन्ति । त एते चात्वारो विकल्पाः ॥८॥

अथ ऋतव्यालोके तपस्तपस्यश्चेति द्वे ऋतव्ये उपदधाति ॥९॥ ऋतव्याभ्यां पश्चिमे विश्वज्योतिषमुपदधाति॥ १०॥

अथ दक्षिणांसात् पश्चिमतोऽरत्निमात्रान्तरात् तृतीयेलोकादारभ्य पूर्वोक्तरीत्या लोकंपृणा उपदधाति ॥ ११ ॥ पुरीषं निवपति ॥१२ ॥

पुरीषेण प्रच्छाद्य विकर्णी स्वयमातृण्णे परस्परसंस्पृष्टे उपदधाति । शालग्रामाकृतिः सच्छिद्रा शर्करा विकर्णी । अकृत्रिमरन्ध्रयुक्ता विषमाकृतिः शर्करा स्वयमातृण्णा

तत्रेयं विकर्णी स्वयमातृणाया उत्तरपार्श्वे संलग्नोऽधीयते । तयोः सादनं सूददोहसाधिवचनं च सकृदेव कार्य्ये ॥१३॥ स्वयमातृणासु सामानि गायति व्याहृतिषु । अथ पुरुषाभिहोमवत् तिष्ठन्नग्निं हिरण्यशकल सहस्रेण प्रोक्षति ॥ स पश्चात् प्राङ्, तत उत्तरतो दक्षिणा, ततः पुरस्तात्प्रत्यङ्, ततः पश्चिमेन पर्य्योगत्य दक्षिणत उदङ्, पुनरनुपरीत्यपश्चात् प्राङ् । तत्र द्वे द्वे शते प्रकिरति ॥

॥ इति पञ्चमी चितिः ॥

अथोपसत्सु क्रमं वक्ष्यामः ॥



पौर्वाह्णिक्यापराह्णिक्यो रुपसदोरन्तरे चयनं पुरीष निवपनं च ॥१॥ त्र्युपसत्केतुक्रतौ प्रथमायामुपसदि द्वे चिति उपधीयेते, मध्यमायां तिस्रः, उत्तमायां तूपसदि स्वयमातृणा व्याघारणाग्निसमुक्षणाद्युत्तरकर्माणि ॥ २ ॥ षट् सूपसत्सुसपुरीषचितिमेकैकां कृत्वा उत्तमोपसदि प्राग्वदुत्तरकर्माणि ॥ ३ ॥ द्वादशोपसत्के क्रतौ व्यत्यासेन चिति पुरीषे कृत्वैकादश्यामुपसदि विकर्ण्यादि कर्माणि उत्तमोपसदितु प्राग्वत् ॥ ४ ॥ चतुर्मासोपसत्के तु द्वादशभिर्द्वादशभिरहोभिश्चितिपुरीषे भवतः । (अन्त्यंपुरीषमेकादशभिरहोभिर्विकर्ण्यादिच । उत्तमोपसदि तु प्राग्वत्) ॥५॥ अथसंवत्सरोपसत्के षट्त्रिंशद्भिः शट्त्रिंशद्भिरहोश्चिति पुरीषाणि ॥६॥ तापश्चिने तु मासेन चितिर्मासेन पुरीषमित्येवं चतसृणां चितीनामष्टौ मासाः । पञ्चम्यां तु चितौ प्रथमेऽहन्यसपत्ना विराजश्चोपधी-

यन्ते स्तोमभागा अन्वहमिति नवमो मासः ॥ मासं पुरीषं तूष्णीमिति दशमो मासः ॥ नाकसत्प्रभृत्येकादशे मासे ॥ पुरीषं द्वादशे मासे ॥ उत्तमयोस्त्वह्नोः पूर्वेऽहनि विकर्ण्यादिक मुत्तमेऽहनि च प्राग्वदुत्तरकर्माणि इति बोध्यम् ॥

अथ लोकम्पृणान्यादेशः ॥

प्रथमं चिन्वानो जानुदघ्नं साहस्रं चिन्वीत नाभिदघ्नं द्विसाहस्रं मुखदघ्नं त्रिसाहस्रमित्याहुः कात्यायनस्त्वाह । लोकम्पृणानां द्विसाहस्री पञ्चाशदूना प्रथमायां द्वितीयस्यां तृतीयस्यां चतुर्थ्यां च उत्तमायां त्रिसाहस्री ॥ तथाचोक्तं पूरणसूत्रेषु—

(१) लोकम्पृणाः प्रथमायां षट् सप्तर्ति पादमात्रीणामुपदध्यात् । (७६) । अष्टाविंशति मर्द्धपद्यानाम् । (२८) । पादभागानां नवशतानि चतुर्त्रिंशान्यात्मनि ॥ (९३४) ॥ तासां विभागः ॥ प्राणभृदपस्यान्तरेषु षट् षट् पादमात्रीः । तन्मध्येष्वेकैकामर्द्धपद्याम् । पुरस्तात्तु पादमात्र्यौ । अंसौ चापरेण द्वितीयेऽर्द्धपद्ये द्वे ॥ १ ॥ पूर्वार्द्धे द्वादश पाद्याः ॥ षोडश पश्चात् । विश्वज्योतिषमभितोऽर्द्धपद्ये । पश्चाच्च तद्वेलायाम् । न तृतीयायाम् । दिश्यास्त्वभितोऽर्द्धपद्याः । द्वियजुषं च । सर्वतः शेषाद्दक्षिणयोः पुरुषयोः पूर्वस्मात् पद्यामुद्धृत्यापरस्मिन्नुपदध्यादर्धपद्यामुत्तरयोः ॥ षट्पञ्चाशतं

पादमात्रीणां, तिस्रोऽर्द्धपद्याः, पञ्चाशे च शते पादभागानामेकैकस्मिन पक्षे । पञ्चाशतं पादमात्रीणां, सप्तार्द्धपद्याः, षड्विंशे शते पादभागानां पुच्छे ॥

लोके	पादमात्र्यः	अर्द्धपद्याः	पादभागाः
आत्मनि	७६	२८	६२४
द० पक्षे	५६	३	२५०
उ० पक्षे	५६	३	२५०
पुच्छे	५०	७	२२६
	२३८	४१	१६५०
	१९२९		

(२) द्वितीयायां स्रक्तिषु जङ्घामात्रीः । अभितो वयस्याः । सर्वतः एकैकामध्यर्धाम् । त्रिग्राहिणी जङ्घामात्री । मध्येर्धे च यथाक्रमं त्रिग्राहिणीनां षडङ्गुलानि पक्षयोरात्मनि पुच्छे। तयोः पुरस्ताज्जङ्घामात्र्यौ । पूर्वार्द्धे त्रिग्राहिणी स्थाने च ॥ पक्षपुच्छपार्श्वेषु त्रिग्राहिणी । जङ्घामात्र्यन्तरेष्वध्यर्द्धाः । शेषे चतुर्विंशतिं पादमात्रीणां द्वादशार्द्धपद्याः, षट्पञ्चाशानि नवशतानि पादभागानाम् । चतुरश्चार्द्धपादभागाना मात्मनि ॥ द्वादशे च शते पादभागानां मर्धपद्यं च पक्षे पक्षे ॥ पञ्चषष्टे च शते पादभागानामर्द्धपादभागौ च पुच्छे ॥

लोके	जङ्घामात्र्यः	अध्यर्द्धा	चिग्राहिणी	पादमात्र्यः	अर्द्धपद्याः	पादभागाः	अर्द्ध पादभागाः
आत्मनि	१६	४१	०	२४	१२	९५६	४
पक्षे	२	७	१२	०	०	२१२	१
पक्षे	२	७	१२	०	०	२१२	१
पुच्छे	४	७	१०	०	०	२६५	२
१८०९	२४	६२	३४	२४	१२	१६४५	८
१२०				१६८९			

(३) प्रथमया तृतीयोक्ता । अथ विशेषः षोडशार्द्धपद्या उपदध्यात् चतस्रश्च बृहतीः स्रक्तिषु ! विंशतिं पादभागानधिकानात्मनि । प्राणभृत्स्थानेषु पादमात्रीः । बृहती सहिते चान्तर्द्धे द्वे । पश्चाच्छन्दस्या अभितश्चैकैका सार्द्धा । दक्षिणोत्तरे च द्वे द्वे सार्द्धे । प्राणभृतां च तिस्रस्तिस्रः । वालखिल्यानां चतस्रश्चतस्रः । पश्चिमा सार्द्धाः । पक्षपुच्छेभ्यस्तिस्रस्तिस्रोऽर्द्धपद्या उद्धृत्य षट् षट् पादभागानधिकानुपदध्यात् ॥

(४) द्वितीयावच्चतुर्थी। अथ विशेषः। पक्षाप्ययययोर्दक्षिणोत्तरेऽभितश्चतस्रश्चतस्रोऽर्धपद्याः। पश्चाज्जङ्घामात्र्यावभितोऽध्यर्द्धे। पुरस्ताच्च। चतुर्दश चार्द्धपद्ये द्वे द्वे षट् चैकैका म (भि) त श्रोण्योर्वृहत्यौ। तदन्तरे त्रिग्राहिण्यः। पादमात्र्यो च शेषे पादभागांश्चातुर्भिरधिकान् ॥

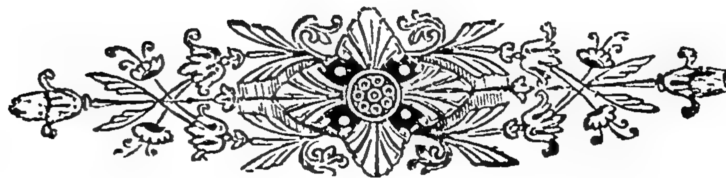
(५) पञ्चम्यामन्तराविराजः पुच्छसक्त्योः पादलोका वष्टौ च मध्यत आपूर्वान्तात् स मध्यमो भागः तस्मिन् ऋज्वालिखिताः दक्षिणोत्तरयोर्वक्रालिखिताः मध्यमे पादभागानां चतुःसप्ततानि पञ्चशतान्युपदध्यात्। चत्वारि चार्द्ध पादभागानाम्। विंशं विंशं च शतमर्द्ध पादभागानाम् उत्तरे षोडश पादभागानधिकानुपदध्यात्। दक्षिणेऽर्द्ध पादभागानाम् ॥

इह हि गार्हपत्यं लोकम्पृणाः प्रथमायां चितौ विगणयितव्याः। धिष्णीयास्तूत्तमायामित्याहुः॥ अथवा षट्त्रिंशच्छत्या तृतीया अष्टादशशत्या इतराः। उभयथाप्याहवनीयस्येष्टका दशसहस्राण्यष्टौ शतानि च संपद्यन्ते॥

प्र०	—	१६५०	।	१८००
द्वि०	—	१६५०	।	१८००
तृ०	—	१६५०	।	३६००
च०	—	१६५०	।	१८००
पं०	—	३०००	।	१८००
		१०८००		१०८००

अथवाऽयमपरिमितेष्टकोऽग्निश्चेतव्यः॥

प्रथमोत्तमयोरतिरिक्ता इष्टकाः पादमात्र्यः स्युः। पञ्चम्यां चितौ त्रेधाग्निं विभाज्य दक्षिणोत्तरयोर्वक्रालिखितानामिष्टकानां चयनम्। मध्ये तु ऋज्वालिखितानाम्॥



❀ अग्निचित्याधिकारः ❀

पुष्करपर्णम् | रुक्मः | हिरण्मयः पुरुषः | स्रुचौ

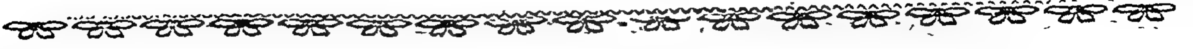
स्वयमातृण्णा | दूर्वा | द्वियजुः | रेतःसिचौ

आषाढा | कूर्मः

उलूखल – मुसले | उखा | पशुशीर्षाणि | अजः

दर्भस्तम्बः | लोगेष्टका





॥*॥ अथ संचिति कर्माणि ॥*॥

तत्र प्रथमं शतरुद्रिय होमः ॥



(१) उत्तरपक्षस्य पश्चिमायां स्रक्त्यां परिश्रित्सु अर्कपर्णेनार्ककाष्ठेन शातयन् सन्ततं जर्त्तिलमिश्रान् गवेधुका सक्तून्नुदङ्मुखस्तिष्ठन् जुहोति नमस्ते इत्यध्यायेन॥१॥ अजाक्षीरेणैके जुह्वति ॥ अनुवाकान्ते स्वाहाकारो यदि जानुदघ्नं चितं स्यात्। नाभिदघ्नचिते तु पश्चानुवाकान्ते स्वाहाकारः। मुखदघ्नचिते तु प्रत्यवरोहेभ्यः प्राक् स्वाहाकारः। अथ द्वन्द्विभ्यो जातेभ्यश्च हुत्वा सप्तयजुंषि जपति। ततोऽवतानान् जुहोति। अथ प्रतिलोमं प्रत्यवरोहान् जुहोति–प्रथमं मुखदघ्ने ततो नाभिदघ्ने, ततो जानुदघ्ने इति। नमोऽस्तुरुद्रेभ्यो ये दिवीत्यादयः प्रत्यवरोहाः ॥ कर्मापवर्गान्ते ते अर्कपर्णार्ककाष्ठे प्रास्यति चात्वाले ॥

(२) अग्नीध्रश्चित्यमग्निमद्भिस्त्रिः परिपिञ्चति । स दक्षिणे निकक्षेऽश्मानं कृत्वा तत्राभिषिच्य तत्राश्मनि कुम्भं निधाय पुनरादाय तत्राश्मनि द्वितीयपरिपिञ्चति एवं तृतीयम्। उदहरणं निधाय त्रिस्त्रिःपर्य्ययते ॥ कुंभेऽश्मानमवधाय दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ प्राङ्मुखस्तिष्ठन दक्षिणस्यां वहिर्वेदि प्रक्षिपति ॥ स तथा प्रक्षिपेद्द येनैष कुम्भः प्रक्षिप्तो भिद्येत। यदि न भिद्येत तर्हि प्रतिप्रस्थाता भेत्तुं नियुक्तोऽध्वर्य्युस्तं कुम्भं भेदयेत्। अश्मानमपि भेदयेदित्येके। अप्रतीक्षं ततः प्रत्यायान्ति। प्रत्यागत्योदङ् प्राङ् तिष्ठन् आत्मन उपरि यत्राभ्याप्नोति तत्राभिमृश्य यजुर्जपति ॥

(अथ अग्निविकर्षणम्)

(३) मण्डूक मवकां वेतसशाखां च वेणौ बध्वा तेनैनमग्निं विकर्षति सप्तभिः स दक्षिणार्धेनाग्नेरन्तरेण परिश्रितः प्रागग्रे विकर्षति । ततः पश्चिमार्द्धेनोदक् । तत उत्तरार्धेन प्राक् । ततः पूर्वार्धेन दक्षिणा । ततो दक्षिणपक्षं पुच्छमुत्तरपक्षं च । तत्राभ्यात्ममेव पक्षपुच्छानि विकर्षति ॥ वेणुमुत्करे प्रक्षिप्य, चित्यमालभ्य तिष्ठन्नध्वर्युरेव हिं कृत्य साम गायति । पुरस्ताद्गायत्रम् । दक्षिणे पक्षे, रथन्तरं उत्तरे पक्षे, बृहत् । आत्मनि वामदेव्यम् पुच्छे यज्ञा यज्ञियम् अथात्मानि दक्षिणे निकक्षे प्रजापतेर्हृदयं गायति ॥ अथाग्न्युक्थ्यांशंसेत्याह होतारम् ॥

(अथ आरोहावरोहौ)

(४) औपवसथ्येऽहनि प्रातरुदिते सूर्य्ये वाचं विसृज्य पञ्चगृहीतमाज्यं गृहीत्वा तत्र पञ्चहिरण्यशकलान् प्रास्यति ॥ अथ कस्यांचित् पात्र्यां वा विपुलोदरमुखायां स्थाल्यां वा दधिमधुघृतान्यासिच्य तदुपरि कुशमुष्टिं निदधाति ॥ एतदुभयमादाय चितिमारुह्य स्वयमातृण्णायां पञ्चगृहीतमाज्यं जुहोति हिरण्यं तत्र पश्यन् वेट्कारेण । ताः पञ्चाहुतीर्हुत्वा दधिमधुघृतैः समासक्तैः कुशाग्रैश्चितिरूपमेतमग्निं सर्वतोऽपि बाह्येन परिश्रितः समुक्षति द्वाभ्याम् ॥ ततोऽवरोहति ॥ अत ऊर्ध्वमेनमेवारोहणावरोहणे कार्य्ये ॥

(अथ प्रवर्ग्योत्सादनम्)

(५) स प्रत्यागत्य प्रवर्ग्योपसद्भ्यां प्रचरति । अथास्मै व्रतमर्द्धव्रतं वा प्रयच्छति । अथ प्रवर्ग्योपसद्भ्यां प्रचरति ॥ अथोपसदन्ते प्रवर्ग्यमुत्सादयति परिष्यन्देऽवाऽग्नौ वा । यत्र देशे समन्तमापः परियन्ति स परिष्यन्दः ॥ स्वयमातृण्णायां संस्पृष्टं प्रथमं प्रवर्ग्यमुत्सादयति ॥

(अथ समिदाधानम्)

(६) प्रत्यागत्याग्निं प्रहरिष्यन् शालाग्नौ पञ्चगृहीतमाज्यं जुहोति । पुनः षोडशगृहीतं समान्यां स्रुचि गृहीत्वा तिस्र आहुतीर्जुहोति ॥ अथ समिधस्तिस्र औदुम्बरीरार्द्रा एकरात्रं घृतोषिता आदधाति ॥

(अथाग्निप्रणयनम्)

(७) अग्निं प्रणयति । तत्रादौ संप्रेष्यति—"उद्यच्छेध्मम्, उपयच्छोपयमनीः, अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि, अग्नीदेकस्फ्ययानूदेहि, ब्रह्मन्नप्रतिरथं जप" इति ॥ ततो होत्रा प्रथमायामृचि त्रिरुक्तायामुद्यम्याग्निं चित्यं प्रतिगच्छन्ति । तन्नान्तरेणाहवनीयं च

गार्हपत्यं चाग्नीध्रवेलायां व्यध्वे आग्नीध्रदेशाद्दक्षिणां पृष्ठ्या सहितं पृश्न्यश्मानमुपदधाति द्वाभ्यां त्रिष्टुब्भ्याम् । न सादयति, न सूददोहसाधिवदति । निधाय तमतिक्रम्य त्रैजनग्रे-पुरतः श्रित्यमग्निमारुह्य स्वयमातृणाया उपरिष्टादग्निं धारयन् कृष्णाया गोः शुक्ल-वत्सायाः पयसो दोहनेनाभिजुहोति वषट्कारेण द्वाभ्याम् । अथ स्वयमातृण्णायामग्निं निधाय सादयित्वा सूददोहसाऽधिवदनं च कृत्वा तिष्ठन् तत्र तिस्रः समिध आदधाति-शमीमयीं वैकङ्कतीमौदुम्बरीं च । तत्रौदुम्बरी सकर्णका स्यात् कर्णकाभावे दधिद्रप्स-मुपहत्य तत्रादध्यात् ॥ उपविश्य तिस्र आहुतीर्जुहोति स्रुवेण पूर्वे स्रुचोत्तराम् । वैश्व-कर्मणीं जुहोति । पूर्णाहुतिं जुहोति । इत्थं चैषा पंचमी चिति रत्रमवोऽहिता भवति । तस्मादस्मिन्नवसरे मञ्चम्याश्रितेः सप्तर्चोपस्थानं कार्य्यम् ॥ अथवा धिष्ण्याग्नींश्रित्वा सप्तर्चोपस्थानं कुर्यात् । पञ्चमचित्यानन्तर्य्येण धिष्ण्यचितेर्विहितत्वात् ॥ अत्राग्निमभि-मृशेदिच्छया । प्रतिचिति चैवमभिमर्शनमिच्छन् कुर्यादित्याहुः ॥

[अथोत्तरा नवाहुतयः]



(८) वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरोऽनुवाक्यवन्तं याज्यवन्त वषट्कृते स्रुचा तिष्ठन् जुहोति ॥ १ ॥ ततो मारुतान् सप्तकपालान् हस्तेनैवासीनः स्वाहाकारेण जुहोति । तत्र प्रथमौ मरुतौ शिरोलक्षणस्याधिश्रितस्य वैश्वानरस्य मध्य एव दक्षिणो-त्तरौ श्रोत्रवत् कार्य्यौ । ताभ्यां पश्चात् संनिकृष्टौ द्वौ मारुतौ चक्षुर्वत् ॥ ततोऽपि पश्चात् समन्तिकतरौ द्वौ मारुतौ नासा पुटवत् । ततोऽपि पश्चादरण्येनूच्य एको वाग्वत् । स पुच्छात् पश्चिमतः कुशानास्तीर्य्य तत्रैता नासादयेत् । वैश्वा-नरे प्रथमौ द्वौ मारुता विधिश्रित्य ततः पश्चात्पश्चादितरान् कपालानधिश्रयेदित्येकः

प्रकारः ॥ अथवा वैश्वानरमेव पृथुं कृत्वा तत्र वैश्वानरे एव सर्वानेतान् सप्तकपालान् पूर्वरीत्याद्दिशः संनिवेश्य जुहुयादित्यन्यः प्रकारः ॥ अन्ते च मन्त्रं जपति वा वाचयति वा ॥२॥ अथ तस्मिन्ननूच्येऽग्निप्राप्ते सति तत्र यजमान औदुम्बर्या स्रुचा पञ्चगृहीतेनाज्येन संततं वसोर्धारां जुहोति 'वाजश्चमे'—इत्यादिभिरूनत्रिंशन्मन्त्रैः ॥ हुत्वा च तां स्रुच तत्रैवाग्नौ प्रक्षिपति येनात्र लिप्तमाज्यमग्नेर्बहिर्धा न भवेदिति ॥ ३ ॥ अथौदुम्बरेण चतुः स्रक्तिना चमसेन, औदुम्बरेण चतुः स्रक्तिना स्रुवेण वाजप्रसवीयं सर्वौषधं जुहोति । तेषामेकमन्नमुद्धरेत् तद्यावज्जीवं नाश्नीयात् ॥ तत्र षट् पार्थानि राजसूयिकानि वाजप्रसवीयानिस्युः । सप्तोत्तराणि वाजपेयिकानि वाजप्रसवीयानि तानि चतुर्मुष्टिकानि । सप्तोत्तमानि त्वाग्निसवात्मकानि वाजप्रसवीयानि । तान्यपि चतुर्मुष्टिकान्येव ॥ ४ ॥ स्रुवमग्नौ प्रक्षिप्य तदन्ते परिश्रित्संलग्नं पुच्छादुत्तरतः कृष्णाजिनमुपरिलोमं प्राचीन ग्रीव वस्ताजिनं वास्तीर्य तत्रासीनंभूतं यजमानमभिषिञ्चति अपसंयुतेन हुतशेषेण क्षीरोदकाभ्यां वा वाजपेयिकहुतशेषाभ्याम् । अभिषिञ्चन् दक्षिणं बाहुमनुपर्य्यावर्तयेत् ॥ तं हैके दक्षिणतोऽग्नेरभिषिञ्चन्ति । तत्र । तथाभिषेकस्य सत्वरमृत्युहेतुत्वात् । केचित्त्वाहवनीये एवाभिषिञ्चन्ति । तदपि न मत्र्येनानेन यजमानात्मनादैवस्य यजमानात्मनोऽनुप्रसङ्गात् ॥ तस्मादुत्तरत एवैन मभिषिञ्चेत् । किञ्च ब्रह्मवर्चसकामं कृष्णाजिने, पुष्टिकामं वस्ताजिने इत्याहुः । उभयकामं तूभयत्र यथेच्छमिति युक्तम् ॥ बुभूषन्तं तु तिष्ठन्तमभिषिञ्चेत् । केचित्त्वाग्निमन्वारब्धं तिष्ठन्नभिषिञ्चति । तन्वदैवमानुषात्मनोरनुषङ्गदोषस्योक्तत्वात् । तस्मात् परिश्रिदास्पृष्ट एव कृष्णाजिनेऽभिषिञ्चेदिति नियमः ॥ अग्नौ चमसं प्रास्य पुनः षट् पार्थानि पूर्ववज्जुहोति—इति बोध्यम् ॥५॥ अथ द्वादश गृहीतेनाज्येन विगृह्य द्वादशाहुतीराष्ट्रभृतो मिथुनानि जुहोति । तत्र वाट्कारेण च स्वाहाकारेण च पूर्वं पूर्वं पुंसे हुत्वा परतः परतः स्त्रीभ्यः स्वाहा कारेणैव जुहुयात् ॥६॥ अथ पुनरध्यध्याहवनीयमुपरिधार्य्यमाणे रथ शिरसि पञ्चगृहीतेनाज्येन पञ्चाहुतीः समानेन मन्त्रेण सर्वतः परिहारमदक्षिणमाभिषिञ्चति पुरुषाहुतिवद्वा ॥ तत्रायमध्वर्य्युराहुतिदानकाले रथशिरोऽभिमुखः स्यात् ॥ ७ ॥ अथ वाद्येनाग्निं बहिर्वेदेरञ्जलिनाऽऽहृत्य अधो-

धोधुरं वातहोमान् जुहोति । तत्र पुरस्तादाहृत्य दक्षिणस्यां धुरि, उत्तरत आहृत्योत्तरस्यां धुरि । दक्षिणतःपश्चादाहृत्य दक्षिणप्रष्टेः । अथ होमानन्तरं योक्त्रं परिहृत्य रथं प्रगृह्याध्वर्यो-रावगमथमन्वाहरन्ति । तं रथमश्वांश्च दक्षिणाकालेऽध्वर्य्यवे ददाति ॥ ८ ॥ अथ रुङ्मती-स्तिस्रः, वारुणीमेकाम्, अर्काश्वमेधयोः संततीः पञ्चाहुतीरित्येवं नवाहुतिर्जुहोति ॥ किंच यां काश्चिद्ब्राह्मणवतीमाहुतीं विद्यात् तामेतस्मिन्नवसरे जुहुयात् । न जुहुयाद्व–अतिरिक्तत्वा-दित्यन्ये ॥ ९ ॥

॥ इत्याहवनीयाग्निचयनम् ॥

(अथाष्टधिष्ण्याग्नि चयनम्)

(१) प्रत्येय धिष्ण्यानां कालेधिष्ण्यान्निवपति । स हविर्धान प्रक्षालनाद्याग्नीध्रा-लम्भनान्तं प्राकृतं कर्म कृत्वा धिष्ण्याग्नीं श्चिनोति । आहवनीयस्तावदिष्टकाभिर्यजुष्मतीभिर्लो-कम्पृणाभिश्चोर्ध्वचितः पञ्चचितिको व्याख्यातः । धिष्ण्याः पुनर्लोकम्पृणाभिरेव केवलाभिस्ति-र्य्यक्चिता एकचितिका इष्यन्ते । तत्र यं यमेवाध्वरधिष्ण्यं निर्वपति तं तं चिनोति ।

तथा चाग्नीध्रीयं प्रथमं चिनोति दक्षिणत उदङ्ङासीनः । तस्मिन्नष्टाविष्टका उप दधाति ,अश्मा पृश्निर्नवमः, यश्चितेऽग्निर्निधीयते स दशमः ॥ सकृन्मन्त्रं प्रयुङ्क्ते ॥ १ ॥ एकविंशतिर्लोकम्पृणा होत्रीये त्रिर्मन्त्राः । चतुर्विंशतिरित्येके । षोडशेत्येके । द्वादशेत्येके ॥२॥ एकादश ब्राह्मणाच्छंस्ये द्विर्मन्त्राः ॥ ३ ॥ अष्टावष्टौ तु मैत्रावरुणीये पोत्रीये नेष्ट्रीयेऽ-च्छावाकीये च ॥७॥ षण्मार्जालीये ॥ ८ ॥ दक्षिणत एतान् पर्य्यूहिरे ॥ तदित्थमरत्निमात्रा-श्चतुरस्रा अष्टौधिष्ण्या उक्ता वाजसनेयिनाम् । येषां त्वेते परिमण्ला इष्यन्ते तेषा मेत एव छिन्नकोणा अरत्नि विष्कम्भाः परिमण्डलाः संपाद्याः । जानुदघ्नं मृत्तिकाबिम्बं कृत्वा लेखाभिरिष्टका विभजेदित्याहुः । इष्टकाभिश्चिकीर्षायां तु परिमण्डलचयनोपयुक्ताः सम-

विषमा इष्टकाः कल्प्याः ॥ अथैनान् परिश्रिद्भिः परिश्रयति । तत्र यावत्य एव यस्येष्टकाः स्युस्तावत्य एव तस्य परिश्रितः कार्य्याः । तासां च शर्कराणां परितो निधानमात्रं न तु गार्हपत्यादिवत् खननमिहापेक्ष्यते ॥ तूष्णीमेषुपुरीष निवापः ॥

॥ इति धिष्ण्याग्नि चयनम् ॥

अथोत्तर कर्माणि ॥



(२) अथाग्नीषोमीयस्य पशुपुरोडाशमनुदिशामष्टानां देवस्त्वामिष्टीरुपांशु निर्वपति । तत्र पञ्चहवींषीत्येके, दशहवींषीत्येके । समानः स्विष्टकृत् । समानीडा ॥ अथैनं पूर्वाभिषेकेणाभिमृशति ॥

(३) अथ प्रातः प्रातरनुवाकमुपाकरिष्यन् सर्वस्य कर्मणः पुरस्तादग्निं परिधिषु युनक्ति । यदत ऊर्ध्वं किञ्चित्कर्मक्रियते तत्सर्वं युक्ते समाधीयते । स यजुषा मध्यमं परिधिमुपस्पृश्य दक्षिणमुत्तरं च क्रमेण स्पृशति । तदित्थं त्रिभिरग्नियोजनं कृत्वा तत्राग्नौ सोमं राजानमभिपुत्य जुहोति । अग्नौ हुत्वा भक्षयति ॥ अथ यज्ञायज्ञियस्याग्नि मारुतस्तोत्रस्य पुरस्तादेवैनमग्निं परिधिसन्ध्योरुपस्पृश्य विमुञ्चति द्वाभ्यां यजुर्भ्याम् ॥ तं है के प्रायणीयेऽतिरात्रे युक्त्वोदयनीये विमुञ्चन्ति । तत्र अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते, अहरहः संतिष्ठते, अहरहरेनं स्वर्गस्य लोकस्य गत्यैयुङ्क्ते, अहरहरेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति । तस्मादहरहरेव युञ्ज्याद्-अहरहर्विमुञ्चेत् ॥

(४) उभयं हीदं भवति-अध्वरंकर्मचाग्निकर्मच । तेनाध्वरस्य नवसमिष्ट यजूंषि हुत्वा द्वे अग्नेजुहोति ॥ १ ॥ तदित्थमेकादशसमिष्ट यजंषि हुत्वाऽवभृथं

गत्वा तत उदेत्योदयनीयेन च इति ॥३॥ ततो अनूबन्ध्यस्य पशुपुरोडाशमनु ॥४॥ देवि-कानां पञ्चहवींषि उपांशु निर्वपति । अनुमत्यै एकायै सिनीवाल्यै कुह्वै च चरवः । धात्रो द्वादशकपालः पुरोडाशश्च । समानः स्विष्टकृत् सभानीडा पशुपुरोडाशेन । अथापि उच्चैः पशुपुरोडाशः उपांश्वेतानि । अनुब्रूहि प्रेष्येति पशुपुरोडाशस्याह, अनुब्रूहि यजेत्येतेषामिति विशेषः ॥५॥ तस्यैतस्य पशोः समिष्टयजूंषि जुहोति ॥६॥ हृदयशूलेनावभृथमभ्यवयन्ति ॥ ७ ॥

(वैश्वकर्म्मण होमः)



(५) ततः प्रत्यागत्य स्रुवेण वैश्वकर्मणान्यष्टौ जुहोति । अस्याग्नेर्यथादौ प्रायणमष्टौ सावित्राणि हुतानि तथान्तेऽप्युदयनमेतान्यष्टौ वैश्वकर्मणानि हूयन्ते ॥ १ ॥ इत्थं चितिं समाप्तै चितस्यै तस्याग्नेश्चित्रोऽसीति नामकृत्वा तमुपतिष्ठते ॥ २ ॥ अथो-दवसानीयान्ते मैत्रावरुण्या पयस्ययोपांशुयजते । तस्या वाजिनेन चरति । तस्मिन् तूपरौ मिथुनौ दक्षिणां दद्यात् ॥ ४ ॥ अथैतस्य कर्मणोन्यूनातिरिक्त कृतदोषनिवृत्यर्थं च सप्तर्चेनोपतिष्ठते— वात्रघ्नीभ्यां वैमृधीभ्यां वैश्वानरीभ्यां कामवत्या च । कामवतीभ्यां च कृत्वाऽष्टर्चेनोपतिष्ठेतेत्येके ॥ तत्र केचित्कर्मणः कर्मणः प्रतिपदमेतदुपस्थानं कुर्वते ॥ केचित्तु पुरीषवतीं चितिं कृत्वोपतिष्ठेतेत्याहुः ॥ स यथा कामयेत तथा कुर्यान्नात्र विसंवादः ॥

(अथाशक्तौ व्यवस्था)



(६) पुनश्चित्यायामशक्तौ सोमेज्यायां स्वयमातृण्णां च विश्वज्योतिर्वा ऋतव्यां वा

पुनश्चितिं वाऽन्यतममुपदधीत । अथवा न पुनश्चिन्वीत । योवावचितेऽग्निर्निधीयते तामेवेष्टकामेष सर्वोऽग्निरभिसंपद्यते इत्याहवनीये एवंचित्याभिसंपत्तिश्रवणात् ।

(अथाग्निचितो व्रतानि)

(७) अग्निचिद्वर्षति न धावेत् । न वयसांमांसान्यश्नीयात् । प्रथमं चित्वा सवर्णामेवोपेयात् न शूद्रीमुपेयात् । द्वितीयं चित्वा स्वीयामेवभार्य्यामुपेयान्न-सवर्णामप्यविवाहिताम् । तृतीयं चित्वा स्वीयामपि नोपेयात् । ब्रह्मचारी स्यात् । तान्येतान्यग्निचितो व्रतानि यावज्जीवं परिपालनीयानि । संवत्सरसंमिता वा व्रतचर्य्येति श्रुतेः । संवत्सरमेव वेति केचित् । तन्न । अग्निचयनसम्बन्धेनैषां विहितत्वात् ॥

(अथ शुभादेशः)

(८) अथाहुः । अग्निर्यजुषां, महाव्रतं साम्नां, महदुकूथमृचाम्— इत्येतानि त्रीणि आत्मार्थमेव कुर्वीत न परस्मै कुर्य्यात् । परस्मै कुर्वन्नात्मना प्रजया पशुभिर्हीयते श्वः श्वः पापीयान् भवति । यश्च नैतानि परस्मै करोति सोऽन्यैरपि सर्वैर्यज्ञक्रतुभिः परस्मै याजयन्नेतैरेवास्मसंस्थैः पुनराप्यायते श्वः श्वः श्रेयानेव भवति । यत्तु केचिदाहुः । स्वयं कृत्वा परस्मै कुर्य्यात् । यदिवा परस्मै कृत्वा स्वयं कुर्वीत् । यदिवा यस्मै करोति तेनात्मने कारयेत—इत्येषा प्रायश्चित्तिरिति । तन्न । शुष्के स्थाणावुदकसिञ्चनवत्तस्य वैयर्थ्यात् ॥ तस्मात्परस्मै नैव कुर्य्यात् । तथा चैष श्वःश्व एव श्रेयान् स्यादिति सिद्धम् ॥

❋ अथ संचितियागाधिकारः ❋



अथाष्टौ सावित्राणि ।



युञ्जानः प्रथमम्मनस्तत्वाय सविताधियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत् ॥ १ ॥
युक्तेनमनसा वयन्देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥
युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्य्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवातितान ॥ ३ ॥
युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥
यस्य प्रयाण मन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमान मोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ॥६॥
देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥७॥
इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनाजितं स्वर्जितम् ।
ऋचास्तोमं समर्द्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा॥८॥(११अ.१-८)

अथ अभ्यादान



देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आददे गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वत् ॥ १ ॥
पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभरत् ।
त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत् ॥ २ ॥
अभ्रिरसि नार्य्यसि त्वया वयमग्निं शकेम खनितुं सधस्थ आ ।
जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत ॥ ३ ॥
हस्त आधाय सविता विभ्रदभ्रिं हिरण्ययीम् ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरद्द आनुष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वत्॥४॥(९-११)

अथ पशुत्रयाभिमन्त्रणम् ।



प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम् ।
दिवि ते जन्म परमन्तरिक्षे तवनाभिः पृथिव्यामधि योनिरित् ॥१॥
युञ्जाथां रासभं युवमस्मिन यामे वृषण्वसू ।
अग्निं भरन्तमस्मयुम् ॥ २ ॥
योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥३॥ (१२-१४)

अथ पशुत्रयोत्क्रमणम् ।

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि ॥ १ ॥
उर्वन्तरिक्षं वीहि । स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥२॥
पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर ॥ ३ ॥

अथ मृदभिगमः ।

अग्नीं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमः ॥ १ ॥

अथ अभद्रापुरुषेक्षणम् ।

अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः ॥ २ ॥ (१५–१६)

अथ वपान्वीक्षणम् ।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आततन्थ ॥१॥ (१७)

अथाश्वाभिमन्त्रणम् ।



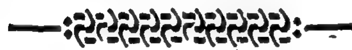
आगत्य वाज्यध्वानं सर्वामृधो विधूनुते ।
अग्निं सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥ १ ॥ (१८)

अथाश्वाक्रमणम् ।



आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचात्वम् ।
भूम्या वृत्त्वाय नो ब्रूहि यतः खने मतं वयम् ॥ १ ॥ (१९)

अथाश्वोन्मर्षणम् ।



द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षं समुद्रो योनिः ।
विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ पृतन्यतः ॥ १ ॥ (२०)

अथाश्वोत्क्रमणम् ।

उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद्द्रविणोदा वाजिन् ।
वयं स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥ १ ॥ (२१)

अथाश्वाभिमन्त्रणम् ।

उदक्रमीद्द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकं सुकृतं पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥१॥ (२२)

अथ मृदभिहोमः ।

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा ।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम् ॥ १ ॥
आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत ।
मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः ॥ २ ॥ (२३–२४)

अथ परिलेखन्यः परिवित्यः ।



परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ १ ॥ (२५)
परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि धृषद्वर्णं दिवे ।
दिवे हन्तारं भङ्गुरावताम् ॥ २ ॥ (२६)
त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥ ३ ॥ (२७)

अथ अवटखननम् ।



देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि ॥ १ ॥
ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम् ।
शिवं प्रजाभ्योऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः ॥२॥ (२८)

अथ पुष्करपर्णे मृत्तिकाभरणम् ।



अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महां आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥ १ ॥ (२९)

अथाजिनपर्णयोः अभिमर्शनम् ।



शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽच्छिद्रे बहुले उभे ।
व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम् ॥ १ ॥
संवसाथां स्वर्विदा समीची उरसात्मना ।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥ २ ॥ (३०-३१)

अथ मृदभिमर्शनम् ।



पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ॥ १ ॥

अथ मृत्परिग्रहः ।



त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ १ ॥
तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः । वृत्रहणं पुरन्दरम् ॥ २ ॥
तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् । धनंजयं रणे रणे ॥३॥
सीदहोतः स्व उ लोके चिकित्वान् सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥ ४ ॥
नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत् सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥ ५ ॥

सं सी दस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः ।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥ ६ ॥ (३२-३७)

अथ अप् सेचनम् ।



अपो देवीरुपसृज मधु मतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ १ ॥ (३८)

अथ वायुसन्धानम् ।



सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् ।
यो देवानां चरसि प्राणथे न कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥ १ ॥ (३९)

अथाजिनाद्युपनहनपर्य्यसते ।



सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत् स्वः ।
वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व विभावसो ॥ १ ॥ (४०)

अथोत्थानम् ।



उद्ध तिष्ठ स्वधरावा नो देव्या धिया ।
दशे च भासा बृहता सु शुक्वनिराग्ने योहि सुशस्तिभिः ॥ १ ॥ (४१)

अथ मृत्परिग्रहः ।



ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।
ऊर्ध्वो वाजस्य सवितायदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ १ ॥ (४२)

अथ पशुत्रयाभिमन्त्रणम् ।



सजातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु ।
चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदङ्गाः ॥ १ ॥
स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन् ।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ॥ २ ॥
शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः ।
मा द्यावापृथिवी अभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥ ३ ॥ (४३-४५)

अथ पशुत्रयोपरि मृत्संभरणम् ।



प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषपुरा ॥
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् ।
अग्न आयाहि वीतये ऋतं सत्यमृतं सत्यम् ॥ १ ॥

अथानद्धापुरुषेक्षणम् ।



अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः ।

अथ मृदुपावहरणम् ।



ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतं शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः ।
व्यसन् विश्वा अनिरा अमी वा निषीदन्नो अप दुर्मतिं जहि ॥ १ ॥
ओषधयः प्रतीगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः ।
अयं वो गर्भः ऋत्वियः प्रत्नं सधस्थ मासदत् ॥ २ ॥ (४६-४८)

अथोपनाहवेषणम् ।

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्ने रहं सुसवस्य प्रणीतौ ॥ १ ॥ (४६)

अथावुपसर्जनम् ।

आपो हिष्ठा मयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥१॥ (५०)
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेहनः । उशतीरिव मातरः ॥२॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥(५१-५२

अथाजलोम संसर्गः ।

मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह ।
सुजातं जातवे दसमयक्ष्माय त्वा संसृजामि प्रजाभ्यः ॥ १ ॥
रुद्राः सं सृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे ।
तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचते ॥ २ ॥ (५३—५४)

अथ प्रयूतिः ।



सं सृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम् ।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम् ॥ १ ॥
सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौ पशा ।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥ २ ॥
उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया ।
माता पुत्रं यथोपस्थ साग्निं विभर्तु गर्भ आ ॥ ३ ॥

अथोखा निर्माणम् ।



मखस्य शिरोऽसि ॥ १ ॥
वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसांगिरस्वद्ध्रुवासि पृथिव्यासि ।
धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान्यजमानाय ॥ २ ॥
रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसांगिरस्वद्ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि ।
धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्य सुवीर्य्यं सजातान्यजमानाय ॥ ३ ॥
आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसांगिरस्वद्ध्रुवासि द्यौरसि ।
धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं सजातान्यजमानाय ॥ ४ ॥
विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसांगिरस्वद्ध्रुवासि दिशोऽसि ।
धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्य्यं सजातान्यजमानाय ॥५॥(५५-५८)

अथ रास्ना करणम् ।



अदित्यै रास्नासि ।



अथ विला विपत्तिः ।



अदितिष्टे विलं गृभ्णातु ।



अथोखानिधानम् ।



कृत्वाय सा महीमुखां मृण्मयीं योनिमग्नये ।
पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति ॥ १ ॥ (५६)



अथोखाधूपनम् ।



वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसांगिरस्वत् ॥ १ ॥
रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसांगिरस्वत् ॥ २ ॥
आदित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसांगिरस्वत् ॥ ३ ॥
विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसांगिरस्वत् ॥ ४ ॥

इन्द्रस्त्वा धूपयतु ॥ ५ ॥

वरुणस्त्वा धूपयतु ॥ ६ ॥

विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ ७ ॥ (६०)

अथ गर्त खननम् ।



अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थे अंगिरस्वत् खनत्ववट ॥

अथ गर्ते उखावधानम् ।



जेवानां त्वा पत्नीर्देवी विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वद्दधतूखेते ॥

अथाग्निज्वालनम् ।



धिषणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे ॥

अथ श्रपणीयजप्यानि ।



वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूखे ॥१॥
ग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्पचन्तूखे ॥ २ ॥
जनयस्त्वाच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अंगिरस्वत्पचन्तूखे॥३॥ (६१)

अथोपन्याचरणम् ।



मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि ।
द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ १ ॥ (६२)

अथोद्वपनम् ।



देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वंगुरिः सुबाहुरुत शक्त्या ।

अथ पर्य्यावर्तनम् ।



अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आपृण ॥ १ ॥ (६३)

अथोखादीनामुद्यम्यनिधानम् ।



उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवात्वम् ।
मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्त्या एषा मा भेदि ॥ १ ॥ (६४)

अथाच्छन्दनम् ।



वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ १ ॥
रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसांगिरस्वत् ॥ २ ॥
आदित्यास्त्वाच्छृन्दन्तु जागतेन छन्दसांगिरस्वत् ॥ ३ ॥
विश्वेत्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसांगिरस्वत् ॥४॥ (६५)

अथौद्ग्रभणहोमाः ।



आकूतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा ॥ १ ॥
मनो मेधामग्निं प्रयुजं स्वाहा ॥ २ ॥
चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजं स्वाहा ॥ ३ ॥
वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा ॥ ४ ॥
प्रजापतये मनवे स्वाहा ॥ ५ ॥
अग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥ ६ ॥

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वोराय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥ ७ ॥ (६६-६७)

अथोखा प्रवृञ्जनम् ।



मा सु भित्था मा सु रिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु ।
अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥ १ ॥ (६८)
दृं हस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि ।
जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन् ॥ २ ॥ (६९)

अथ त्रयोदश समिदाधानम् ।



द्रन्न सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः । सहसस्पुत्रो अद्भुतः ॥ १ ॥ (७०)
परस्या अधि संवतोऽवराँ अभ्यातर । यत्राहमस्मि ताँ अव ॥२॥ (७१)
परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि ।
पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ३ ॥ (७२)
यदग्ने कानि-कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि ।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ४ ॥ (७३)
यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति ।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ५ ॥ (७४)

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥ ६ ॥
नाभा पृथिव्याः समिधने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरं मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥ ७ ॥
याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत ।
येस्तेना ये च तस्कराँ स्ताँस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये ॥ ८ ॥
दंष्ट्राभ्यां मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ उत ।
हनुभ्यां स्तेनान् भगवस्ताँ स्त्वं खाद सुखादितान् ॥ ९ ॥
ये जनेषु मलिम्व व स्ते नासस्तस्करावने ।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँ स्ते दधामि जम्भयोः ॥ १० ॥ (७५–७९)
यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद्यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥ ११ ॥
संशितं मे ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् ।
संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥ १२ ॥
उदेषां बाहू अतिरमूद्वर्चो अथो बलम् ।
क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामिस्वाँ अहम् ॥ १३ ॥ (८०–८२)

अथ पयः पानम् ।

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्र–प्र दातारं तारिष ऊर्जं नोधेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ १ ॥ (८३)

अथोखायां रुक्म प्रतिमोचनम् ।



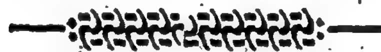
दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रियेरुचानः ।
अग्निरमृती अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत् सुरेताः ॥ १ ॥ (१२ अ० १)

अथ एड्वाभ्यापरिग्रहणम् ।



नक्तोषासा समनसा विरूपे धापये ते शिशुमेकं समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥१॥ (२)

अथ शिक्यपाश प्रतिमोचनम् ।



विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
विनाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥ १ ॥ (३)

अथ सुपर्णभावतयाऽग्निविकरणम् ।



सुपर्णोऽसि गरुत्मांस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ ।
स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम ।

साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः ।
सुपर्णोसि गरुत्मान् दिवं गच्छस्वः पत ॥ १ ॥ (४)

अथ विष्णुक्रमाः ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व ।
विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तिरिक्षमनु विक्रमस्व ।
विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व ।
विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टुभं छन्द आरोहदिशोऽनु विक्रमस्व ॥१॥(५)

अथोख्याग्निप्रग्रहः ।

अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि होमिद्धो अरव्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥१॥ (६)

अथ प्रत्यवरोहाः ।

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा निवर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन ।
सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥ १ ॥ (७)

अग्ने अङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त उपावृतः ।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नोनष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमाकृधि ॥ २ ॥
पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषायुषा । पुनर्नः पाह्यंहसः ॥ ३ ॥
सहरय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ४ ॥ (८--१०)

अथोख्याग्न्यभिमन्त्रणम् ।



आ त्वाहार्षमन्तर भूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ १ ॥ (११)

अथ शिक्यपाश-रुक्मपाशोकुञ्चनम् ।



उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथावयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ १ ॥ (१२)

अथोख्याग्नि प्रग्रहः ।



अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जगन्वान्तमसो ज्योतिषागात् ।
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग आजातो विश्वा सद्मान्यप्राः ॥ १ ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् । बृहत् ॥२॥ (१३-१४)

अथोख्योपस्थानानि ।

सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् ।
मैनां तपसामार्चिषाभिशो चीरन्तरस्यां शुक्रज्योतिर्विभाहि ॥ १ ॥
अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे ।
तस्यास्त्वं हरसा तपन् जातवेदः शिवो भव ॥ २ ॥
शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथोसीद शिवस्त्वम् ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनि मिहासदः ॥ ३ ॥ (१५–१७)

अथ वात्सप्रोपस्थानानि ।

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परिजातवेदाः ।
तृतीयमप्सुनृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥ १ ॥
विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥ २ ॥ (१८–१९)
समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन् ।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन् ॥ ३ ॥ (२०)

*जपः ।



अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ १ ॥
श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।
वसु सूनुः सहसो अप्सु राजा विभात्यग्र उषसामिधानः ॥ २ ॥
विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायन् जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ ३ ॥
उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि ।
इयर्त्ति धूमरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥ ४ ॥
दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रियेरुचानः ।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत् सुरेताः ॥ ५ ॥
यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥ ६ ॥
आ तं भज सौश्रवसेष्वग्न उक्थ आभज शस्यमाने ।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः ॥ ७ ॥
त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून्विश्वा वसु दधिरे वार्य्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः ॥ ८ ॥
अस्ताव्यग्निर्नरां सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ ९ ॥ (२१–२९)

---

* इत आरभ्य नवानां मन्त्राणां शतपथे विधिर्नास्ति ।

अथानसि समिदाधानम् ।



समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ १ ॥ (३०)

अथोख्योद्यमनम् ।



उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः ।
सनो भव शिवस्त्वꣳ सुप्रतीको विभावसुः ॥ १ ॥ (३१)

अथानस्य नड्वत् संयोगः ।



प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम् ।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजाः ॥ १ ॥ (३२)

अथाक्षोत्सर्गशान्ति जपः ।



अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥१॥ (३३)

अथाग्नेः स्थापनं स्थितवत्या ।



य आयमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद्भाः ।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्यो अतिथिः शिवो नः ॥१॥ (३४)

अथ भस्माभ्यवहरणम् ।



आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत् स्योने कृणुध्वं सुरभाउलोके ।
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत् ॥ १ ॥
अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे गर्भेसन् जायसे पुनः ॥ २ ॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ॥ ३ ॥ (३५–३७)

अथाभ्यवहृत्यापादानम् ।



प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने ।
संसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥ १ ॥
पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने ।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्यां शिवतमः ॥ १ ॥
पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषायुषा । पुनर्नः पाह्यंहसः ॥ ३ ॥

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ ४ ॥ (३८–४१)

अथोग्न्युपस्थानं बुद्धवतीभ्याम् ।

बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठमं हिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः ।
पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्ने ॥ १ ॥
स बोधि सूरिर्मघवावसुपतेवसुदावन् । युयोध्यस्मद्द्वेषांसि ॥

अथ प्रायश्चित्ति समिदाधानम् ।

विश्वकर्मणे स्वाहा ॥ १ ॥
पुनस्त्वादित्या रुद्रावसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्मणो वसुनीथ यज्ञैः ।
घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥ २ ॥ (४२–४४)

❀ अथ गार्हपत्यचयनम् ❀



अथ क्षेत्रे पलाशशाखयाऽभ्युदूहनम् ।



अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः ।
अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै ॥ १ ॥ (४५)

अथोष निवापः ।



संज्ञानमसि कामधरणम् । मयि ते कामधरणं भूयात् ।
अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि ॥ १ ॥



अथ परिश्रिद्भिः परिश्रयणम् ।



चितः स्थ परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ॥ १ ॥ (४६)



अथ मध्यचतुरिष्टकोपधानम् ।

अयंसो अग्निर्यस्मिन् सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः ।
सहस्रियं वाज्यमत्यं न सप्तिं ससवान् सन् स्तूयसे जातवेदः ॥ १ ॥
अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥ २ ॥
अग्ने दिवो अर्णमच्छाजिगास्यच्छा देवां ऊचिषे धिष्ण्याये ।
या रोचने परस्तात् सूर्य्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्तु आपः ॥ ३ ॥
पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषोमहीः ॥ ४ ॥ (४७–५०)

अथ पश्चिमे दक्षिणोत्तरेष्टकोपधानम् ।

इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ १ ॥
अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ २ ॥ (४८–५२)

अथ पूर्वस्यामुत्तरदक्षिणेष्टकोपधानम् ।

चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ।

परिचिर्दसि तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ॥ १ ॥ (५३)

अथ लोकम्पृणोपधानम् ।



लोकम्पृणछिद्रं पृणाथोसीद ध्रुवात्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् यानावसीषदन् ॥ १ ॥ (५४)

अथ सूददोहसाधिवदनम् ।



ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ १ ॥ (५५)

अथ पुरीष निवापः ।



इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ १ ॥ (५६)

अथ गार्हपत्ये उख्याग्नि संनिवापः ।



समितं सङ्कल्पेथां सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्य मानौ ।
इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ १ ॥ (५७)
सं वां मनांसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम् ।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥ २ ॥
अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमां असि ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ ३ ॥
भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञं हिंसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥४॥ (५८-६०)

अथाग्निमुत्तरणोखा विमोकः ।



मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निं स्वे योनावभारुखा ।
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु ॥१॥ (६१)

॥ इति गार्हपत्यचयनम् ॥



अथ नैर्ऋतीष्टकात्रयोपधानम् ।



असुन्वन्तमयजमानमिच्छस्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य ।
अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्यानमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥ १ ॥
नमः सुते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधिरोहयैनम् ॥ २ ॥
यस्यास्ते घोर आसन् जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय ।
यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वतः ॥३॥(६२-६४)

अथासन्दीशिक्यादि प्रक्षेपः ।



यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम् ।
तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादथैतं पितुमद्धि प्रसूतः ॥

अथान्तरेणापो निनयनम् ।



नमो भूत्यै येदं चकार ॥ १ ॥ (६५)

अथ गार्हपत्योपस्थानम् ।



निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वारूपाभिचष्टे शचीभिः ।
देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥ १ ॥ (६६)

अथाहवनीयाग्निचयनम् ।



अथ सीराभिमन्त्रणम् ।



सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥ १ ॥ (६७)
युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्युः पक्वमेयात् ॥ २ ॥ (६८)

अथ सीताकर्षणम् ।



शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मे ॥ १ ॥

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान् सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥ २ ॥
लाङ्गलं पवीरवत् सुशेवं सोमपित्सरु ।
तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यञ्च पीवरीं प्रस्थावद्रथ वाहनम् ॥ ३ ॥
कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च ।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यः ॥ ४ ॥ (६९–७२)

अथ युग्य विमोकः ।



विमुच्यध्वमघ्न्या देवयाना अगन्म तमसस्परस्य । ज्योतिरापाम ॥१॥ (७३)

अथ दर्भस्तम्बाभिहोमः ।



सजूरब्दो अयवोभिः सजूरुषा अरुणीभिः सजोषसावश्विना ।
दं सोभिः सजूः सूर एतशेन सजूर्वैश्वानर इडया घृतेन स्वाहा ॥१॥ (७४)

अथ पञ्चदशभिरोषधिनिवापः ।



या ओषधीः पूर्वाजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्तच ॥

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वोरुहः ।
अधा शत क्रत्वो यूयमिमं मे अगदंकृत ॥
ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥ १ ॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे ।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥
अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥
यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ २ ॥

अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥
उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते ।
धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ॥
इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयं स्थ निष्कृतीः ।
सीराः पतत्रिणी स्थन यदामयति निष्कृथ ॥ ३ ॥

अतिविश्वाः परिष्ठास्तेन इव व्रजमक्रमुः ।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किञ्च तन्वो रपः ॥
यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥
यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥
साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना ।

साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥
अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत ।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥
याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ।
बृहस्पति प्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वं हसः ॥ ५ ॥ (७५-८६)

अथ द्वादश मन्त्राणां कुत्रापि कर्मणि विनियोगो नास्ति ।

(अनारभ्याधीतमन्त्राः बन्धुदृष्टा द्वादश)

मुञ्चन्तु मा शपथ्या दथो वरुण्याद्युत ।
अथोयमस्य पड्वीशात्सर्वस्मादेव किल्बिषात् ॥ १ ॥
अवपतन्तीरवदन्दिव ओषधयस्परि ।
यं जीवमश्नवामहै न सरिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥
या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामायशं हृदे ॥ ३ ॥
या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु ।
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सन्दत्त वीर्य्यम् ॥ ४ ॥
याश्चेदमुपश्रृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सन्दत्त वीर्य्यम ॥ ५ ॥

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।
द्विपदाच्चतुष्पादस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ ६ ॥
ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥
नाशयित्री बलाशस्यार्श स उपचितामसि ।
अथोशतस्य यक्ष्माणं पाकारोरसि नाशनी ॥ ८ ॥
त्वां गन्धर्वा अखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः ।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥ ९ ॥
सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वं पाप्मानं सहमानास्योषधे ॥ १० ॥
दीर्घायु स्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।
अथोत्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥ ११ ॥
त्वमुत्तमास्त्वोषधे तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ२॥ अभिदासति ॥ १२ ॥ (९०-१०१)

अथ लोगेष्टकोपधानम् ।

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानट् ।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥
अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह ।
वपान्ते अग्निरिषितो अरोहत् ॥ २ ॥

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत् पूतं यच्च यज्ञियम् ।
तद्देवेभ्यो भरामसि ॥ ३ ॥
इष मूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥४॥ (१०२-१०५)

अथोत्तरवेदो सिकमा निवापः ।



अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥ १ ॥
पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसि उभे ॥ २ ॥
ऊर्जोनपाज्जातवेदः सुशस्तिर्भिमन्दस्वधातिभिर्हितः ।
त्वे इषः सन्दधूर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयोवामजाताः ॥ ३ ॥
इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥ ४ ॥
इष्कर्त्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं एधसोमहः ।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम् ॥ ५ ॥
ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरोजनाः ।
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥ ६ ॥ (१०६-१११)

अथ सिकतालम्भनमाप्यानवतीभ्यां द्वाभ्याम् ।



(तिसृभिः शाखान्तरे)



आप्यायस्व समे तु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् ।
भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ १ ॥ (११२)
सं ते पयांसि समुयन्तु वाजाः संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिविश्रवां स्युत्तमानिधिष्व ॥ २ ॥
आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरं शुभिः ।
भवानः सप्रथस्तमः सखा वृधे ॥ ३ ॥ (११३-११४)

अथाश्वतिष्ठत्यग्निभ्यः प्रह्रियमाणेभ्यः कामवत्यनुवचनम् ।



आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामया गिरा ॥ १ ॥ (११५)
तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक् ।
अग्ने कामाय ये मिरे ॥ २ ॥ (११६)
अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको विराजति ॥ ३ ॥ (११७)

अथात्मन्यग्नि ग्रहणम् ।



मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याय ।
मासु देवताः सचन्ताम् ॥ १ ॥ (१३ अ० १)

अथ पुष्करपर्णोपधानम् ।



अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महाँ२ ॥ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥१॥ (२)

अथ रुक्मोपधानम् ।



ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥ १ ॥ (३)

अथ पुरुषोपधानं द्वाभ्याम् ।



हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

द्रप्सश्च स्कन्द पृथिवीमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २ ॥ (४–५)

अथ सर्पनामैर्हिरण्यपुरुषोपस्थानम् ।



नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ १ ॥
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीरनु ।
ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ २ ॥
ये वामी रोचने दिवो येवा सूर्य्यस्य रश्मिषु ।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ३ ॥ (६-८)

अथ पुरुषे परिसर्पणहोमः ।



कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन ।
तृष्वी मनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ १ ॥
तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनु स्पृश घृषता शोशुचानः ।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दितो विसृज विष्व गुल्काः ॥ २ ॥ (९–१०)
प्रतिस्पशो विसृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः ।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने मा किष्टे व्यथिरा दधर्षीत् ॥ ३ ॥

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्वन्यमित्रां ओषतात्तिग्महेते ।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम् ॥४॥(११-१२)
ऊर्ध्वो भव प्रतिविध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने ।
अवस्थिरा तनुहि यातु जूनां जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रून् ॥ ५ ॥

अथ दक्षिणोत्तरयोः स्रुचोरुपधाने ।



अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि ॥ १ ॥
अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ २ ॥
इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥ १ ॥
भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धनां दधिषे स्वर्षां जिव्हामग्ने चक्रिषे हव्यवाहवम् ॥२॥ (१३-१५)

अथ स्वयमातृण्णोपधानम् ।



ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा ।
सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृंह ॥ १ ॥
प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन् ।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्युसि ॥ २ ॥

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः ॥ ३ ॥ (१६-१८)
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषाशन्तमेन ॥ ४ ॥
तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीद ॥ ५ ॥ (१९)

अथ दूर्वेष्टकोपधानम् ।



काण्डात्काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि ।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥ १ ॥
या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि ।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥ (२०-२१)

अथ द्वियजुरिष्टकोपधानम् ।



यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ १ ॥
या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभीरुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ २ ॥ (२२-२३)

अथ रेतःसिचोरुपधानम् ।



विराड्ज्योतिरधारयत् ॥ १ ॥
स्वराड्ज्योतिरधारयत् ॥ २ ॥

अथ विश्वज्योतिरिष्टकोपधानम् ।



प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ॥ १ ॥
अग्निष्टेऽधिपतिः तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवासीद ॥ २ ॥ (२४)

अथ ऋतव्योपधानम् ।



मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेताम् ।
द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः।१
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे वासन्तिकावृतू ।
अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु ॥ २ ॥
तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ (२५)

अथाषाढेष्टकोपधानम् ।



आषाढासि सहमाना सहस्वारातीः सहस्वपृतनायतः ।
सहस्रवीर्य्यासि सा माजिन्व ॥ १ ॥ (२६)

अथ दधिमधुघृतैः कूर्माभ्यञ्जनम् ।



मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २ ॥
माधुमान् नो वनस्पतिर्मधुमाँ २॥ अस्तु सूर्य्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ ३ ॥ (२७-२६)

अथ कूर्मोपधानम् ।



अपां गम्भन् सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्ष्यस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥ १ ॥
त्रीन् समुद्रान् समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम् ।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परे ताः ॥ २ ॥

महो द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।
पिपृतां नो भरी मभिः ॥ ३ ॥ (३०–३२)

अथोलूखलमुसलोपधानम् ।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

अथोखोपधानं द्वाभ्याम् ।

ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधिजातवेदाः ।
स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ १ ॥
इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऊर्जे अपत्याय ।
सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥ २ ॥

अथोखायामाहुतिद्वयम् ।

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः । अरं वहन्ति मन्यवे ॥ १ ॥
यक्ष्वाहि देवहूतमाँ२ऽ॥ अश्वां अग्नेरथीरिव निहोता पूर्व्यः सदः ॥ २ ॥

अथ पञ्चपशुमुखनासाक्षिश्रोत्रेषु हिरण्यप्रक्षेपः ।



सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्मयो वेतसो मध्ये अग्नेः ॥ १ ॥
ऋचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा ।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥ २ ॥
अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान् ॥ ३ ॥

अथोपधानाय शीर्षोद्ग्रहणम् ।



सहस्रदाऽअसि सहस्रायत्वा ॥ १ ॥

अथ पञ्चपशुशीर्षोपधानम् ।



आदित्यं गर्भं पयसा समङ्‌धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।
परिवृङ्‌धि हरसा माभिमं स्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥ १ ॥
वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये ।
शिशुं नदीनां हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिंसीः परमेव्योमन् ॥ २ ॥
अजस्रमिन्दु मरुषं भुरण्य, मग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां माहिंसीरदितिं विराजम् ॥ ३ ॥

वरुत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्मात् ।
महीं सहस्रीमसुरस्य मायामग्ने माहिंसीः परमे व्योमन् ॥ ४ ॥
यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात् पृथिव्या उत वा दिवस्परि ।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥ ५ ॥ (४५)

अथ पुरुषशीर्षाभिहोमद्वयम् ।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥ १ ॥
आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥२॥ (१३।४६)

अथ शुगुत्सर्गैः पशुशीर्षोपस्थानानि ।

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः ।
मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ॥
मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ १ ॥ (१३।४७)
इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु ।
गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ॥
गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ २ ॥ (१३।४८)
इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये ।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने माहिंसीः परमे व्योमन् ॥
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ३ ॥ (१३।४९)

इम मूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् ।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥
उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४ ॥ (१३।५०)
अजो ह्यग्ने रजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनिता रमग्रे ।
तेन देवा देवतामग्र मायँ स्तेनरोहमायन्नुप मेध्यासः ॥
शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ॥
शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ५ ॥ (१३।५१)

अथ चित्याग्न्युपस्थानम् ।



त्वं यविष्ट दाशुषो नॄन्पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुतत्मना ॥ १ ॥ (१३।५२)

अथ पञ्चदशापस्या–पञ्चछन्दस्येष्टकोपधानानि ।



अपां त्वेमन् सादयामि ॥ १ ॥ अपां त्वोद्मन् सादयामि ॥ २ ॥
अपां त्वा भस्मन् सादयामि ॥ ३ ॥ अपां त्वा ज्योतिषि सादयामि ॥ ४ ॥
अपां त्वायने सादयामि ॥ ५ ॥ अर्णवे त्वा सदने सादयामि ॥ ६ ॥
समुद्रे त्वा सदने सादयामि ॥ ७ ॥ सरिरे त्वा सदने सादयामि ॥ ८ ॥
अपां त्वा क्षये सादयामि ॥ ९ ॥ अपां त्वा सधिषि सादयामि ॥ १० ॥

अपां त्वा सदने सादयामि ॥ ११ ॥ अपां त्वा सधस्थे सादयामि ॥ १२ ॥
अपां त्वा योनौ सादयामि ॥ १३ ॥ अपां त्वा पुरीषे सादयामि ॥ १४ ॥
अपां त्वा पाथसि सादयामि ॥ १५ ॥

गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि ॥१॥ त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥२॥
जागतेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥३॥ आनुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥४॥
पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥ ५ ॥ (१३।५३)

अथ पञ्चाशत् प्राणभृदुपधानानि ।

अयं पुरो भुवः ॥ १ ॥ तस्य प्राणो भौवायनः ॥ २ ॥
वसन्तः प्राणायनः ॥ ३ ॥ गायत्री वासन्ती ॥ ४ ॥
गायत्र्यै गायत्रम् ॥ ५ ॥ गायत्र्यादुपांशुः ॥ ६ ॥
उपांशोस्त्रिवृत ॥७॥ त्रिवृतो रथन्तरम् ॥८॥ वसिष्ठऋषिः ॥९॥
प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ १० ॥ (१३।५४)

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा ॥ १ ॥ तस्य मनो वैश्वकर्मणम् ॥ २ ॥
ग्रीष्मो मानसः ॥ ३ ॥ त्रिष्टुब् ग्रैष्मी ॥ ४ ॥
त्रिष्टुभः स्वारम् ॥ ५ ॥ स्वारादन्तर्यामः ॥ ६ ॥
अन्तर्यामात् पञ्चदशः ॥७॥ पञ्चदशाद्बृहत् ॥८॥ भरद्वाज ऋषिः ॥९॥
प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ १० ॥ (१३।५५)

अयं पश्चाद्व विश्वव्यचाः ॥ १ ॥ तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसम् ॥ २ ॥
वर्षाश्चाक्षुष्यः ॥३॥ जगती वार्षी ॥४॥ जगत्या ऋक्समम् ॥ ५ ॥
ऋक्समाच्छुक्रः ॥ ६ ॥ शुक्रात्सप्तदशः ॥ ७ ॥
सप्तदशाद्वैरूपम् ॥ ८ ॥ जमदग्निर्ऋषिः ॥ ९ ॥
प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ १० ॥ (१३।५६)

इदमुत्तरात् स्वः ॥१॥ तस्य श्रोत्रं सौवम् ॥२॥ शरच्छ्रौत्री ॥३॥
अनुष्टुप् शारदी ॥ ४ ॥ अनुष्टुभ ऐडम् ॥ ५ ॥
ऐडान्मन्थी ॥ ६ ॥ मन्थिनः एकविंशः ॥ ७ ॥
एकविंशाद्वैराजम् ॥ ८ ॥ विश्वामित्रऋषिः ॥ ९ ॥
प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥१०॥ (१३।५७)

इयमुपरि मतिः ॥१॥ तस्यै वाङ्मात्या ॥२॥ हेमन्तो वाच्यः ॥३॥
पंक्तिर्हैमन्ती ॥ ४ ॥ पङ्क्त्यै निधनवत् ॥ ५ ॥
निधनवत् आग्रयणः ॥६॥ आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ ॥७॥
त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां शाकररैवते ॥८॥ विश्वकर्म ऋषिः ॥९॥
प्रजापति गृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥१०॥ (१३।५८)

इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ लोकम्पृणोपधानम् ।



लोकम्पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नीत्वा बृहस्पतिरस्मि न्योनावसीषदन् ॥ १ ॥ (१५।५९)



अथ सूददोहसाधिवदनम् ।



ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ १ ॥ (१५।६०)

अथ पुरीषनिवापः ।



इन्द्रं विश्वा अवीवृधत् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिम्पतिम् ॥ १ ॥ (१५।६१)

॥ इति प्रथमाचितिः ॥ १ ॥



॥ अथ चतुर्थीचितिः ॥ ४ ॥

अथाष्टादशस्तोमोपधानानि ।

आशुस्त्रिवृत् १ भान्तः पञ्चदशः २ व्योमा सप्तदशः ३
धरुण एकविंशः ४ प्रतूर्त्तिरष्टादशः ५ तपो नवदशः ६
अभीवर्तः सविंशः ७ वर्चो द्वाविंशः ८ सम्भरणस्त्रयोविंशः ६
योनिश्चतुर्विंशः १० गर्भा पञ्चविंशः ११ ओजस्त्रिणवः १२
क्रतुरेकत्रिंशः १३ प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशः १४
व्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंशः १५ नाकः षट्त्रिंशः १६
विवर्तोऽष्टाचत्वारिंशः १७ धर्त्रं चतुष्टोमः १८ ॥१॥ (१४।२३)

अथ दशस्पृदिष्टकोपधानम् ।

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया आधिपत्यं ब्रह्मस्पृतं त्रिवृत्स्तोमः ॥ १ ॥
इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं पञ्चदशस्तोमः ॥ २ ॥
नृचक्षसां भागोऽसि धातुः आधिपत्यं जनित्रं स्पृतं सप्तदशस्तोमः ॥ ३ ॥
मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृतं एकविंशस्तोमः ॥ ४ ॥
(१४।२४)

वसूनां भागोऽसि रुद्राणां आधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विंशः स्तोमः ।।५।।
आदित्यानां भागोऽसि मरुतां आधिपत्यं गर्भा स्पृताः पञ्चविंशः स्तोमः ।।६।।
आदित्यै भागोऽसि पूष्ण आधिपत्यं ओज स्पृतं त्रिणव स्तोमः ।। ७ ।।
देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेः आधिपत्यं समीचीर्दिश स्पृता श्चतुष्टोम स्तोमः ।।८।।
(१४।२५)

यवानांभागोऽस्य यवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृता चतुश्चत्वारिंशः स्तोमः ।। ९ ।।
ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतं स्पृतं त्रयस्त्रिंशस्तोमः।। १०।।२।।
(१४।२६)

अथ ऋतव्योपधानम् ।

सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां
द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे हैमन्तिकावृतू अभिकल्पमाना
इन्द्रमिव देवाअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवेसीदतम् ।।१।। (१४।२७)

अथ सप्तदशो सृष्ट्युपधानम् ।

एकया स्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् ।
तिसृभिरस्तुवत ब्रह्म असृज्यन्त ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् ।

पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानांपति रधिपतिरासीत् ।
सप्तभिरस्तुवत सप्तऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥ १ ॥ (१४।२८)
नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् ।
एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवा अधिपतय आसन् ।
त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् ।
पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्र मसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् ।
सप्तदशभिस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥२॥(१४।२९)
नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् ।
एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् ।
त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।
पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत् ।
सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या ।
अनुव्यायँस्त एवाधिपतय आसन् ॥ ३ ॥ (१४।३०)
नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।
एकत्रिंशतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् ।
त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् । (१४।३१)

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अथ लोकम्पृणोपधानम् ।



लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ १ ॥

अथ सूददोहसाधिवदनम् ।



ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः ॥ १ ॥ (१५।६०)

अथ पुरीषनिवापः ।



इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ (१५।६१)

॥ इति चतुर्थीचितिः ॥ ४ ॥

॥ अथ पञ्चमी चितिः ॥ ५ ॥



अथ पञ्चासपत्नेष्टकोपधानानि ।



अग्ने जातान् प्रणु दानः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः ।
अधि नो ब्रूहि सुमना अहेडँ स्तव स्याम शर्म स्त्रि वरूथ उद्भौ ॥१॥(१५।१)
सहसा जातान् प्रणुदानः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयंस्याम प्रणुदानः सपत्नान् ॥ २ ॥ (१५।२)
षोडसी स्तोम ओजो द्रविणम् ॥ ३ ॥
चतुश्चत्वारिंशस्तोमो वर्चो द्रविणम् ॥ ४ ॥
अग्नेः पुरीषमस्यप्सो नाम ॥ ५ ॥
तान् त्वा विश्वे अभिगृणन्तु देवाः ।
स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजा वदस्मे द्रविणायजस्व ॥ (१५।३)

अथ ४० चत्वारिंशद्विराडिष्टकोपधानानि ॥ छन्दस्याः ॥



एवश्छन्दः । वरिवश्छन्दः । शम्भूश्छन्दः । परिभूश्छन्दः । आच्छच्छन्दः ।
मनश्छन्दः । व्यचश्छन्दः । सिन्धुश्छन्दः । समुद्रश्छन्दः । सरिरं छन्दः ।१।
ककुप् छन्दः त्रिककुप् छन्दः । काव्यं छन्दः । अङ्कुपं छन्दः ।

अक्षरपङ्क्तिश्छन्दः । पदपङ्क्तिश्छन्दः । विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः ।
क्षुरोश्छन्दः । भ्रजश्छन्दः । (१५।४)
आच्छच्छन्दः । प्रच्छच्छन्दः । २ ।
संयच्छन्दः । वियच्छन्दः । बृहच्छन्दः । रथन्तरं छन्दः । निकायश्छन्दः ।
विवधश्छन्दः । गिरश्छन्दः । भ्रजश्छन्दः । संस्तुप् छन्दः । अनुष्टुप् छन्दः ।३।
एवश्छन्दः । वरिवश्छन्दः । वयश्छन्दः । वयस्कृच्छन्दः । विस्पर्द्धाश्छन्दः ।
विशालं छन्दः । छदिश्छन्दः । दूरोहणं छन्दः । तन्द्रं छन्दः । अङ्काङ्कं छन्दः ॥
(१५।५)

अथैकान्नत्रिंशस्तोमभागोपधानानि ।



रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व १ । प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्व २ ।
अन्वित्या दिवा दिवं जिन्व ३ । सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व ४ ।
प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व ५ । विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व ६ ।
प्रवयाह्नाहर्जिन्व ७ । अनुया रात्र्या रात्रीं जिन्व ८ ।
उशिजा वसुभ्यो वसुन् जिन्व ९ । प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्यान् जिन्व १०।(१५।६)
तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व ११ । संसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्व १२।
ऐडेनौषधीभिरोषधी जिन्व १३ । उत्तमेन तनूभिस्तनू जिन्व १४ ।
वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्व १५ । अभिजिता तेजसा तेजो जिन्व १६।(१५।७)
प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वा १७ । अनुपदस्यनुपदे त्वा १८ ।
सम्पदसि सम्पदे त्वा १९ । तेजोऽसि तेजसे त्वा २० । (१५।८)
त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा २१ । प्रवृदसि प्रवृते त्वा २२ ।

विवृदसि विवृते त्वा २३। सवृदसि सवृते त्वा २४।
आक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा २५। संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वा २६।
उत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वा २७। उत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वा २८।
अधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व २९॥ (१५।९)

अथ पञ्चनाकसदिष्टकोपधानानि।



राज्ञ्यसि प्राचीदिग्वसवस्ते देवा अधिपतयोऽग्निर्हेतीनां
प्रतिधर्त्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु।
आज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु। रथन्तरं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षे।
ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु।
विधर्त्ता चायमधिपतिश्च।
ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु॥१॥(१५।१०)
विराडसि दक्षिणादिग् रुद्रास्ते देवा अधिपतयः।
इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता। पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु।
प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु। बृहत्साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षे।
ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु।
विधर्त्ता चायमधिपतिश्च।
ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु॥(१५।११)
सम्राडसि प्रतीची दिग्। आदित्यास्ते देवा अधिपतयो।
वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता। सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु।
मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु। वैरूपं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षे।

ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु ।
विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ।
ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥३॥(१५।१२

स्वराडस्युदीची दिङ् । मरुतस्ते देवा अधिपतयः ।
सोमो हेतीनां प्रतिधर्त्ता । एकविंशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु ।
निष्केवल्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु । वैराजं साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षे ।
ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु । विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ।
ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु॥४॥(१५।१३)

अधिपत्न्यसि बृहती दिग् । विश्वे ते देवा अधिपतयो ।
बृहस्पतीर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता । त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्यां श्रयतां ।
वैश्वदेवाग्नि मारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीतां ।
शाक्कर रैवते साममी प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षे ।
ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु ॥
विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ।
ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु॥५॥(१५।१४)

(५)	नाकसदः	दिक्	अधिपति देवाः	हेतिप्रति-धर्त्ता	पृथ्व्याश्रायतुस्तोमः अव्यथा		स्तम्भनमुक्थम्	अन्तरिक्षप्रति-ष्ठायैस्तोमः	देवेषु प्रथनाः
१	राज्ञी	प्राची	वसवः	इन्द्रः	त्रिवृत्	६	आज्यम्	रथन्तरम्	ऋषयः
२	विराट्	दक्षिणा	रुद्राः	इन्द्रः	पञ्चदशः	१५	प्रउगम्	बृहत्	ऋषयः
३	संम्राट्	प्रतीची	आदित्याः	वरुणः	सप्तदशः	१७	मरुत्वतीयम्	वैरूपम्	ऋषयः
४	स्वराट्	उदीची	मरुतः	सोमः	एकविंशः	२१	निष्केवल्यम्	वैराजम्	ऋषयः
५	अधिपत्नी	बृहती	विश्वेदेवाः	बृहस्पतिः	त्रिणव-त्रयस्त्रिंशौ	२७।३३	वैश्वदेवाग्नि मारुते	शाक्वररैवते	ऋषयः

अथ पञ्च पञ्च चूडेष्टकोपधानानि ।



अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानी ग्रामण्यौ ॥
पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ ।
दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो
नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो
यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १ ॥ (१५।१५)

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानी ग्रामण्यौ ॥
मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि
प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ २ ॥ (१५।१६)

अयं पश्चाद्विश्वव्यचा स्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानी ग्रामण्यौ ॥
प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ ।
व्याघ्राहेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु
ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥ (१५।१७)

अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानी ग्रामण्यौ ॥
विश्वाची च घृताची चाप्सरसा वापो हेतिर्वातः
प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु
ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥ (१५।१८)

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानी ग्रामण्यौ ॥
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसा, नवस्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्
प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु

ते यं द्विष्मो नश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥ (१५।१९)

(५)	सूर्य्यरश्मिः	दिक्	सेनानीः	ग्रामणीः	अप्सराः	अप्सराः	हेतिः	प्रहेतिः
१	हरिकेशः	पुरः	रथगृत्स	रथौजाः	पुञ्जिकस्थला	क्रतुस्थला	दंदणुपशवः	पौरुषेयवधः
२	विश्वकर्मा	दक्षिणा	रथस्वनः	रथेचित्रः	मेनका	सहजन्या	यातुधानाः	रक्षांसि
३	विश्वव्यचाः	पश्चात्	रथप्रोतः	असमरथः	प्रम्लोचन्ती	अनुम्लोचन्ती	व्याघ्राः	सर्पाः
४	संयद्वसुः	उत्तरात्	तार्क्ष्यः	अरिष्टनेमिः	विश्वाची	घृताची	आपः	वातः
५	अर्वाग्वसुः	उपरि	सेनजित्	सुषेणः	उर्वशी	पूर्वचितिः	अवस्फूर्जन्	विद्युत्

अथैकत्रिंशच्छन्दस्येष्टकोपधानानि ।



अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ १ ॥ (१५।२०)
अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः ।
मूर्धा कवी रयीणाम् ॥ २ ॥ (१५।२१)
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ३ ॥ (१५।२२)
भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ ४ ॥ (१५।२३)
अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रतिधेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्रवयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ ५ ॥ (१५।२४)

अवो चाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे ।
गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरु व्यञ्चमश्रेत् ॥ ६ ॥ (१५।२५)
अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे-विशे ॥ ७ ॥ (१५।२६)
जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे ।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः ॥ ८ ॥ (१५।२७)
त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्व विन्दञ्छिश्रियाणं वने-वने ।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत्त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥ ९ ॥ (१५।२८)
सखायः सं वः सम्यञ्चमिषं स्तोमं चाग्नये ।
वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नप्त्रे सहस्वते ॥ १० ॥ (१५।२९)
सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर ॥ ११ ॥ (१५।३०)
त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः ।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ॥ १२ ॥ (१५।३१)
एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ १३ ॥ (१५।३२)
विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम् ।
स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ॥१४॥ (१५।३३)
स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः ।
सु ब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ॥१५॥ (१५।३४)
अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।
अस्मेधेहि जातवेदो महिश्रवः ॥ १६ ॥ (१५।३५)
स इधानो वसुष्कविरग्निरीडेन्यो गिरा ।
रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ १७ ॥ (१५।३६)

क्षयो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तो रुतोषसः ।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ १८ ॥ (१५।३७)
भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः ।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ १६ ॥ (१५।३८)
भद्रा उत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये ।
येना समत्सु साहसः ॥ २० ॥ (१५।३६)
येना समत्सु सासहोऽवस्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम् ।
वनेमा ते अभिष्टिभिः ॥ २१ ॥ (१५।४०)
अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥२२॥ (१५।४१)
सो अग्निर्यो वसु गृणेसं यमायन्ति धेनवः ।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं स्तोतृभ्य आभर ॥२३॥ (१५।४२)
उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि ।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥२४॥ (१५।४३)
अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ओहैः ॥ २५ ॥ (१५।४४)
अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षसे साधोः ।
रथी ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ २६ ॥ (१५।४५)
एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥ २७ ॥ (१५।४६)
अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि शोचिषा जुह्वानस्य सर्पिषः ॥ २८ ॥ (१५।४७)

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छानक्षि द्युमत्तमं रयिंदाः ।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमी महे सखिभ्यः ॥ ३१ ॥ (१५।४८)

अथ गार्हपत्योपरि पुनश्चित्युपधानानि ।



येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निं स्वरा भरन्तः ।
तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निं यमाहुर्मनवस्तीर्णबर्हिषम् ॥ १ ॥ (१५।४९)

तं पत्नी भिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः ।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधिरोचने दिवः ॥२॥ (१५।५०)

आ वाचो मध्यमरुहद्भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः ।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥३॥ (१५।५१)

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन् ।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्य उप प्रयाहि दिव्यानि धाम ॥४॥ (१५।५२)

सम्प्रच्यवध्वमुप सम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम् ।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वातां सीत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥ ५ ॥ (१५।५३)

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयञ्च ।
अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥६॥ (१५।५४)

येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्व वेदसम् ।
तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ७ ॥ (१५।५५)

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥८॥ (१५।५६)

अथ ऋतव्योपधानम्।



तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू अग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी,
कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः।
ये अग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे शैशिरावृतू अभिकल्पमाना,
इन्द्रमिव देवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥१॥ (१५।५७)

अथ विश्वज्योतिरिष्टकोपधानम्।



परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायेविश्वं ज्योतिर्यच्छ।
सूर्य्यस्तेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीद ॥ १ ॥ (१५।५८)

अथ लोकम्पृणोपधानम्।



लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवात्वम्।

इन्द्राग्नीत्वा बृहस्पति रस्मिन् योनावसीषदन् ॥ १ ॥ (१५।५९)

अथ सूददोहसाधिवदनम् ।



ता अस्य सूददोहसः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन् देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ १ ॥ (१५।६०)

अथ पुरीषनिवापः ।



इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसंगिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ १० (१५।६१)

अथ विकर्णीस्वयमातृणयोरुपधाने ।



प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थाद् ।
आदस्य वातो अनुवाति शोचिरधस्मतेव्रजनं कृष्णमस्ति ॥१॥ (१५।६२)
आयोष्ट्वा सदने सदयाम्यवतश्छायायां समुद्रस्य हृदये ।
रश्मीवतीं भास्वतीमा याद्यां भास्या पृथिवी मोर्वन्तरिक्षम् ॥२॥ (१५।६३)
परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं ।

दिवं यच्छ दिवं दृंह माहिंसीः ॥
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ।
सूर्यस्त्वाभि पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया-
देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥ ३ ॥ (१५।६४)

अथ हिरण्यशकलैरग्निप्रोक्षणम् ।



सहस्रस्य प्रमासि । सहस्रस्य प्रतिमासि । सहस्रस्योन्मासि ।
साहस्रोऽसि । सहस्राय त्वा ॥ १ ॥ (१५।६५)

॥ इति पञ्चमीचितिः ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चदशाऽध्यायः समाप्तः ॥

(अथ संहितायां षोडशोऽध्यायः १६)



अथ जर्त्तिलैरर्कपत्रेण शतरुद्रियहोमः ।



(पुरस्तादुद्धार जपः १४)



* नमस्ते रुद्रमन्यवं उतो त इषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १६ । १ ॥
या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तयानस्तन्वा शन्त मया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ १६ । २ ॥
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवाङ्गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ १६ । ३ ॥

---

* रुद्राध्याये होमसाधनं मन्त्रविभागं विधत्ते तैत्तरीयश्रुतिः—"त्रेधा विभक्तं जुहोति । त्रय इमे लोकाः । इमानेव लोकान् समावद्वीर्य्यान् करोति"—(तै० सं० कां० ५ । प्र० ४ । अ० ३) तत्र त्रेधा विभाग एवं करणीयः ——
नमस्ते रुद्रेत्यारभ्य, सभापतिभ्यश्च वो नम इत्यन्तः प्रथमोभागः ॥ १ ॥
नमो अश्वेभ्य इत्यारभ्या वार्य्याय चेत्यन्तो द्वितीयो भागः ॥ २ ॥
नमः प्रतरणाय चेत्यारभ्य, य एतावन्तश्चेत्यृचा सहितस्तृतीयोभागः ॥ ३ ॥
इति सायण भाष्यम् ॥ नात्र युक्तिः कांचिदुपयादिता भाष्यकारेण ॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।
यथानः सर्व मिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ॥ १६ । ४ ॥
अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहींश्च सर्वान् जंम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ॥१६।५॥
असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः ।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षुश्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेडईमहे ॥१६।६॥
असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ।
उतैनं गोपा अदृश्रन्नुदहार्य सदृष्टोमृडयाति नः ॥ १६ । ७ ॥
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ॥ १६ । ८ ॥
प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः पराता भगवो वप ॥ १६ । ९ ॥
विज्यन्धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२॥ उत ।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥ १६ । १० ॥
या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ।
तयास्मान् विश्वतस्त्व मयक्ष्मया परि भुज ॥ १६ । ११ ॥
परि ते धन्वनो हेतिरस्मान् वृणक्तु विश्वतः ।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम् ॥ १६ । १२ ॥
अवतत्य धनुष्ट्वं सहस्राक्ष शतेषुधे ।
निशीर्य्य शल्यानां मुखा शिवोनः सुमना भव ॥ १६ । १३ ॥
नमस्ते आयुधायानातताय धृष्णवे ।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥ १६ । १४ ॥

मा नो महान्त मुत मा नो अर्भकं मान उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥१६।१५॥

मानस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ॥१६।१६॥

अथोभयतो नमस्काराः (द्वन्द्विनः)



नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो ॥ १ ॥
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो ॥ २ ॥
नमः शष्पिञ्जराय त्विषी मते पथीनां पतये नमो ॥ ३ ॥
नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥ ४ ॥ (१६।१७)
नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो ॥ ५ ॥
नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमो ॥ ६ ॥
नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो ॥ ७ ॥
नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥ ८ ॥ (१६।१८)
नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो ॥ ९ ॥
नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो ॥ १० ॥
नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो ॥ ११ ॥
नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥ १२ ॥ (१६।१९)
नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये नमो ॥ १३ ॥
नमः सहमानाय निव्याधिन आव्याधिनीनां पतये नमो ॥ १४ ॥

नमो निखङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो ॥ १५ ॥
नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः ॥ १६ ॥ (१६।२०)

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो ॥ १७ ॥
नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो ॥ १८ ॥
नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो ॥ १९ ॥
नमोऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमो ॥ २० ॥ (१६।२१)

नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो ॥ २१ ॥
नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो ॥ २२ ॥
नम आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो ॥ २३ ॥
नम आयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥ २४ ॥ (१६।२२)

नमो विसृजद्भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमो ॥ २५ ॥
स्वापद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो ॥ २६ ॥
नमः शयानेभ्य आसीनेभ्यश्च वो नमो ॥ २७ ॥
नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः ॥ २८ ॥ (१६।२३)

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमो ॥ २९ ॥ (प्रथमोभागः)

---

१६ ऋचः पुरस्तादुद्धारः	७ ऋचः उपरिष्टादुद्धारः
४० यजूंषि	१० ,,
५ ,,	३ यजूंषि
४० ,,	
४० ,,	
४ ,,	

नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो ॥ ३० ॥
नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो ॥ ३१ ॥
नम उगणाभ्यस्तृंहतीभ्यश्च वो नमः ॥ ३२ ॥ (१६।२४)
नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो ॥ ३३ ॥
नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो ॥ ३४ ॥
नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो ॥ ३५ ॥
नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः ॥ ३६ ॥ (१६।२५)
नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो ॥ ३७ ॥
नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च वो नमो ॥ ३८ ॥
नमः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो ॥ ३९ ॥
नमो महद्भ्यो अर्भकेभ्यश्च वो नमः ॥ ४० ॥ (१६।२६)

नम स्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो ॥ १ ॥
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो ॥ २ ॥
नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो ॥ ३ ॥
नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ ४ ॥ (१६।२७)
नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमः ॥ ५ ॥

॥ इत्युभयतो नमस्काराः ॥

अथान्यतरतो नमस्काराः ।



नमो भवाय च रुद्राय च ॥ ६ ॥ नमः शर्वाय च पशुपतये च ॥ ७ ॥
नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥ ८ ॥ (१६।२८)

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च ॥ ९ ॥ नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च ॥१०॥
नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च ॥११॥ नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च ॥१२॥
(१६।२९)

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च ॥१३॥ नमो बृहते च वर्षीयसे च ॥ १४ ॥
नमो वृद्धाय च सवृधे च ॥ १५ ॥ नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ॥१६॥ (१६।३०)

नम आशवे चाजिराय च ॥ १७ ॥ नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च ॥ १८ ॥
नम ऊर्म्याय चावस्वन्याय च ॥ १९ ॥ नमो नादेयाय च द्वीप्याय च ॥ २० ॥
(१६।३१)

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च ॥ २१ ॥ नमः पूर्वजाय चापरजाय च ॥ २२ ॥
नमो मध्यमाय चापगल्भाय च ॥२३॥ नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥ २४ ॥
(१६।३२)

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च ॥२५॥ नमो याम्याय च क्षेम्याय च ॥ २६ ॥
नमः श्लोक्याय चावसान्याय च ॥२७॥ नम उर्वर्याय च खल्याय च ॥ २८ ॥
(१६।३३)

नमो वन्याय च कक्ष्याय च ॥ २९ ॥ नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च ॥ ३० ॥
नम आशुषेणाय चाशुरथाय च ॥ ३१ ॥ नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३२ ॥
(१६।३४)

नमो बिल्मिने च कवचिने च ॥ ३३ ॥ नमो वर्मिणे च वरूथिने च ॥ ३४ ॥
नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च ॥३५॥ नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च ॥३६॥
(१६।३५)

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च ॥ ३७ ॥ नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च ॥ ३८ ॥
नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च ॥ ३९ ॥ नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च ॥ ४० ॥
(१६।३६)

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च ॥ १ ॥ नमः काट्याय च नीप्याय च ॥ २ ॥
नमः कुल्याय च सरस्याय च ॥ ३ ॥ नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥ ४ ॥
(१६।३७)

नमः कूप्याय चावट्याय च ॥ ५ ॥ नमो वीध्र्याय चातप्याय च ॥ ६ ॥
नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च ॥ ७ ॥ नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ८ ॥
(१६।३८)

नमो वात्याय च रेष्म्याय च ॥ ९ ॥ नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च ॥१०॥
नमः सोमाय च रुद्राय च ॥ ११ ॥ नम स्ताम्राय चारुणाय च ॥ १२ ॥
(१६।३९)

नमः शङ्गवे च पशुपतये च ॥ १३ ॥ नम उग्राय च भीमाय च ॥ १४ ॥
नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च ॥ १५ ॥ नमो हन्त्रे च हनीयसे च ॥ १६ ॥
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥ १७ ॥ (१६।४०)

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ॥१८॥ नमः शङ्कराय च मयस्कराय च ॥१९॥
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ २० ॥ (१६।४१)

नमः पार्य्याय चावार्य्याय च ॥ २१ ॥ (द्वितीयोभागः)

नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च ॥ २२ ॥ नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च ॥२३॥
नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥ २४ ॥ (१६।४२)

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च ॥२५॥ नमः किंशिलाय च क्षयणाय च ॥ २६ ॥

नमः कपर्दिने च पुलस्तये च ॥ २७ ॥ नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च ॥ २८ ॥
(१६।४३)

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च ॥ २९ ॥ नमस्तल्प्याय च गेह्याय च ॥ ३० ॥
नमो हृदय्याय निवेष्याय च ॥ ३१ ॥ नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥ ३२ ॥
(१६।४४)

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च ॥३३॥ नमः पांसव्याय च रजस्याय च ॥ ३४ ॥
नमो लोप्याय चोलप्याय च ॥ ३५ ॥ नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च ॥ ३६ ॥
(१६।४५)

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च ॥ ३७ ॥ नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च ॥ ३८ ॥
नम आखिदते च प्रखिदते च॥३९॥नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः ॥४०॥

(नमो हिरण्यबाहवे इत्यारभ्य धनुष्कृद्भ्यश्च वो नम इत्यन्तं २४० यजूंषि)

नमो वः किरिकेभ्यो देवानांहृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो।
विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः ॥ ४ ॥ (१६।४६)

अथोपरिष्टादुद्धारजपः ।

(उत्तरजप ॥ ७ ॥)

द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित ।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ्मो च नः किञ्चनाममत् ॥ १ ॥ (१६।४७)

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः ।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥ २ ॥ (१६।४८)

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ ३ ॥ (१६।४९)

परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परि त्वेषस्य दुर्मतिरघायोः ।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्वमीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड ॥ ४ ॥ (१६।५०)

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव ।
परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिंवसान आचर पिनाकं बिभ्रदागहि ॥५॥ (१६५१)

विकिरिद्र विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः ।
यास्ते सहस्रं हेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ताः ॥ ६ ॥ (१६।५२)

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ७ ॥ (१६।५३)

अथावतानहोमाः ।



असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ १ ॥ (१६।५४)

अस्मिन्महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ २ ॥ (१६।५५)

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवं रुद्रा उपश्रिताः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ३ ॥ (१६।५६)

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाअधः क्षमाचराः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ४ ॥ (१६।५७)
ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५ ॥ (१६।५८)
ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६ ॥ (१६।५९)
ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा आयुयुधः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ७ ॥ (१६।६०)
ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ८ ॥ (१६।६१)
येऽन्नेषुविविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ९ ॥ (१६।६२)
य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ १० ॥ (१६।६३)

(तृतीयो भागः)

अथ प्रत्यवरोह होमाः ।



नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणादश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः ।
तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते ।
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १ ॥ (१६।६४)

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः ।
तेभ्यो दशप्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः ।
तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते ।
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ २ ॥ (१६।६५)

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्न मिषवः ।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः
तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते ।
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥ (१६।६६)

(इति ६६ मन्त्रैः संहितायां षोडशोऽध्यायः)

अथ दक्षिणेनिकक्षेऽश्मोपरि जलकुम्भेन त्रिः परिषेकः ।



अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्यओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽधि सम्भृतं पयः ।
तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः संरराणाः ॥
अश्मँस्ते क्षुत् । मयि त ऊर्क् ॥

अथ दक्षिणश्रोणी बहिर्भागेऽश्मगर्भकुम्भप्रक्षेपः ।



यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ १ ॥ (१७।१)

अथ वेदीमभिमृश्यजपः (२)



इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च,
दश च शतञ्च, शतञ्च सहस्रञ्च, सहस्रञ्चायुतञ्चायुतञ्च ।
नियुतञ्च, नियुतञ्च प्रयुतञ्चार्बु दञ्च न्यर्बु दञ्च,
समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः
सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके ॥ १ ॥ (१७।२)

ऋतवस्थ ऋता वृध ऋतुष्ठाः स्थ ऋतावृधः ।
घृतश्च्युतो मधुश्च्युतो विराजो नाम कामदुघा अक्षीय माणाः ॥२॥ (१७।३)

अथ विकर्षणम् ।



समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परिव्ययामसि ।
पावको अस्मभ्यं शिवोभव ॥ १ ॥ (१७।४)
हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परिव्ययामसि ।
पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥ २ ॥ (१७।५)

उपज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा । अग्ने पित्त मपामसि ।
मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि ॥३॥ (१७।६)
अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
अन्याँ स्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥४॥ (१७।७)
अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।
आ देवान् वक्षि यक्षि च ॥ ५ ॥ (१७।८)
स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ २॥ इहावह ।
उप यज्ञं हविश्च नः ॥ ६ ॥ (१७।९)
पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुच उषसो न भानुना ।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रण आ यो घृणेन ततृषाणो अजरः ॥७॥ (१७।१०)

अथ चित्याग्न्यारोहणम् ।

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे ।
अन्य स्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥१॥ (१७।११)

अथ स्वयमातृणायां पञ्चगृहीताल्पहोमः ।

नृषदे वेट् १, अप्सुषदे वेट् २, बर्हिषदे वेट् ३,
वनसदे वेट् ४, स्वर्विदे वेट् ५ ॥ १ ॥ (१७।१२)

अथाग्निं प्रोक्षति द्वाभ्याम् ।



ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानां संवत्सरीणमुप भागमासते ।
अहुतादो हविषो यज्ञे अस्मिन् स्वयं पिबन्तु मधु नो घृतस्य ॥१॥ (१७।१३)
ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन्ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य ।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु ॥ २ ॥
(१७।१४)

अथ प्रत्यवरोहणम् ।



प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यं शिवो भव ॥१॥ (१७।१५)

अथ शालाद्वार्य्येऽग्नौ पञ्चगृहीताज्यहोमस्तिग्मवत्या ।



अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्यत्रिणम् ।
अग्निर्नो वनते रयिम् ॥ १ ॥ (१७।१६)

अथ शालाद्वार्य्येऽग्नौ षोडशगृहीताज्यस्यद्विर्होमोऽष्टर्चाभ्याम् ।

(वैश्वकर्मणहोम)



य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषि र्होता न्यषीदत् पिता नः ।
स आशिषा द्रविण मिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२ आविवेश ॥१॥ (१७।१७)
किं स्वि दासी दधिष्ठान मारम्भणं कतमत् स्वित् कथा सीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्या मौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥२॥ (१७।१८)
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहु रुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ ३ ॥ (१७।१९)
किं स्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥४॥ (१७।२०)
या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥५॥ (१७।२१)
विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवी मुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना इहा स्माकं मघवासूरिरस्तु ॥ ६ ॥ (१७।२२)
वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनो जुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ ७ ॥ (१७।२३)
विश्वकर्मन् हविषावर्धनेन त्रातार मिन्द्र मकृणो रवध्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वी रय मुग्रो विहव्यो यथासत् ॥ ८ ॥ (१७।२४)

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृत मेने अजनन्नम्न माने ।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ ९ ॥ (१७।२५)

विश्वकर्मा विमना आ द्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषा मिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एक माहुः ॥ १० ॥
(१७।२६)

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥११॥ (१७।२७)

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ १२ ॥ (१७।२८)

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरै र्यदस्ति ।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे ॥१३॥ (१७।२९)

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येक मर्पितं यस्मिन् भुवनानि तस्थुः ॥ १४ ॥ (१७।३०)

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ १५ ॥ (१७।३१)

विश्वकर्मा ह्यजनिष्टदेव आदिद्गन्धर्वो अभवद्द्वितीयः ।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा ॥ १६ ॥ (१७।३२)

अथाहवनीये चित्यांप्रतिनीयमाने दक्षिणतोऽनुगच्छतोब्रह्मणो द्वादशैन्द्रीजपः

(त्रयोदशादीनां चतसृणां विनियोगोनास्ति । सप्तदशेन महाव्रतयागेराज्ञे वर्मदानम्)



आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतंसेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ १ ॥ (१७।३३)

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषु हस्तेन वृष्णा ॥ २ ॥ (१७।३४)
स इषु हस्तैः सनिषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
सं सृष्टजित् सोमपावाहु शर्ध्यु ग्रधन्वा प्रतिहिता भिरस्ता ॥ ३ ॥ (१७।३५)
बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहा मित्राँनपवाधमानः ।
प्रभञ्जन् सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥४॥ (१७।३६)
बलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित् ॥ ५ ॥ (१७।३७)
गोत्रभिदं गोविद वज्रबाहु जयन्तमज्मप्रमृणन्तमोजसा ।
इमं सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु संरभध्वम् ॥ ६ ॥ (१७।३८)
अभिगोत्राणि सहसा गाहमानो ऽदयोवीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकं सेना अवतु प्रयत्सु ॥ ७ ॥ (१७।३९)
इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥८॥ (१७।४०)
इन्द्रस्यवृष्णो वरुणस्यराज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महा मनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥ ९ ॥ (१७।४१)
उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि ।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥१०॥ (१७।४२)
अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्माँ२॥ उदेवा अवता हवेषु ॥ ११ ॥ (१७।४३)
अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परे हि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥१२॥ (१७।४४)
अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
गच्छामित्रान् प्रपद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः ॥ १३ ॥ (१७।४५)

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवो ऽनाधृष्या यथासथ ॥ १४ ॥ (१७४६)
असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसा पव्रतेन यथामी अन्यो अन्यन्न जानन् ॥ १५ ॥ (१७४७)
यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
तन्न इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वा हा शर्म यच्छतु ॥१६॥ (१७४८)
मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानुवस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १७ ॥ (१७४९)

अथ प्रणयनात् प्रागेव शालाद्वार्य्येत्रिः समिदाधानम् ।

उदेन मुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत ।
रायस्पोषेण संसृज प्रजया च वहुं कृधिः ॥ १ ॥ (१७५०)
इन्द्रेमं प्रतरां नय सुजातानामसद्वशी ।
समेनं वर्चसा सृज देवानां भागदा असत् ॥ २ ॥ (१७५१)
यस्य कूर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्धया त्वम् ।
तस्मै देवा अधिब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥ (१७५२)

अथ शालाद्वार्य्यात् प्रदीप्तमिध्ममुद्यच्छति ।

उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः ।

स नो भव शिवस्त्वं सुप्रतीको विभावसुः ॥ १ ॥ (१७५३)

अथ चित्यं प्रतिगच्छतां पथिजपः ।



पञ्चदिशो दैवी यज्ञमवन्तु देवीरपामतिं दुर्मतिं बाधमानाः ।
रायस्पोषे यज्ञपतिमा भजन्ती रायस्पोषे अधि यज्ञो अस्थात् ॥१॥ (१७५४)
समिद्धे अग्नावधि मामहान उक्थपत्र ईड्यो गृभीतः ।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः ॥ २ ॥ (१७५५)
दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः ।
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवादेवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्थुः ॥ ३ ॥ (१७५६)
वीतं हविः शमितं शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति ।
ततो वाका आशिषो नो जुषन्ताम् ॥ ४ ॥ (१७५७)
सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ अजस्रम् ।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान सम्पश्यन विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ ५ ॥
(१७५८)

अथाश्मनः पृश्नेरुपधानं द्वाभ्याम् ।



विमान एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
स विश्वा चीरभिचष्टे घृताची रन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ १ ॥ (१७५९)

उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ २ ॥(१७६०)

अथाश्मानः पृश्निमविक्रम्यगमनम् ।



इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ १ ॥ (१७६१)
देवहूर्यज्ञ आ च वक्षत् सुम्नहूर्यज्ञ आ च वक्षत् ।
यक्षदग्निर्देवो देवाँ२॥ आ च वक्षत् ॥ २ ॥ (१७६२)
वाजस्य मा प्रसव उद्ग्राभेणोदग्रभीत् ।
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२॥ अकः ॥ ३ ॥ (१७६३)
उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा अवीवृधन ।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान् व्यस्यताम् ॥ ४ ॥ (१७६४)

अथ चित्याग्न्यारोहणम् ।



क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यं हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्टं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ १ ॥ (१७६५)
प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्ने रग्ने पुरो अग्नि र्भवेह ।
विश्वा आशादीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥२॥ (१७६६)

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ ३ ॥ (१७।६७)
स्वर्यन्तोनापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतो धारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥ (१७।६८)
अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवाना मुत मर्त्यानाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥५॥ (१७।६९)

अथ स्वयमातृणास्थापितेऽग्नौ श्वेतवत्सायपयोहोमः ।

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापये ते शिशुमेकं समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मो अन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाः ॥१॥(१७।७०)
अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः ।
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ २ ॥ (१७।७१)

अथ स्वयमातृणायामग्निस्थापयति ।

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद ।
भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उद्दृंह ॥१॥(१७।७२)
आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया ।
अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥२॥ (१७।७३)

अथ त्रिःसमिदाधानम् ।



तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां पयसा महीं गाम् ॥ (१७।७४)
विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे ।
यस्माद्योने रुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे ॥ २ ॥ (१७।७५)
प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
त्वां शश्वन्त उपयन्ति वाजाः ॥ ३ ॥ (१७।७६)

अथ स्रौवहोमः—वैश्वकर्मण होमाः ।



अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ओहैः ॥ १ ॥ (१७।७७)
चित्तं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन् वीतिहोत्रा ऋतावृधः ।
पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यं हविः ॥२॥ (१७।७८)

अथ पूर्णाहुति होमः ।



सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धामप्रियाणि ।

सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्तयोनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा ॥१॥(१७७९)

अथ सप्ततिर्मारुतहोमाः । अन्ते मारुत जपश्चैवेतः ।



शुक्रज्योतिश्च १ चित्रज्योतिश्च २ सत्यज्योतिश्च ३ ज्योतिष्माँश्च ४ ।
शुक्रश्च ५ ऋतपाश्चा ६ त्यं हाः ७ ॥ १ ॥ (१७८०)
ईदृङ् १ चान्यादृङ् २ च स दृङ् ३ च प्रति सदृङ् ४ च ।
मितश्च ५ सम्मितश्च ६ सभराः ७ ॥ २ ॥ (१७८१)
ऋतश्च १ सत्यश्च २ ध्रुवश्च ३ धरुणश्च ४ धर्त्ता च ५
विधर्त्ता च ६ विधारयः ॥ ३ ॥ (१७८२)
ऋतजिच्च १ सत्यजिच्च २ सेनजिच्च ३ सुषेणश्च ४
अन्तिमित्रश्च ५ दूरे अमित्रश्च ६ गणः ७ ॥ ४ ॥ (१७८३)
ई दृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः स दृक्षास प्रतिदृक्षास एतन ।
मितासश्च सम्मितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ॥५॥ (१७८४)
स्वतवश्च प्रवासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च ।
क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥ ६ ॥ (१७८५)
उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च ।
सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहाः ॥ ७ ॥
इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनु वर्त्मानोऽभवन्
यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनु वर्त्मानो ऽभवन् ।
एवमिमं यजमानं दैवश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु ॥ (१७८६)

अथ वसोर्धारास्तुति जपः (१३)



इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपी नमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधु मन्तमर्वन् समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥ १ ॥ (१७।८७)
घृतं मिमिक्षे घृतमस्य यो निर्घृ ते श्रिता घृतम्वस्य धाम ।
अनुष्व धमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥२॥ (१७।८८)
समुद्रादूर्मिमधुमाँ २॥ उदार दुपांशुना सममृतत्वमानट् ।
घृतस्य नाम गुह्यं यदास्त जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥३॥ (१७।८९)
वयं नाम प्रब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः ।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुः शृङ्गो ऽवमीद्गौर एतत् ॥४॥ (१७।९०)
चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ २॥ आविवेश ॥५॥ (१७।९१)
त्रिधा हितं पणिभि गुह्यमानं गवि देवासो घृतमिन्ववन्दन् ।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेदादेकं स्वधया निटतक्षुः ॥ ६ ॥ (१७।९२)
एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे ।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥ ७ ॥
(१७,९३)
सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणो रीषमाणाः ॥ ८ ॥ (१७।९४)
सिन्धो रिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः ।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥९॥(१७।९५)
अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥१०॥ (१७।९६)

कन्या इव वहतुमेतवा उ अञ्ज्याञ्जाना अभिचाकशीमि ।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत् पवन्ते ॥११॥ (१७.९७)
अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते ॥१२॥ (१७।९८)
धामन्ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं तऊर्मिम् ॥१३॥ (१७ ९९)

अथ वसोर्धाराहोमोऽष्टानुवाकैः ।

(तत्र १ काम्यहोमो, २ अर्धेन्द्रहोमो, ३ ग्रहहोमो, ४ यज्ञक्रतुहोमः, ५ स्तोमहोमो, ६ वयोहोमो,
७ नामग्रहहोमः, ८ कल्पहोमः इत्यष्टौ होमाः)



वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे
क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे
ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ (१८।१)

प्राणश्च मे ऽपानश्च मे व्यानश्च मे ऽसुश्च मे चित्तञ्च मे
आधीतञ्च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रञ्च मे
दक्षश्च मे बलञ्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ (१८।२)

ओजश्च मे सहश्चमे आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे
वर्म च मेऽङ्गानि च मे ऽस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि
च मे आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ३ ॥ (१८।३)

ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यश्च मे मन्युश्च मे भामश्च मे ऽमश्च मे
ऽम्भश्च मे जे मा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे
वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धश्च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ४ ॥
(१८।४)

सत्यश्च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनश्च मे विश्वश्च मे
महश्च मे क्रीड़ा च मे मोदश्च मे जातश्च मे जनिष्यमाणश्च मे
सूक्तश्च मे सुकृतश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ५ ॥ (१८।५)

ऋतश्च मे ऽमृतश्च मे ऽयक्ष्मश्च मे ऽनामयश्च मे जीवातुश्च मे
दीर्घायुत्वश्च मे ऽनमित्रश्च मे ऽभयश्च मे सुखश्च मे शयनश्च मे
सूषाश्च मे सुदिनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ६ ॥ (१८।६)

यन्ता च मे धर्त्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वश्च मे
महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रश्च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे
सीरश्च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ७ ॥ (१८।७)

शश्च मे मयश्च मे प्रियश्च मे ऽनुकामश्च मे कामश्च मे
सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे
वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ८ ॥ (१८।८)

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतश्च मे
मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे
जैत्रं च म औद्भिद्यश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥ (१८।९)

रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टञ्च मे पुष्टिश्च मे विभु च मे
प्रभु च मे पूर्णञ्च मे पूर्णतरञ्च मे कुयवञ्च मे ऽक्षितञ्च मे
ऽन्नञ्च मे ऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १० ॥ (१८।१०)

वित्तञ्च मे वेद्यञ्च मे भूतञ्च मे भविष्यच्च मे सुगञ्च मे
सुपथ्यञ्च म ऋद्धिश्च म ऋद्धिश्च मे क्लृप्तञ्च मे क्लृप्तिश्च मे
मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥११॥ (१८।११)

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे
खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मे ऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे
नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१२॥ (१८।१२)

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे
सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यञ्च मे ऽयश्च मे श्यामञ्च
मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१३॥ (१८।१३)

अग्निश्च म आपश्च मे वीरुधश्चम ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च
मे ऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे वित्तञ्च मे
वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१४॥ (१८।१४)

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मे ऽर्थश्च म
एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १५ ॥ (१८।१५)

इति काम्यहोमानुवाकः ॥ १ ॥

अथ अर्धेन्द्रहोमो वसोर्धाराहोमः ।



अग्निश्च म इन्द्रश्च मे, सोमश्च म इन्द्रश्च मे, सविता च म इन्द्रश्च मे, सरस्वती च म इन्द्रश्च मे, पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ (१८।१६)

मित्रश्च म इन्द्रश्च मे, वरुश्च म इन्द्रश्च मे, धाता च म इद्रश्च मे, त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे, मरुतश्च म इन्द्रश्च मे, विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ (१८।१७)

पृथिवी च म इन्द्रश्च मे, ऽन्तरिक्षञ्च म इन्द्रश्च मे, द्यौश्च म इन्द्रश्च मे, नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे, दिशश्च म इन्द्रश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ३ ॥ (१८।१८)

इत्यर्धेन्द्रानुवाकः ॥ २ ॥

अथ ग्रहहोमाः ।



अंशुश्च[1] मे, रश्मिश्च[2] मे, ऽदाभ्यश्च[3] मे, ऽधिपतिश्च[4] म, उपांशुश्च[5] मे, ऽन्तर्यामश्च[6] म, ऐन्द्रवायवश्च[7] मे, मैत्रावरुणश्च[8] म,

[९] आश्विनश्च मे, [१०] प्रतिप्रस्थानश्च मे, [११] शुक्रश्च मे, [१२] मन्थी च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ (१८।१९)

[१३] आग्रयणश्च मे, [१४] वैश्वदेवश्च मे, [१५] ध्रुवश्च मे, [१६] वैश्वानरश्च मे, [१७] ऐन्द्राग्नश्च मे, [१८] महावैश्वदेवश्च मे, [१९] मरुत्वतीयाश्च मे, [२०] निष्केवल्यश्च मे, [२१] सावित्रश्च मे, [२२] सारस्वतश्च मे, [२३] पात्नीवतश्च मे, [२४] हारियोजनश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ (१८।२०)

[२५] स्रुचश्च मे, [२६] चमसाश्च मे, [२७] वायव्यानि च मे, [२८] द्रोणकलशश्च मे, [२९] ग्रावाणश्च मे, [३०] ऽधिषवणे च मे, [३१] पूतभृच्च मे, [३२] आधवनीयश्च मे, [३३] वेदिश्च मे, [३४] बर्हिश्च मे, [३५] ऽवभृथश्च मे, [३६] स्वगाकारश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ३ ॥ (१८।२१)

इति महानुवाकः ॥ ३ ॥

अथ यज्ञक्रतु होमाः ।



अग्निश्च मे, घर्मश्च मे, ऽर्कश्च मे, सूर्य्यश्च मे, प्राणश्च मे, ऽश्वमेधश्च मे, पृथिवी च मे, ऽदितिश्च मे, दितिश्च मे, द्यौश्च मे, ऽङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१॥ (१८।२२)

व्रतञ्च म, ऋतवश्च मे, तपश्च मे, सम्वत्सरश्च मे, ऽहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे वृहद्रथन्तरे च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ (१८।२३)

इति यज्ञक्रत्वनुवाकः ॥ ४ ॥

अथायुग्मस्तोमयुग्मस्तोम होमौ ।

एका च मे तिस्रश्च मे, तिस्रश्च मे पञ्च च मे, पञ्च च मे सप्त च मे, सप्त च मे नव च मे, नव च म एकादश च म, एकादश च मे त्रयोदश च मे, त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे, पञ्चदश च मे सप्तदश च मे, सप्तदश च मे नवदश च मे, नवदश च म एकविंशतिश्च म, एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे, त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे, पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे, सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे, नवविंशतिश्च म एकत्रिंशच्च म, एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ (१८।२४)

चतस्रश्च मे ऽष्टौ च मे, ऽष्टौ च मे द्वादश च मे, द्वादश च मे षोडश च मे, षोडश च मे विंशतिश्च मे, विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे, चतुर्विंशतिश्च मे ऽष्टाविंशतिश्च मे, ऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशतिश्च मे, द्वात्रिंशतिश्च मे षट्त्रिंशच्च मे, षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे, चत्वारिंशच्च मे ऽष्टाचत्वारिंशच्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ (१८।२५)

इति स्तोमानुवाकः ॥ ५ ॥

अथ त्रयो होमः ।



त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे, दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे,
पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे, त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे,
तुर्य्यवाट् च मे तुर्यौं ही च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ (१८।२६)

पष्ठवाट् च मे पष्ठौ ही च म, उक्षा च मे वशा च म, ऋषभश्च मे
वेहच्च मे, ऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे, यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ (१८।२७)

इति वयोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

अथ नामग्राह होमः ।



"वाजाय स्वाहा, प्रसवाय स्वाहा, पिजाय स्वाहा, क्रतवे स्वाहा,
वसवे स्वाहा, हर्पतये स्वाहा, ह्न मुग्धाय स्वाहा, मुग्धाय वैनं
शिनाय स्वाहा, विनंशिन आन्त्यायनाय स्वाहा, न्त्याय भौवनाय
स्वाहा, भुवनस्य पतये स्वाहा, ऽधिपतये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा।
इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां
त्वाऽधिपत्याय ॥ १ ॥ (१८।२८)

इति नामग्रहानुवाकः ॥ ७ ॥

अथ कल्प होमः ।



"आयु र्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पतां, चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां,
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, वाग् यज्ञेन कल्पतां, मनो यज्ञेन कल्पता-
मात्मा यज्ञेन कल्पतां, ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां, ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां,
स्वर्यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ।
स्तोमश्च, यजुश्च, ऋक् च, साम च, बृहच्च, रथन्तरं च ।
स्वर्देवा अगन्मा ऽमृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा ॥ (१८।२९)

इति कल्पानुवाकः ॥ ८ ॥

॥ःः॥ इत्यष्टानुवाका वसोर्धारा होमाः ॥ःः॥

अथ वाजप्रसवीय होमः ।



"वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्मसाविषत् ॥१॥
(१८।३०)

विश्वे अद्यमरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा अवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ॥२॥ (१८।३१)

वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रोवा परावतः ।
वाजो नो विश्वै र्देवै र्धनसाताविहावतु ॥ ३ ॥ (१८।३२)

वाजो नो अद्य प्रसु वाति दानं वाजो देवाँ२॥ ऋतुभिः कल्पयाति ।
वाजो हि मा सर्व वीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥४॥ (१८।३३)

वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति ।
वाजो हि मा सर्व वीरं चकार सर्वा आशा वाजपति र्भवेयम् ॥५॥ (१८।३४)

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्य द्भिरोषधीभिः ।
सो ऽहं वाजं सनेयमग्ने ॥ ६ ॥ (१८।३५)

पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः ।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥ ७ ॥ (१८।३६)

अथ यजमानाभिषेकः ।



देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ॥१॥ (१८।३७)

अथ द्वादशराष्ट्रभृद्धोमः ।



ऋताषाडृत धामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयो ऽप्सरसो मुदो नाम ।
सन इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥ (१८।३८)

संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयो ऽप्सरस आयुवो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥२॥ (१८।३९)
सुषुम्णः सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भे कुरयो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥३॥ (१८।४०)
इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥४॥ (१८।४१)
भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ (१८।४२)
प्रजापति विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक् सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ (१८।४३)

अथ रथशीर्ष होमः ।



स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य त उपरि गृहा यस्य वेह ।
अस्मै ब्रह्मणे ऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा ॥ १ ॥ (१८।४४)

अथ वातहोमः ।



समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ॥ १ ॥
मारुतो ऽसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ॥ २ ॥
अवस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ॥ ३ ॥ (१८।४५)

अथ रुक्मती होमाः ।



यास्ते अग्ने सूर्य्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ १ ॥ (१८।४६)
या वो देवाः सूर्य्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ २ ॥ (१८।४७)
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ ३ ॥ (१८।४८)

अथ वारुणी होमाः ।



तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान स्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेडमानो वरुणे ह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः ॥ १ ॥ (१८।४९)

अथार्काश्वमेधसन्तति होमाः ।



स्वर्ण घर्मः स्वाहा । स्वर्णाऽर्कः स्वाहा । स्वर्ण शुक्रः स्वाहा ।
स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा । स्वर्ण सूर्य्यः स्वाहा ॥ (१८।५०)

अथ परिधिष्वग्नियोजनजपः ।



अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम् ।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपंस्वो रुहाणा अधिनाक मुत्तमम् ॥१॥ (१८।५१)
इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने ।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥ २ ॥
(१८।५२)

इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्यः ।
महान् सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्ते अस्तुमा मा हिंसीः ॥३॥ (१८।५३)

अथ परिधिसन्ध्योरग्निविमोचनं जपः ॥२॥



दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरुर्ग पामोषधीनाम् ।
विश्वायुः शर्म सप्रथा नम स्पथे ॥ १ ॥ (१८।५४)
विश्वस्य मूर्धन्नधितिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायु रपोदत्तो दधिंभिनत्त ।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव ॥ २ ॥ (१८।५५)

अथ समिष्ट यजुर्होमः ।



इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः ।
तस्य न इष्टस्य प्रीतस्य द्रविणे हागमेः ॥ १ ॥ (१८।५६)

इष्टो अग्निराहुतः पिपर्तु न इष्टं हविः ।
स्वगेदं देवेभ्यो नमः ॥ २ ॥ (१८।५७)

अथाष्टौ वैश्वकर्मण होमाः ।

यदाकूतात् समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा ।
तदनुप्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥१॥(१८।५८)
एतं सधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तं स्मजानीत परमे व्योमन् ॥ २ ॥ (१८।५९)
एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य ।
यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै ॥ ३ ॥ (१८।६०)
उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयञ्च ।
अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥४॥ (१८।६१)
येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम् ।
तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ५ ॥ (१८।६२)
प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा ।
ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ६ ॥ (१८।६३)
यद्दत्तं यत्परादानं यत् पूर्तं याश्च दक्षिणाः ।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ७ ॥ (१८।६४)
यत्र धारा अनपेता मधोर्घृतस्य च याः ।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ८ ॥ (१८।६५)

अथ नामकरणम् ।



अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधा तु रजसो विमानो ऽजस्रो घर्मो हवि रस्मि नाम ॥१॥ (१८।६६)
ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि ।
ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि तेषामसि त्वमुत्तमः
प्र नो जीवातवे सुव ॥ २ ॥ (१८।६७)

अथान्ते समृध्युपस्थानं सप्तभिरष्टाभिर्दशभिर्वा ।

(वार्त्रघ्नीभ्याम् । वैमृधीभ्याम् । वैश्वानरीभ्याम् । कामवतीभ्याम् । ऐन्द्राग्नीभ्याम्)



वार्त्र हत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च । इन्द्र त्वावर्तयामसि ॥१॥ (१८।६८)
सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम् ।
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ ॥ २ ॥ (१८।६९)
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ२॥ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ ३ ॥ (१८।७०)
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आजगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्रतिग्मं वि शत्रून् ताढि विमृधो नुदस्व ॥४॥ (१८।७१)
वैश्वानरो न ऊतय आ प्रयातु परावतः । अग्निनः सुष्टुतीरुप ॥५॥ (१८।७२)

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधी राविवेश ।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषस्यातु नक्तम् ॥ ६ ॥
(१८।७३)

अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम् ।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते ॥ ७ ॥ (१८।७४)
वयं ते अद्यररिमा हि काममुत्तान हस्ता नमसोपसद्य ।
यजिष्ठे न मनसा य क्ष देवानस्रे धतामन्मना विप्रो अग्ने ॥८॥ (१८।७५)
धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मादेवो बृहस्पतिः ।
स चेतसो विश्वेदेवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे ॥ ६ ॥ (१८।७६)
त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुतत्मना ॥ १० ॥ (१८।७७)

इत्याग्निचयन मन्त्रसंहिता सम्पूर्णा ।



विद्यावाचस्पतिः श्रीमान् *महार्घ्यमधुसूदनः ।
अग्निग्रन्थं व्यधात्तेन प्रीयतां यज्ञपूरुषः ॥ १ ॥

इति श्रीमधुसूदनविनिर्मिते-यज्ञसरस्वतीग्रन्थे-
अग्निचयनंनाम द्वितीयं काण्डं
॥ सम्पूर्णम् ॥ २ ॥

---

† अतः परं तृतीयं **खिलकाण्ड** तथा चतुर्थ **उपरिकाण्ड** प्रदर्शयिष्यते ।



---

* यस्मिन् वत्सरे ग्रन्थकर्त्ता स्वजन्मना महीमिमाममण्डयत् तस्मिन् वत्सरे मिथिला प्रान्ते महद् भिक्षमासीत, अन्नमति महर्घं जातम्, तेन मातापितरौ तां घटनां स्मृत्वा प्रियशब्दैः मिथिला भाषायाम् (महगू) इति ग्रन्थकर्तारं सम्बोधयतः स्म, तस्यैव मातापितृदत्तस्य नाम्नोऽनुवादः ग्रन्थकर्त्रा महार्घ्य शब्देन कृतः ।

† हन्त ! अनयोः काण्डयोः प्रारम्भात् पूर्वमेव ग्रन्थकर्ता लोकमिममत्यजत् ।

सम्पादक ।

शुद्धि-पत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
५	२५	दृंहस्व	दृंहस्व
७	१	विश्वधायः	विश्व धायाः
८	१६	भूर्भुवर्देव सवितस्त्वां	भूर्भुवः स्वर्देव सवितस्त्वा
८	२३	वाचस्पते	ॐ वाचस्पते
८	२७	भाग परिहरणाद्वा	भागपरिहरणा द्विा
९	६	यजमानं वाचं	यजमानवाचं
९	१२	कर्तृत्वमपहू य	कर्तृत्वमपनीय
१०	५	मुष्टिम्	कुश मुष्टिम्
१०	२०	शालतः	शालातः
१२	२३	आतश्चार्यं	अतश्चार्यं
१२	२५	भागधु	भागधुक्
१४	५	त्र	पवित्रे
१४	१७	तदर्थमेताभ्यामुत्पनति	तदर्थमेताभ्यामुत्पुनाति
१८	२५	प्रतिगृभ्णातु	प्रति गृभ्णातु
२१	६	स्योर्ध्वचितः	स्थोर्ध्वचितः
२१	१३	दिव	दिवं
२६	१६	देवयजनि ओषध्यास्ते	देवयजन्योषध्यास्ते
३०	१	पृथिव्या	पृथिव्यां
३०	२१	तमसा	तमतो
३२	२१	विस्टपो	विसृपो
३४	२६	मे भव यजुपे	मे भव यजुषे यजुषे
३८	३	इद्दम काष्ठ	इध्म काष्ठ
३८	१३	तृणोद्वयं	तृणद्वयं
३८	२४	सव्याशूस्ये	सव्याशून्ये
४२	१२	अग्नेष्ठास्पेन	अग्नेष्ठास्येन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
४३	२७	प्रसवेनामोहामि	प्रसवेनापोह्यामि
४४	२५	चक्षुष्या	चक्षुण्या
४५	११	बृहन्त	बृहन्तः
४६	८	सुखदा	सुषदा
४७	६	रङ्क्ता	रङ्क्तां
४७	७	„	„
४८	७	निर्भक्तौयो	निर्भक्तोयो
५१	१७	रक्षासिवेदिषदः	रक्षासिवेदिषदः
५१	२१	प्रतिमुंचमानाः	प्रतिमुंचमाना
५२	५	भागं पितर आवृषायध्वम्	भाग मावृषायध्वम्
५२	६	यथा भागमवीवृषत्	यथा भागमवृषायिषत्
५४	१४	शोविषे	शोचिषे
५४	१६	यविष्टय	यविष्ठ्य
५४	२१	अग्नेः	अग्ने

५४ ६ समिधाऽग्निं ·················जुहोतन इत्यादि मन्त्रस्य टिप्पणी—
समिधाग्निमित्यारभ्य चत्वारोऽप्ये ते मन्त्र प्रयोगाः शतपथे न सन्ति ।

५५	३	सीमधो	समिधो
५६	१	काचिछक्तिर्वाधाख्या	काचिच्छक्तिर्वाय्वाख्या
५६	३	जीवन हेतोरौष्णस्य	जीवनहेतोरोष्ण्यस्य
५८	६	अथाग्नेयस्तिस्रः	अथाग्नेय्यस्तिस्रः
५८	१५	विश्वं	विभ्वं
५६	६	वपुष्पद	वपुष्युद
५६	२४	श्रुति	श्रुतिः
६०	४	वस्मिन	वरिमन्
६१	१५	भवे	भव
६१	२८	दित्रणाय	दित्राणाय
६२	२	हवमरुष्पाणो	हवमरुष्याणो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
६२	८	नुक्तष्य	नुरुष्य
६३	४	धूर्तिहिंसा	धूर्तिर्हिंसा
६३	६	भयाढ्योषु	भयाढ्येषु
६३	६	गछतां	गच्छतां
६३	१३	नः	न
६३	२३	बुद्धिः	बुद्धीः
६४	१५	जनमगात्वेव	जनमगत्वेव
६४	१५	प्राप	प्राप्य
६४	१७	विश्ववदेस	विश्ववेदस
६५	१०	येथु	येषु
६८	३	नमस्करोतीत्याह्	नमस्करोतीत्याह
६८	१४	रिषस्याहि	रिषस्पाहि
७१	७	वृतौ	वृत्तौ
७१	२५	श्रेयस्करद्	श्रेयसस्करद्
७५	१३	आप	आपः
७५	१४	एताः	एता
७५	२२	घृतने	घृतेन
७५	२३	वहन्ति देवी	प्रवहन्ति देवीः
७६	८	शिवा	शिवां
७६	११	कल्याणी	कल्याणीं
७६	२०	जचुर्मे	चक्षुर्मे
७७	८	रश्छिद्र	रच्छिद्र
७७	१६	वयनीयं	वननीयं
७८	४	पर	परं
७६	२	शिल्पस्थस्ते	शिल्पे स्थस्ते
७६	४	देवतयौः	देवतयोः
८०	२	नोविः	नीविः
८०	७	भुव	भुव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
८०	२७	पठेत	पठेत्
८१	५	वनस्यत्यो	वनस्पत्यो
८१	८	भिष्टपे	भिष्टये
८२	६	प्रजाम	प्रजाम्
८३	१८	देवेषु	देवे च
८४	१६	यन्त्रतशीय	यन्त्रमशीय
८४	२३	वदुध्व	बद्ध्वा
८४	२३	हिरण्यमुद्धृ	हिरण्यमुद्धृत्य
८४	२४	मुक्रमसि	शुक्रमसि
८५	८	पूषाध्वनस्या	पूषाध्वनस्पा
८५	१०	वर्त्तायतु	वर्तयतु
८५	११	चित्तं	चित्त
८५	१३	त्व	त्वं
८६	१५	वस्वस्यदिति	वस्न्यस्यदिति
८६	२१	आदित्यास्त्वा	आदित्यस्त्वा
८७	११	प्रतिगृह्लाति	प्रतिगृह्णाति
८७	१६	रायस्योषेण	रायस्पोषेण
८८	११	ब्रूतात्	ब्रूतात्
८८	२०	क्रीणातिस्वानां	क्रीणातिगच्छतिस्वानां
८८	२३	आस्माकोऽसी	आस्माकोऽसि
८९	५	तरिनन्	तस्मिन्
८९	१८	वध्नाभि	बध्नामि
९०	१६	भवन्तु	भुवन्-
९०	१६	पशुनाक्रिय से	पशुना क्रीयसे
९०	२१	तयो	तपो
९१	१४	वरुण	वारुण
९१	२०	अभेन्द्र	अत्रेन्द्र
९१	२०	अभेन्द्रो	अत्रेन्द्रो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
९३	१४	हृत्सु	हृत्सु
,,	,,	विद्वग्नि	विद्वग्नि
,,	१६	जाठराग्निम्	जठराग्निम्
,,	१७	द्यलोके	द्यु लोके
९४	६	उस्रावतं	उस्रावेतं
९७	११	पदक्षालन	पादक्षालन
९६	५	मदमप्रयुच्छन्	सदमप्रयुच्छन्
१००	२२	प्यायताम्	प्यायताम।
१००	२३	सखीन	सखीन्
१०२	४	हिरण्मया	हिरण्मयी
१०३	१३	पूर्वार्द्धं	पूर्वार्द्धं
१०४	१०	सिह्यसि	सिंह्यसि
,,	११	,,	,,
,,	,,	सुन्धश्च	सुन्धस्व
,,	१२	सिह्यसि	सिंह्यसि
१०५	८	वार	वार्
१०६	२०	अग्नि	अग्नि
१०७	१०	सात्रित्रययर्चा	सावित्र्यर्चा
१०६	१	गाष्ठमा वदतं	गोष्ठमा वदतं
१०६	१८	रुगांय:	रुगाय:
१०६	२३	स्थूण।	स्थूणा
११०	११	स्थरो	स्थूरो
११०	२१	हविर्धानाख्ये	हविर्धानाख्यं
१११	६	श्नप्रे	श्नप्त्रे
११२	५	बाहूभ्यां	बाहुभ्यां
११२	७	दनुष्ठातणां	दनुष्ठातॄणां
११२	११	पदेशान	प्रदेशान्
११२	१४	बृहद्‌वा	बृहद्रवा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
११५	६	स्थः	स्थ
११५	११	यूपावट वद्	यूपावट वद
११५	१३	अश्विनो	ऽश्विनो
११६	२	यवयास्मद्देषो	यवयास्मद्द्वेषो
११७	१	पितणा	पितॄणां
११६	६	अग्नीनां	अग्नीना
१२०	२०	प्रतक्का	प्रतका
१२१	६	बुध्न्य	बुध्न्यः
१२२	१६	द्देपेभ्यो	द्वेषेभ्यो
१२३	१०	भुयिष्ठां	भूयिष्ठां
१२४	११	दमन्	दभन्
१२४	१४	कृष्णजिने	कृष्णाजिने
१२४	१८	नुष्यान्	मनुष्यान्
१२६	३	अत्यभ्यान्	अत्यन्यान्
,,	४	वनस्यते	वनस्पते
१२६	४	चषालमुभयोऽक्तं	चषालमुभयतोऽक्तं
,,	८	अन्तरिक्षं	आन्तरिक्षं
,,	१६	परशं	परमं
१३०	१४	दंहायुर्दंह	दृंहायुर्दंह प्रजां दंह
१३४	१४	रेवती	रेवति
,,	१५	हविषम्	हविषस्
१३६	१३	नाभिते	नाभिंते
,,	,,	ढूमे	मेढ्रं
,,	१४	चरित्रस्ते	चरित्रास्ते
,,	१८	आप्यायताम्	आप्यायताम्
,,	१६	एकशङ्गां	एकशृङ्गां
१३९	१	मारुत	मारुतं
,,	६	नृंतृं	नृतं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
१३६	१२	भिधार्य्यं	भिधार्य्यं
,,	१८	श्रीणात्वापखत्वा	श्रीणारशपस्त्वा
१४०	१८	निदीध्यत्	निदीध्यत
१४१	१२	समुद्र	समुद्रं
१४१	१३	वरूणो	वरुणौ
,,	१६	अग्नि	अग्निं
१४२	१४	दुर्निंत्रिया	दुर्मित्रिया
,,	,,	द्विष्टि य	द्वेष्टि यं
१४४	८	सुर्य्यः	सूर्यः
१४५	१८	ययच्छ	यच्छ
१४६	१५	शस्थमाने	शस्यमाने
१४६	१६	स्वचा	स्रुत्वा
१४७	४	प्रपांनपाद्	अपांनपाद्
१४८	१४	मृहीत्वा	गृहीत्वा
१५०	७	कृध्यघि	कृध्यधि
,,	८	तन्वाख्येय	तन्वाख्येन
,,	१४	चृत्रसुरो	वृत्रतुरो
१५१	४	त्वामभिषुरोमि	त्वामभिषुणोमि
,,	१४	प्रदेशान	प्रदेशात्
१५५	२	लब्धाः	लब्धाः
१५६	३	अशुभ्यां	अंशुभ्यां
१५८	२	माजर्मीत्याह	माज्मीत्याह
१५८	४	हेतोऽसौ	हतोऽसौ
१५६	११	देवेभ्यः	दिवेभ्यः
१६२	२	देवता	देवा
१६३	३	मधु ब्रह्मणो	मधुब्राह्मणो
,,	११	बर्हिषद्	बर्हिषदं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
१६३	१३	माशु	माशुं
१६४	८	दातव्यस्वगवेत्तारं	दादव्यस्वर्गवेत्तारं
,,	२१	देवस्त्वा	देवास्त्वा
१६६	१४	बृहस्यति	बृहस्पति
,,	१६	सोमःक्रियमाणः	क्रियमाणः सोमः
१७०	१५	त्यन्	त्वम्
१७४	६	जातमग्नि	जातमग्निम्
१७५	१६	शत्रशून्या	शत्रुशून्या
,,	१६	द्रप्सः	द्रप्स
,,	१६	अंशुर्प्रा	अंशुर्ग्रा
१८०	५	धा	घा
१८३	८	नान्तो	नाम्नो
,,	१०	षरिचरन्ति	परिचरन्ति
१८४	११	,शुर	शूर
१८५	२	मारयसङ्ग्रामादपनुदस्व	मारयशत्रूनसङ्ग्रामादपनुदस्व
१८५	११	अस्मद्र्यरगू	अस्मद्र्यग्
१८६	४	इन्ट्रो	इन्द्रो
१८६	८	वर्धते	वंधते
,,	६	वस्त्रबद्धं	वस्त्रवद्धं
,,	,,	सुवर्णं	स्वर्णं
,,	११	देव	देवं
१८७	६	प्रमिनन्दन्	प्रभिनन्दन
,,	१०	यूर्वेण	पूर्वेण
,,	११	अभितन्त्रयते	अभिमन्त्रयते
,,	१४	मर्त्या	मूर्त्या
,,	१४	स्वरूपभा	स्वरूपमा
१८६	१३	मह्यमन्त्रं	मह्यमन्त्रं
१६२	२	सेवते	सेवसे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
१६२	८	विवस्वन्तादित्यप	विवस्वन्नादित्यैप
१६३	१७	पुंस्त्वविशिष्टः	पुंस्त्वविशिष्टः
१६३	१८	अथा	अधा
१६४	१	सावित्रहमः	सावित्रमहः
१६४	४	श्वो	श्वी
१६४	१२	यज्ञकर्म्नां	यज्ञकर्मा
१६५	४	सुप्रतिष्ठा	सुप्रतिष्ठानो
१६५	१३	इन्द्रो	इन्द्रो
१६६	१	महते	महतो
,,	२	ब्राह्मण	ब्राह्मणा
,,	३	सथर्द्धयेयम्	समर्द्धयेयम्
१६७	५	ऋकसाममंत्राभ्यां	ऋक्सामंत्राभ्यां
,,	,,	ऋकसामाभ्यां	ऋक्सामाभ्यां
१६६	४	सू रभिर्मघवन्	सूरिभिर्मघवन्
२००	१५	सर्ववीरस्तज्जपस्व	सर्ववीरस्तज्जुपस्व
२०२	५	थअ	अथ
२०४	१०	रिपस्याहि	रिपस्पाहि
२०५	४	गर्भाजरायुणा	गर्भोजरायुणा
,,	८	समुद्रः	सह
,,	१३	यज्ञिया	यज्ञियो
२०६	१६	पिष्टनां	पिपृतां
२०७	११	जात	जातः
२१३	१२	कलश	कलशं
२१६	१२	त्रिष्टपछन्दसं	त्रिष्टुपछन्दसं
२१७	१०	सोम	सोमः
२१७	१४	मेघ्यानामपां	मेघ्यानामपां
,,	१४	,,	,,
,,	१५	,,	,,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२१८	२	पाथोपीहि	पाथोऽपीहि
२१८	११	धरुरो	धरुणो
२१६	७	सोम	साम
२२०	५	सुवारा	सुवीरा
,,	८	थअ	अथ
२२१	२	अन्धा	अन्धो
,,	५	क्रातः	क्रीतः
,,	६	प्राह्यमाणः	प्रोह्यमाणः
,,	,,	आगत	आगतः
,,	६	अंशुषुन्यः	अंशुषुन्युप्तः
,,	१२	सक्तश्रो	सक्तुश्रो
,,	१४	रुद्रा	रुद्रो
,,	१७	पतरो	पितरो
२२२	१०	मप्त्रेण	मन्त्रेण
,,	१५	वापवे	वायवे
,,	१७	स्तक्तु	सक्तु
,,	,,	मवति	भवति
२२३	१५	वीर्य्यैभिर्वीरवमा	वीर्य्यैभिर्वीरतमा
२२४	२	द्रविणमष्ट	द्रविणमष्टु
२२६	६	वाजतेय लक्षणं	वाजपेयलक्षणं
,,	,,	यजमान	यजमानं
,,	१६	सीम्द्राय	सीन्द्राय
,,	,,	गृह्णामि	गृह्णामि
२२७	६	जष्टं	जुष्टं
,,	११	प्रियंतमं	प्रियतमं
२२८	१	संस्थापित	संस्थापितं
,,	१	गच्छन्ति	गच्छन्ति
,,	२	प्रपां	अपां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२२८	३	देवाः	देवा
,,	७	भवतीत्याह	भवन्तीत्याह
,,	१३	मित्याहं	मित्याह
,,	१६	वज्र	वज्रा
,,	१७	वज्रीभुतंन	वज्रीभुतेन
,,	१८	त्रिवाजातं	त्रिधाजातं
२२९	६	प्रतूतिः	प्रतूर्तिः
,,	७	आरोग्ययुष्टि	आरोग्यपुष्टि
,,	११	कुकुद्म	कुकुद्मा
,,	१३	गन्ध ा:	गन्धर्वाः
,,	१३	शप्त शतिः	शप्तविंशतिः
,,	१५	इन्दस्येव	इन्द्रस्येव
,,	१७	वायुरिन्द्रियं	वायुरिन्द्रियं
२३०	१	य	यः
,,	२	परीता	परीतो
,,	४	वाजजिह्वि	वाजजिह्व
,,	४	समेने	समने
२३१	४	नाक–रुहम्	नाकसरुहम्
,,	७	तस्थाश्वारो	तस्थाएवारो
,,	१४	का य ।	कारयत
,,	१७	वाः सत्या	वाः त्ता सत्या
,,	१६	वृहस्पति	वृहस्पविं
२३२	१	मन्त्रजयं	मन्त्रजयं
,,	३	देतस्माच्छन्दान	देतस्माच्छन्ददान
,,	४	भूयस्त्वाथः	भूयस्त्वार्थः
,,	१२	मिमाना	मिमानाः
,,	१३	मर्गान्	मार्गान्
,,	१५	ऋग्द्वयेन	ऋग्द्वयेन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
,,	२०	द्रवतस्तरण्यतु:	द्रवतस्तुरण्यतः
,,	,,	वैरनुवाति	वेरनुवाति
२३३	१४	जम्भयन्तोऽहिं	जम्भयन्तोऽहिं
,,	१६	सनिष्ठ वो	सनिष्यवो
२३४	४	सन्नो	सन्तो
,,	२०	अन्त्याय	आन्त्याय
२३५	३	कल्पत्तान्	कल्पताम्
,,	,,	कल्पत्ताम्	कल्पताम्
,,	१३	आस्त्विन्द्रियमस्मे	अस्त्विन्द्रियमस्मे
२३६	१	यमनौ	यमनो
,,	५	स्रुवेणाहवनीये	स्रुवेणाहवनीये
,,	६	ना	नो
,,	१५	सूर्य्यं	सूर्य्यं
,,	१६	सहनजित्	सहप्रजित्
,,	,,	घनदा	धनदा
२३८	,,	आश्विनौ	अश्विनौ
,,	२०	ताज्जेषम्	तानुज्जेषम्
,,	१४	प्राणदीन्	प्राणादीन्
२४०	८	मृहाणेत्याह	गृहाणेत्याह
२४१	४	धिभक्त	विभक्त
२४२	८	देवसूहवीपि	देवसूहवींषि
२४३	८	रवदिरवर्म्मा	स्वदिरवर्म्मा
२४४	१	आपो	अपो
२४७	७	धीयते	धीयन्ते
,,	१४	जमद्	जगद्
२५०	२	यस्यासु	पात्यासु
,,	५	वर्तते	वर्तन्ते
,,	६	अथ	अप

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२५०	,,	प्णीषणि	ष्णीषणि
,,	६	भचसी	भवसी
,,	६	त्वायायं	त्वाययं
२५३	६	शिशिरावृत	शिशिरावृतु
२५४	१०	पञ्चम्यो	पञ्चभ्यो
,,	१४	पञ्चदशस्तो सम्वन्धिनी	पञ्चदशस्तोमसम्वन्धिनी
,,	१६	५. ५. ३. १. १	५. ३. १. १.
२५५	२	मध्यमोतम	मध्यमोत्तमे
२५६	६	नवतद्वं वा	नवतद्वं शततद्वं वा
२५७	१५	पश्चादवास्थिता	पश्चादवस्थिता
,	१६	चतुर्णां	चतुर्णा
२५८	२	वर्चससा	वर्चसा
,,	२	इन्द्रस्येद्रिन्द्रियेण	इन्द्रस्येन्द्रियेण
,,	३	च्त्रम तिरेध्यति	छत्रमतिरेध्यति
,,	३	दिद्यन्	दिद्यन
,,	५	इन्द्रय्येन्द्रिपाय	इन्द्रस्येन्द्रियाय
,,	१२	ज्येष्ठत्वाय इन्द्रैश्वर्य्याय	ज्येष्ठत्वाय जानराज्यायइन्द्रैश्वर्य्याय
२५९	५	उच्यते	उच्यन्ते
,,	६	पुष्टिश्च	षष्ठिश्च
,,	७	पृष्टात्	पृष्ठ त्
२६२	५	रथम धितिष्ठासि	रथमधितिष्ठसि
,,	१२	हिसीर्मा	हिंसोर्मो
,,	१८	वेदिस्थ:	वेदिस्थः
२६३	१२	रुक्म:	रुक्म
२६४	५	अभ्युपावहरासी	अभ्युपावहरामि
२६४	७	मोत्र वरुणी	मैत्रावरुणी
,,	१५	सुन्वत	सुन्वन्त
२६५	१८	सत्यप्रसव	सत्यप्रसवः

..ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
.६६	१	च प्रत्याह	च तं प्रत्याह
	२	न्द्रोऽसि	इन्द्रोऽसि
	२०	कृता	कृताः
,,	२१	मध्यैमेष्ठयाय	मध्यमेष्ठयाप
२६७	१५	त्वष्ट्रदेवेन	त्वष्टृदेवेन
२६८	१	राजसूयागत	राजसूयगत
२६९	१५	पुत्रामिव	पुत्रमिव
२७०'	५	वरत्तताम्	वरंत्तताम्
२७'	६	मवास्यायां	ममावस्थायां
२७२	२	जातम्य	जातस्य
,,	६	ह्र्सीयस्यः	ह्रसीयस्यः
,,	८	प्रयाजयान्यादिभिः	प्रयाजयाज्यादिभि
,,	९	मारत्तिस्को	मास्तिष्को
,,	४	द्वेवेरग्रा	द्वैवैरग्रा
,,	१८	प्रयोगेवेयर्थ्यात्	प्रयोगवैयर्थ्यात्
२७३	४	धारिणा	धारणा
,,	६	सर्वेयजेत	सर्वैर्यजेत
,,	११	इत्यैक	इत्येक
,,	१४	निपुत्वते	नियुत्यते
,,	१७	सर्वाऽग्निः	सर्वोऽग्निः
२७४	७	श्रथैपु	श्रथैपु
,,	,,	प्रकुत्यपेक्षया	प्रकृत्यपेक्षया
,,	,,	अभिर्धायन्ते	अभिधीयन्ते
,,	१५	माधारयति	माघारयति
,,	२०	कद्वल्यौं	कद्वत्यौ
२७५	५	वभृथभ्यवेयात्	वभृथमभ्यवेयात्
२७६	२	व्रह्मणोऽपि	व्रह्मणोऽपि
२७७	२	चचुर्थे	चतुर्थे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२७७	३	एवं	एव
,,	८	सृदं	मृदं
,,	६	तत्राश्वमभिमन्त्र्याक्रमयाति	तत्राश्वमभिमन्त्र्याक्रमयति
,,	६	ञतक्रमयन्ना	ञुतक्रमयन्ना
,,	२०	चालाभ्यसाम्रि	चालभ्यसाम्रि
२७८	१	सृत्पिण्डो	मृत्पिण्डो
,,	२	पांसु	पांसुं
,,	३	कृष्णाजिन्	कृष्णाजिन
,,	५	मृत्पिण्डमादायोर्ध्वस्तिष्ठति	मृत्पिण्डोमादायोर्ध्वस्तिष्ठति
,,	६	श्वाश्वः	चाश्वः
,,	१२	यजुर्भ्याम्	यजुर्भ्याम्
,,	१६	सयौति	संयौति
२७६	२	मर्तिकानि	मार्तिकानि
,,	४	चन्द्रकाभि	चन्द्रवद्वक्राभि
,,	,,	मपाढा	मषाढां
,,	११	तिर्य्यगृभावे	तिर्य्यग्भावे
,,	१२	द्वपीयसिस्यात्	द्वपीयसीस्यात्
,,	,,	ह्रसीयर्सी	ह्रसीयर्सी
,,	,,	ह्रसीयसी	ह्रसीयसी
२८०	१	कुवन्ति	कुर्वन्ति
,,	२	कुवन्ति	कुर्वन्ति
,,	,,	,,	,,
,,	६	कुवन्ति	कुर्वन्ति
,,	१२	पत्का	पक्त्वा
,,	१८	चटोग्वा	चटोखा
२८१	१	अपर्णोनावच्छाद्य	अपर्णोनावच्छाद्य
,,	४	पर्य्यावत्त्य	पपर्य्यावर्त्त्य
२८१	५	नामाच्छृणन्ति	तामाच्छृणन्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२८२	१२	द्वादशाङ्ला	द्वादशाङ्गुला
२८३	२	अर्द्धचङ्घा	अर्द्धजङ्घा
२८४	११	प्रथनं	प्रथमं
,,	१२	नाभिदघ्नं द्वितीयम्	नाभिदघ्नं द्विपाहस्त्रं द्वितीयम्
,,	,,	द्विपाहस्रे द्विप्रस्तारा श्रितयो	द्विपाहस्त्रं तृतीयम्, द्विपाहस्रे-द्विप्रस्तारा श्रितयो
,,	१५	तूत्तम	तूत्तमा
२८५	३	न ज्यायांस	न ज्यायांसं
,,	४	कार्य्यः	कार्य्याः
,,	१४	अग्निवपनं	अग्निचयनं
,,	१७	कुय्र्थात्	कुर्य्यात्
२८६	२०	पुरस्तादासन्वां	पुरस्तादासन्द्यां
२८७	८	विकृत्यभ्रिमन्त्रण	विकृत्यभिमन्त्रण
,,	६	साशिक्यं	सशिक्यं
,,	१२	प्रत्युद्गृह्ल यात	प्रत्युद्गृह्लीयात
,,	१७	आग्नेप्य	आग्नेय्य
२८८	१०	प्रातरुदिने	प्रातरुदिते
,,	१५	प्रथमोत्तमपोरह्लोर्वि०णुक्रम	प्रथमोतमयोरह्नोर्विष्णुक्रम
२८६	२४	ततोऽग्नि–प्राश्चित्ति	ततोऽग्निप्रायश्चित्ति
२६०	१६	प्रकमः	प्रक्रमः
,,	२२	चातुर्विंशति	चतुर्विंशतिं
२६१	६	व्याख्यात	व्याख्यातः
,,	१३	पक्षिपति	प्रक्षिपति
,,	१६	विंशतिर्कराभिः	विंशतिशार्कराभिः
,,	२०	तत्रौकविंशतीष्टका	तत्रैकविंशतीष्टका
२६२	४	वृहत्य	वृहत्यः
,,	४	चतुर्दिक	चतुर्दिक्
,,	५	प्रतिपधि	प्रतिप्रधि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
२९४	१	षणनवत्यङ्ग्लः	षण्नवत्यङ्गुलः
,,	१२	मधिवदनम	मधिवदनम्
२९६	३	प्रदीर्णपदेशो	प्रदीर्णप्रदेशो
,,	६	रुकास्य	रुक्मस्य
,,	७	तृणापिण्ड	तृणपिण्ड
,,	१२	परावी	पराची
२९७	१	इष्टकाश्चान्तरेणो॑चमसं	इष्टकाचान्तरेणोदचमसं
,,	८	इह	इह
,,	११	रज्जमुभयतस्पाशां कृत्व	रज्जुमुभयतस्पाशां कृत्वा
,,	१७	शङ्कुर्यसंज्ञः	शङ्कुर्यसंज्ञः
२९८	१	शङ्कुर्णसज्ञः	शङ्कुर्णसंज्ञः
,,	६	पातायित्वा	पातयित्वा
,,	२३-२४	विभक्तिभिरन्वक् च विभाजिते	विभक्तिभिरन्वक् च तिर्य्यक् च विभाजिते
,,	२४	नाभेः	तत्र नाभेः
२९९	४	चशावुत्तरः	इशावुत्तरः
३००	५	षरिमृह्यस्थ्येन	परिगृह्यस्थ्येन
,,	,,	प्रेष्यति	प्रैष्य त
३०१	४	तातोत्तरांसाः	तस्योतरांसाः
,,	११	चतुर्भिर्मन्त्रैः	चतुर्भिर्मन्त्रैः
,,	१२	सीनास्तूषर्णीं	सीनास्तूष्णीं
,,	१३	श्रोण्पंसयोः	श्रोण्यंसयोः
,,	१४	पूर्कोत्तर दिशि	पूर्वोत्तरदिशि
३०२	११	नतः	ततः
३०३	२	तिष्टन्नेव	तिष्ठन्नेव
,,	१७	सम्पग्	सम्यग्
,,	२१	प्रह्रियमाणेभ्यो	प्रह्रियमाणेभ्यो
३०४	१४	तत्रस्तम्चे	तत्रस्तम्वे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
३०५	२	त्रिष्टुवूवभ्याम्	त्रिष्टुवूभ्याम्
,,	१६	दुर्वा	दूर्वा
३११	३	णोपघानम्	णोपधानम्
३१२	२	स्पुः	स्युः
३१३	८	र्वद्यन्ते	वद्यन्ते
३१४	१४	आरिंमश्च	अस्मिंश्च
३१७	(तृतीयकोष्ठे)	अर्द्धपद्याः २८ ३ ७	अर्द्धपद्याः २८ ३ ३ ५
३२१	११	अग्नीघ्र	अग्नीध्र
,,	१५	तर्हिं	तर्हि
३२२	३	पश्चिमार्द्धं	पश्चिमार्द्धे
,,	१५	द्वाभ्याम्	द्वाभ्याम्
३२३	२	व्रतभर्द्धं	व्रतमर्द्ध
३२४	६	मञ्चम्याश्चितेः	पञ्चम्याश्चितेः
३२५	५	लिप्तमज्य	लिप्तमाज्य
,,	११	त्रीव	ग्रीव
,,	१३	रभिपिञ्चन्ति	रभिषिञ्चति
,,	१६	षट्र	षट्
,,	२४	ऽभिमुखः	ऽभिमुखः
३२६	१८	परिमएला	परिमण्डला
३२७	१८	यजंपि	यजुंषि
३२८	३	सभानीडा	समा नीडा
३२८	१५	काभयेत	कामयेत
३३०	३	पुञ्जानः	युञ्जानः
,,	१६	साखविदं	सखिविदं
,,	,,	धनाजितं	धनजितं
३३१	५	त्रेष्टुभेन	त्रैष्टुभेन
,,	७	ऽङ्गिरस्वत	ऽङ्गिरस्वत्
,,	६	निचाप्य	निचाय्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
३३२	२	ञेह्यतक्रा	ञेह्यवक्रा
,,	३	व्रीहि	वीहि
,,	६	अग्नीं	अग्निं
,,	८	तङ्गिरस्वद्	मङ्गिरस्वद्
३३४	८	व्यत्रिष्ठमन्त्रे	व्यचिष्ठमन्नै
३३५	७	त्वमोषधी	स्त्वमोषधी
३३६	२	शम च स्यो	शर्म च स्यो
,,	८	दद्यथर्वा	ध्यथर्वा
३३८	३	दृशे	द्दशे
,,	५	सविता	सनिता
,,	,,	र्वांघड्भ	र्वांघद्भि
३३६	२	पाद्यायुपपुरा	पाद्यायुपः पुरा
,,	१०	प्रतीगृभ्भणीत	प्रतिगृभ्णीत
,,	११	ययं	अयं
३४०	३	सुसवस्य	सुहवस्य
,,	५	शिक्तमो	शिवतमो
३४१	७	यथोपस्थ	यथोपस्थे
,,	७	पृथिव्यासि	पृथिव्यसि
,,	११	सुवीर्य्यं	सुवीर्य्यं
३४३	७	जेवानां	देवानां
,,	,,	विश्वदेव्या वती:	विंश्वदेव्यावती:
,,	,,	अङ्गिरस्दधतूखेते	अङ्गिरस्वद्दधतूखे
३४५	५	च्नछ्दन्तु	छ्न्दन्तु
,,	६	च्छ्दन्तु	,,
,,	७	,,	,,
,,	८	आच्छन्दन्त्वा	आछन्दन्त्वा
,,	१२	विज्ञामअग्निं	विज्ञातमग्निं
३४६	६	स्व—स्तय	स्वस्तय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
३४६	९	द्वन्न	दूत्रन्नः
,,	१५	यद्वस्रो	यद्वस्रो
३४७	३	समिधने	समिधाने
,,	६	तस्कराँ	तस्करा
,,	६	मलिम्ब	मलिम्ल
,	१०	कद्येष्ठवायवस्ताँ	कद्येष्वघायवस्ताँ
,,	१५	मूद्वर्चो	मुद्वर्चो
३४८	८	प्रवासीद्भद्रं	प्रसावीद्भद्रं
३४९	१०	ह्रोमिद्धो	ह्रीमिद्धो
३५०	७	भूर्धवस्तिष्ठा	भूर्ध्रुवस्तिष्ठा
,,	८	त्वद्राष्ट्	त्वद्राष्ट्र
३५१	२	वृहत्	वृहत्
,,	५	शुक्रज्योति	शुक्रज्ज्योति
,,	७	तपन्	तपन्न्
,,	१४	परम	परमं
३५२	२	समज्जन्	समञ्जन्
,,	५	वसु	वसुः
,,	७	परायन्	परायन्न्
,,	८	भुमेधा	सुमेधा
,,	६	धूमरुषं	धूममरुपं
,,	१४	उक्थ आभज	उक्थ उक्थ आभज
,,	१७	मिच्छामाना	मिच्छमाना
३५३	२	दुवस्पत	दुवस्यत
३५४	२	य	प्र
,,	१३	पृथिमग्ने	पृथिवीमग्ने
३५५	६	पुयो	युयो
,,	६	पुनर्ब्र म्हणो	पुनर्ब्र ह्मणो
३५६	६	चितः	ततः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
३५७	४	यजत्न	यजत्र
,,	६	जिगास्पच्छा	जिगास्यच्छा
,,	७	दुपतिष्ठन्तु	दुपतिष्ठन्त
,,	८	प्रावणोभिः	प्रावणेभिः
,,	१४	जानन्नग्र	जानन्नग्र
३५८	४	यानावसीदृषन्	योनावसीदृषन्
३५६	११	वोनावभारुषा	योनावभारुखा
३६१	७	सूम्नया	सुम्नया
,,	१२	औषधीः कर्तनास्मे	ओषधीः कर्त्तनास्मै
३६२	४	प्रफव्यञ्च	प्रफर्व्यञ्च
,,	६	औषधीभ्यः	ओषधीभ्यः
,,	८	तमसस्पररय	तमसस्पारस्य

३६५ सजूरब्दो (संवत्सरः)अयवोभिः (मासैः)
सजूरुषा अरुणीभिः (ईषद्रक्तकिरणैः)
सजोषसावश्विनां दंसोभिः (कर्मभिश्चिकित्साभिः)
सजूः सूर एतशेन (अश्वेन)
सजूर्वैश्वानर इडया (पृथिव्या) घृतेन स्वाहा ॥ १ ॥ (७४)
या ओषधीः पूर्वाजाता देवेभ्यस्त्रियुगं (ऋतुभ्यः-वसन्ते,प्रावृषि, शरदि चपुरा)
मनैनु बभ्रुणा महं (पिङ्गलानां) शतं धामानि (शतवर्षाणि) सप्त च
(सप्तशीर्षन् प्राणाः) ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
३६३	१	अम्ब भामानि	अम्ब धामानि
,,	६	पूरुष	पूरुषः
,,	१४	सनिष्पन्ती	सनिष्यन्ती
३६५	२	द्विपदा	द्विपा
,,	५	नाशयित्रो	नाशयित्री
,,	५	बलाशस्पार्श	बलासस्यार्श
,,	१३	स्वोषधे	स्योपधे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
३६६	१०	शुशस्तिर्भिमन्दस्वधातिभिर्हितः	शुशस्तिभिर्मन्दस्वधीतिभिर्हितः
३६७	८	स प्रथस्तमृ	स प्रथस्तमः
,,	१३	कामायं	कामाय
३६८	२	गृह्णाम्यग्ने	गृह्णाम्यग्ने
,,	३	मासु	मामु
३६९	१	पृथिवी मनुयश्च पूर्वः	पृथिवी मनुद्यामिमं च योनिमनु-यश्चपूर्वः
३६९	२	सभानं	समानं
,,	६	वनस्पतीरनु	वनस्पतींरनु
,,	१५	अदब्धः	अदब्धः
३७०	७	पृथिव्या	पृथिव्याः
,,	११	मूर्धनां	मूर्द्धानं
,,	,,	हव्यवाहवम्	हव्यवाहम्
,,	१६	पृथिव्युसि	पृथिव्यसि
३७१	५	ध्रवासीद्	ध्रुवासीद्
,,	७	पुरुपः	परुषः
३७५	३	हिरण्मयो	हिरण्ययो
,,	४	ऋचे त्वा भासे	ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे
,,	८	सहस्नायत्वा	सहस्रायत्वा
,,	१०	समङ्धि	समङ्गधि
,,	११	परिवृङ्धि	परिवृङ्गधि
,,	१३	सा हिंसीः	मा हिंसीः
,,	१४	भुरण्य	भुरण्यु
,,	१५	पर्वाभि	पर्वभि
३७६	२	सहस्री	साहस्री
३८०	५	अवीवृधत्	अवीवृधन्
३८३	१५	यनः	वयः
३८४	२	दित्यवाङ्वयो	आदित्यवाङ्वयो

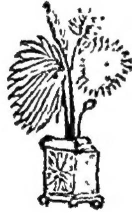
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
३८५	८	ध्रुवासीद्	ध्रुवासीद
३८७	२	आत्मानं पाहि	आत्मानं मे पाहि
,,	८	समाश्छन्दः	समाच्छन्दः
३८८	३	इषेत्वोर्जेत्वा पोषायत्वा	इषेत्वोर्जेत्वारय्यै त्वा पोषाय त्वा
३८६	६	गर्भा	गर्भाः
,,	१४	दृष्टिर्वात स्पृतं	वृष्टिर्वात स्पृत
३९०	२	गर्भा	गर्भाः
,,	१६	सृज्यन्त	सृज्यत
३९३	४	उड्गौ	उद्गौ
३९५	१२	इन्द्रा	इन्द्रो
,,	१६	तिधर्त्ता	विधर्त्ता
३९६	१	ऋषयत्वा	ऋषयस्त्वा
,,	३	यजनानञ्च	यजमानञ्च
,,	१३	ऋपयस्त्वा	ऋषयस्त्वा
३९८	१	नश्च	यश्च
३९९	२	रुक्मसु	रुक्ममु
,,	३	यज्ञिष्ठो	यजिष्ठो
,,	८	सहस्पुत्र	सहस्पुत्र
३९९	९	सम्यञ्चमि	सम्यञ्चमिप
,,	१०	क्षितीनामूर्जी	क्षितीनामूर्जो
४००	२	क्षयो	क्षपो
,,	१६	ओहैं	ओहैः
,,	१७	दक्षसे	दक्षस्य
४०२	१	अरोचथा	अरोचथाः
,,	१०	व्यानाये	व्यानाय
४०३	३	पृश्नय	पृश्नयः
,,	९	व्यस्थाद्	व्यस्थात्
४०४	१	दृंह माहिंसीः	दृंह दिवंमाहिंसीः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
४०५	६	वा	या
,,	८	विभष्यरतवे	विभर्ष्यरतवे
४०६	८	अदृश्रन्नुदहार्य	अदृश्रन्नुदहार्याः
,,	१०	तेभ्योऽकरं	न्तेभ्योऽकरं
,,	२१	नमस्ते	नमस्त
४०७	४	सदमित्वा	सदमित्त्वा
,,	१७	पतीनां	पत्तीनां
४०६	१६	नमः	नमो
४१०	५	मीढुष्ठमाय	मीढुष्टमाय
,,	७	ह्स्वाय	ह्रस्वाय
,,	१२	पूवजाय	पूर्वजाय
,,	२२	श्रतसेनाय	श्रुतसेनाय
४१२	१०	नमः	नमो
४१५	१३	ऊर्क्	ऊर्ग्
४१७	६	रुच	रुरुच
४१८	५	अधिस्नुपु	अधिस्नुषु
४१९	७	तिश्वतस्यात	विश्वतस्पात
,,	६	स्विद्वन	स्विद्वनं
,,	१३	पृथिवी	पृथिवी
,,	१६	शम्भूखसे	शम्भूरवसे
४२१	७	वलविज्ञाय स्थविः	वलविज्ञायः स्थविरः
,,	६	गोविद	गोविदं
,,	१२	प्रयत्सु	प्रयुत्सु
,,	१५	वरुयस्य	वरुणस्य
२१	२१	न्यण्वे	नण्वे
४२३	६	यज्ञे	यज्ञो
,,	१२	प्रवसे	प्रसवे
,,	,,	विद्वान	विद्वान्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
४२४	२	रजसस्या त्यन्तौ	रजसस्पात्यन्तौ
,,	११	न्यस्पताम्	न्यस्यताम्
४२५	२	दिवा	दिवो
,,	६	स्वर्यन्ति	स्वर्यन्तु
,,	१०	अग्नं	अग्ने
,,	१५	जुह्नः	जुह्वानः
४२६	५	सुमिद्धे	समिद्धे
,,	८	वैश्वकीमण	वैश्वकर्मण
,,	११	चित्तं	चित्तिं
४२७	१३	स्वतवश्च प्रवासी च	स्वतवाँश्च प्रघासी च
,	१६	दैवश्च	दैवीश्च
४२८	६	दूर्मिं	दूर्मं
,,	७	यदारत	यदरित
,,	६	शृङ्गा	शृङ्गो
,,	१०	शार्षे	शीर्षे
४३०	२	वारिमा	वारमा
,,	१४	प्रियङ्ग	प्रियङ्गमे
,,	१५	द्रवि	द्रविणं
४३५	४	कल्पन्ताम्	कल्पन्ताम
४३६	५	कल्पां	कल्पताम्
४३७	३	वार्जो	वाजो
४३८	१७	आवस्यूरसि	अवस्युरसि
४४०	५	यतेम	पतेम
,,	,,	सुकृतासु	सुकृतासु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठाः	शुद्धपाठाः
४४०	६	इन्द्रर्दत्त:	इन्दुर्दत्त:
४४१	४	सुकृतासु	सुकृतासु
४४३	२	रिपस्यातु	रिपस्पातु
४४३	७	यच्च	यश्चि

❀ इति ❀



॥श्रीः॥

ग्रन्थ मुद्रण व्यय ।



ग्रंथों के मूल्य में कमीशन के लिये प्रायः हमारे पास ग्राहक गण आग्रह पुरस्सर लिखा करते हैं परन्तु हमने तो प्रारंभ से ही ग्रन्थों का मूल्य प्रचार के उद्देश्य से केवल लागत मात्र का ही रक्खा है, उसमे भी संपादन, संशोधन आदि का कुछ भी व्यय नहीं लगाते हैं क्योंकि यह कार्य तो स्वयं मैं अपना परम कर्तव्य समझकर ही कररहाहूँ ।

उपरोक्त अभिप्राय को लेकर ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय नीचे दिया जाता है।

संपादक ।

	रु—आ—पाइ
कागज सुफेद	८५७-१४-३
आर्ट पेपर और टाइटिल का कागज	८४- २-६
ब्लाक सादा तथा रंगीन	१०९०- ४-०
छपाइ और बाइन्डिंग	९६८- ६-३
	३०००-११-०